MANAV

Vol.12
1984
G. K. V.
HARDWAR

वर्ष-१२ ★ अंक-१-२

जनवरी-जून

१९८४

भारत का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण

विशेषांक
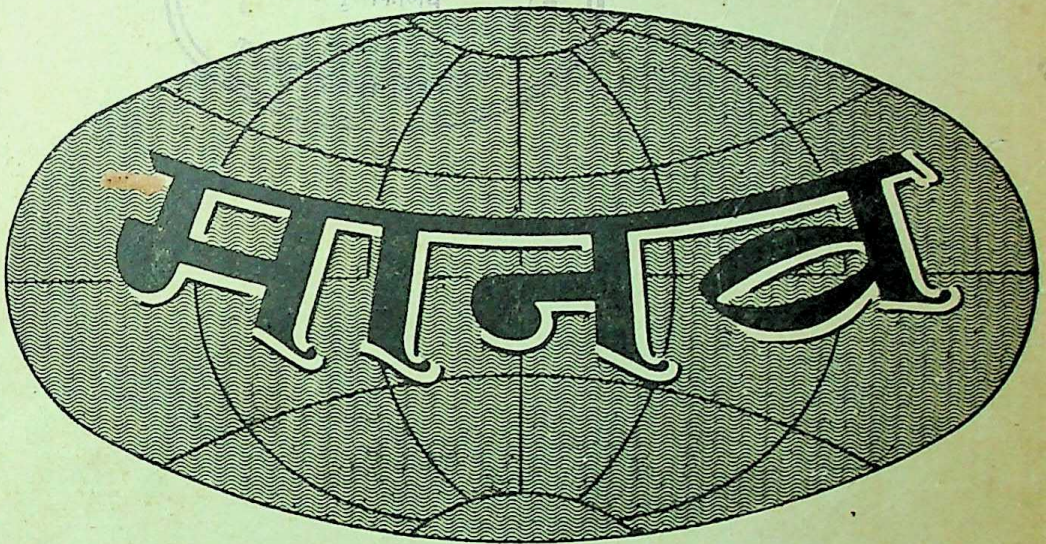
आमंत्रित सम्पादक : डॉ० रघुराज गुप्त

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

मानव

(त्रैमासिक)

प्रकाशक— एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

संपादक— उमाशंकर मिश्र

सह-संपादक— डा० रघुराज गुप्त

प्रबंध संपादक— श्री प्रभात कुमार तिवारी

सहायक-संपादक— डा० नदीमुल हसनैन
श्री ललित किशोर मिश्र

संपादकीय परामर्शदाता— श्री बी० डी० सनवाल
डा० ब्रह्मदेव शर्मा
डा० श्यामा चरण दुबे
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी
श्री हरी सहाय सक्सेना
डा० इन्द्र देव
प्रो० अवधकिशोर शरण

'मानव' में मानव विज्ञान एवं अन्य सम्बन्धित विषयों पर मूल शोध पत्र, प्रामाणिक मूल लेखों के अनुवाद एवं पुस्तक समीक्षायें आदि प्रकाशित होती हैं।

६९२

वर्ष १९८४ के लिये—
वार्षिक शुल्क ४० रु०
(सोसायटी के सदस्यों को अर्ध शुल्क पर प्राप्य)

वर्ष १९८५ से—
वार्षिक शुल्क स्वदेश में ५० रु०
विदेशों में २० डालर अथवा
समकक्ष अन्य विदेशी मुद्रायें
विद्यार्थियों के लिये विशेष सुविधा—२५ रु० वार्षिक

संपर्क सूत्र—
संपादक 'मानव', एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी
पोस्ट बाक्स २०९, ७ ए, रामकृष्ण मार्ग, फैजाबाद रोड, लखनऊ—२२६ ००७

प्रतार मुद्रक, लखनऊ

मानव

त्रैमासिक

वर्ष : १२ जनवरी–जून १९८४ अंक : १–२

इस अंक में

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ की १९८४ की कार्यकारिणी

अध्यक्ष	श्री भैरोंदत्त सन्वाल
उपाध्यक्ष	प्रो० एस० सी० तिवारी, डा० सचिन राय डा० बी० एस० शुक्ला, प्रो० वी० एन० मिश्र प्रो० एस० एन० रथ
अवै० कोषाध्यक्ष	श्री प्रभात कुमार तिवारी
अवै० मंत्री	श्री ब्रजराज किशोर शुक्ल
संयुक्त मन्त्री	डा० डी० पी० वाजपेयी, डा० विजय नारायण
सहायक मन्त्री	डा० ए० एस० तिवारी, डा० सुधा रस्तोगी, डा० मंजू शुक्ला
निर्वाचित सदस्य	प्रो० एल० एस० सिद्धू (पटियाला), प्रो० टी० एस० शर्मा (गौहाटी) डा० आर० के० गुलाटी (देहरादून), डा० जे० एस० भंडारी (दिल्ली), डा० वी० बी० गोस्वामी (नागपुर), डा० जे० के० दोशी (पंत नगर), डा० जे० के० पुण्डीर (मेरठ), डा० बनवीर सिंह (लखनऊ), डा० प्रतिमा भाटिया (लखनऊ), श्री श्रीष चन्द्र (लखनऊ), श्री वी० एस० शुक्ला (लखनऊ), श्री आर० एस० बिष्ट (लखनऊ), डा० रघुराज गुप्त (लखनऊ), डा० अंगने लाल (लखनऊ)
पदेन सदस्य	डा० सुरेश चंद्र वर्मा (सम्पादक–दी ईस्टर्न एन्थ्रोपॉलोजिस्ट) श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–मानव) डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (सम्पादक–इण्डियन जरनल आफ फिजिकल एन्थ्रोपॉलोजी एण्ड ह्यूमैन जेनेटिक्स) श्री एच० एस० सक्सेना (निदेशक–डी० एन० मजूमदार म्यूजियम आफ फोक आर्ट)

मानव प्रबन्ध समिति (बोर्ड) १९८२-८३ के सम्मानित सदस्य

श्री विधु शेखर शुक्ल
श्री श्रीष चन्द्र
श्री हरि सहाय सक्सेना
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
डा० रघुराज गुप्त
श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–पदेन सदस्य)

पूनार मुद्रक, ११७ नजीराबाद, लखनऊ

मानव

त्रैमासिक

वर्ष : १२ | जुलाई–सितम्बर १९८४ | अंक : ३

इस अंक में

आदिवासी स्तम्भ

विद्यार्थी स्तम्भ

पुस्तक समीक्षा

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

की १९८४ की कार्यकारिणी

अध्यक्ष	श्री भैरोंदत्त सन्वाल
उपाध्यक्ष	प्रो० एस० सी० तिवारी, डा० सचिन राय
	डा० बी० एस० शुक्ला, प्रो० वी० एन० मिश्र
	प्रो० एस० एन० रथ
अवै० कोषाध्यक्ष	श्री प्रभात कुमार तिवारी
अवै० मंत्री	श्री ब्रजराज किशोर शुक्ल
संयुक्त मन्त्री	डा० डी० पी० बाजपेयी, डा० विजय नारायण
सहायक मन्त्री	डा० ए० एस० तिवारी, डा० सुधा रस्तोगी, डा० मंजू शुक्ला
निर्वाचित सदस्य	प्रो० एल० एस० सिद्धू (पटियाला), प्रो० टी० एस० शर्मा (गौहाटी) डा० आर० के० गुलाटी (देहरादून), डा० जे० एस० भंडारी (दिल्ली), डा० बी० बी० गोस्वामी (नागपुर), डा० जे० के० दोशी (पंत नगर), डा० जे० के० पुण्डीर (मेरठ), डा० बनवीर सिंह (लखनऊ), डा० प्रतिमा भाटिया (लखनऊ), श्री श्रीष चन्द्र (लखनऊ), श्री वी० एस० शुक्ला (लखनऊ), श्री आर० एस० बिष्ट (लखनऊ), डा० रघुराज गुप्त (लखनऊ), डा० अंगने लाल (लखनऊ)
पदेन सदस्य	डा० सुरेश चंद्र वर्मा (सम्पादक–दी ईस्टर्न एन्थ्रोपॉलोजिस्ट)
	श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–मानव)
	डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल (सम्पादक–इण्डियन जरनल आफ फिजिकल एन्थ्रोपॉलोजी एण्ड ह्यूमैन जेनेटिक्स)
	श्री एच० एस० सक्सेना (निदेशक–डी० एन० मजूमदार म्यूजियम आफ फोक आर्ट)

मानव प्रबन्ध समिति (बोर्ड)
१९८२-८३ के सम्मानित सदस्य

श्री विधु शेखर शुक्ल
श्री श्रीष चन्द्र
श्री हरि सहाय सक्सेना
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
डा० रघुराज गुप्त
श्री उमाशंकर मिश्र (सम्पादक–पदेन सदस्य)

पूनार मुद्रक, ११७ नजीराबाद, लखनऊ

वर्ष–१२ ★ अंक–४

अक्तूबर–दिसम्बर

१९८४

विषय सूची नहीं है

मानव

एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

मानव

(त्रैमासिक)

प्रकाशक— एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी, लखनऊ

संपादक— उमाशंकर मिश्र

सह-संपादक— डा० रघुराज गुप्त

प्रबंध संपादक— श्री प्रभात कुमार तिवारी

सहायक-संपादक— डा० नदीमुल हसनैन
श्री ललित किशोर मिश्र

संपादकीय परामर्शदाता— श्री बी० डी० सनवाल
डा० ब्रह्मदेव शर्मा
डा० श्यामा चरण दुबे
डा० वीरेन्द्र नाथ मिश्र
डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी
श्री हरी सहाय सक्सेना
डा० इन्द्र देव
प्रो० अवधकिशोर शरण

'मानव' में मानव विज्ञान एवं अन्य सम्बन्धित विषयों पर मूल शोध पत्र, प्रामाणिक मूल लेखों के अनुवाद एवं पुस्तक समीक्षायें आदि प्रकाशित होती हैं।

वर्ष १९८४ के लिये—
वार्षिक शुल्क ४० रु०
(सोसायटी के सदस्यों को अर्ध शुल्क पर प्राप्य)

वर्ष १९८५ से—
वार्षिक शुल्क स्वदेश में ५० रु०
विदेशों में २० डालर अथवा
समकक्ष अन्य विदेशी मुद्रायें
विद्यार्थियों के लिये विशेष सुविधा—२५ रु० वार्षिक

संपर्क सूत्र—
संपादक 'मानव', एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसायटी
पोस्ट बाक्स २०९, ७ ए, रामकृष्ण मार्ग, फैजाबाद रोड, लखनऊ—२२६ ००७

पनार मुद्रक, लखनऊ

आर्थिक नीति : एक विकल्प

चरण सिंह

भारत ने १९४७ में गांधी का मार्ग छोड़कर और एक ऐसी आर्थिक नीति अपनाकर बहुत बड़ी गलती की जो पाश्चात्य है, केन्द्रीकरण पर आधारित है और जिसमें लाभ ऊपर से छनकर, टपक-टपककर, नीचे पहुंचने की कल्पना निहित है। आज भी वही नीति चल रही है। शायद भारत की समस्या का हल दोनों– गांधी व नेहरू की—नीतियों का उपयोगी समन्वय खोजकर हो सके। गांधी के विचारों में बड़े पैमाने के या मशीनों पर आधारित ऐसे उद्योग निषिद्ध नहीं जिनका परित्याग कोई भी आधुनिक समाज कर ही नहीं सकता। गांधीवादी नीति का उद्देश्य है बृहत स्तर पर, विकेन्द्रीकरण के आधार पर अधिकतम उत्पादन व संगठन करना और उसके लिए स्थानीय साधनों व योग्यताओं का प्रयोग करना।

आर्थिक क्षेत्र में हमारी असफलता के दो मुख्य कारण हैं : उद्योग व कृषि के बीच वित्तीय साधनों का गलत वितरण, और बड़ी मशीनों का अपनाया जाना व उनका उपयोग। ऐसी स्थिति में हमारे दो ही मुख्य काम हैं : वित्तीय साधनों के बँटवारे को कृषि के पक्ष में बदलना, और जहां तक हो सके बड़ी मशीनों का प्रयोग छोड़ देना। पहले काम का मतलब है ग्रामीण विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करना, और दूसरे का अपने पास उपलब्ध कारकों पर आधारित अर्थव्यवस्था बनाना, जो विदेशी पूंजी व विदेशी प्रौद्योगिकी को छोड़कर आत्मनिर्भरता की ओर बढ़े।

कृषि की उपेक्षा

एक प्रकार से भारत की योजना बनाने वालों का "मूल अपराध" कृषि की उपेक्षा है। कृषि की उपेक्षा का अर्थ था कृषि के अतिरिक्त उत्पाद की ओर ध्यान न देना, अर्थात् खाद्यान्न व कच्चे माल के उत्पाद के बारे मे सोचना बन्द कर देना। पर्याप्त खाद्यान्न का उत्पादन न हो सकने के कारण हमें अभी तक खाद्य पदार्थों के आयात पर ६,००० करोड़ रुपया खर्च करना पड़ा है और खाद्यान्न व कच्चे माल के उत्पादन में कमी की वजह से हम औद्योगिक व अन्य कृषीतर रोजगारों का विकास नही कर पाए हैं। १९५१ में हमारे यहाँ

चरण सिंह, एम० पी०, लोकदल, अध्यक्ष, भारत की आर्थिक समस्याओं के गंभीर अध्येता।

कुल श्रमिकों में से ७२ प्रतिशत खेती में, १० प्रतिशत उद्योग में और १८ प्रतिशत अर्थ व्यवस्था की अन्य शाखाओं में लगे थे। आज भी वही अनुपात चला आ रहा है। जहाँ तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध है हमारा देश सबसे गरीब देशों में से एक है। और इससे भी अधिक चिंता की बात यह है कि आर्थिक संवृद्धि की दर भी हमारे यहां क़रीब-क़रीब सभी से कम है। दुनिया में हमें भिखारी देश कहा जाता है।

दूसरी गलती हमने यह की कि बहुत ऊँची उड़ान ली और राजनीतिक सत्ता पाते ही भारी उद्योग के मोह में फँस गये। गांधीजी चाहते थे कि देश का निर्माण नीचे से शुरू हो और अपने ही संसाधनों से किया जाय—उनकी परिकल्पना में गाँव, कृषि व दस्तकारी विकास की आधार-शिला थे और शहर व ऐसे बड़े उद्योग जिनके बिना काम चल ही नहीं सकता, हो उसका सर्वोच्च शीर्ष हो। हम यह भूल गये कि भारत की अर्थव्यवस्था का विकास या उसकी विशाल जनसंख्या के रहन-सहन के स्तर में उन्नति दो दायरों की सीमा के अंदर ही संभव है—एक दायरा बनता है भारत को उपलब्ध उत्पादन कारकों अथवा भूमि और प्राकृतिक साधनों की कमी व जनसंख्या के निम्न स्तर द्वारा लगी सीमाओं से, और दूसरा दायरा है भारत की राजनीतिक व्यवस्था का जिसमें जनवादी अधिकार एक सीमा के बाद श्रमिक-बल के शोषण का निषेध करते हैं।

इसलिए वर्तमान स्थिति को सुधारा जा सकता है, संसाधनों को उच्च-मध्यवर्गीय क्रय-शक्ति पर आधारित महानगरीय, औद्योगीकृत, पूंजी-प्रधान व केन्द्रित उत्पादन से हटाकर ऐसे कृषि, रोजगार-प्रधान व विकेन्द्रित उत्पादन में लगाकर जो, गांधी के शब्दों में, "न केवल सर्वसाधारण के लिए किया जाता हो बल्कि उनके द्वारा किया जाता हो।"

अधिकतर देशों में कृषि व श्रम-प्रधान उद्योगों का विकास पहले हुआ—गांधीजी भी इसी तरह के विकास की वकालत करते थे—और इससे उन देशों को बहुत लाभ भी हुआ। इस मार्ग की सफलता का सबसे प्रमुख उदाहरण जापान है, और १९६२ के बाद से कम्यूनिस्ट चीन भी इसी रास्ते पर चला जा रहा है (फ़र्क यह है कि चीन में कृषि का सामूहीकरण हो गया है)। यही एक मात्र मार्ग है जिस पर चलकर वह देश, विशेष रूप से भारत, जहाँ श्रम का बाहुल्य है, अपनी बेरोज़गारी व गरीबी की समस्या को हल कर सकते हैं और साथ में ऐसे भारी उद्योगों का निर्माण कर सकते हैं जो उनके यहां होने ही चाहिए।

"भारी उद्योग और विशेषरूप से भारी-मशीन-निर्माण उद्योग आर्थिक विकास का स्रोत व आधार'[1] कभी नहीं रहे हैं। औद्योगीकरण के आरम्भिक दिनों में आर्थिक संवृद्धि का आधार थे कृषि, व्यापार व दस्तकारी। सोवियत संघ व जापान को छोड़कर, हर बड़े औद्योगिक देश में भारी उद्योग उपभोक्ता-वस्तु-उद्योगों के आधार पर व इन उद्योगों की मांग के अनुसार ही बढ़े हैं। यह न केवल अमेरिका, इंग्लैंड व जर्मनी बल्कि फ़्रांस, इटली, कनाडा

---

१. 'स्रोत व आधार' शब्दों का प्रयोग जवाहरलाल नेहरू ने भारी उद्योग के संदर्भ में किया था।

आदि के बारे में भी सही है । रूस व जापान में इसके विपरीत ढंग से विकास हुआ तो उसकी वजह थी ऐसी ऐतिहासिक परिस्थिति जिसे अपवाद मानना चाहिए । रूस में पीटर महान के बाद और जापान में मीजी राजवंश की पुनर्स्थापना के बाद, अधिकतर सरकार ने ही अपने राजनीतिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर औद्योगीकरण को प्रोत्साहन दिया और उसका नियंत्रण किया । दोनों देशों में सामारिक शक्ति के आधार रूप में, न कि अधिक औद्योगीकरण के लिए, भारी उद्योग को प्रोत्साहन दिया गया । दूसरे विश्व युद्ध से पहले रूस में सोवियत-संस्थाओं ने व जापान में सैनिक दल ने उसी नीति का बड़ी निर्ममताके साथ अनुसरण किया ।"[२]

यदि और आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो आर्थिक प्रगति का एक मात्र "स्रोत व आधार" कृषि है, और कुछ नहीं । कोई देश उसी हद तक विकास करता जायगा जिस हद तक उसके यहां खाद्यान्न व कच्चा माल उपलब्ध होंगें । अगर किसान अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न नहीं पैदा करते तो उनके पास बेचने के लिए कुछ नहीं होगा, और वे बेचेंगे नही तो खरीदने के लिए उनके पास साधन नहीं होंगे । इसका मतलब है कि बिना कृषि उत्पादन में वृद्धि के न तो कोई व्यापार चल सकता है न दस्तकारी ।

अगर किसी देश के अंदर अतिरिक्त खाद्यान्न व कच्चा माल उपलब्ध नहीं है या वह देश अपने विनिर्मित माल के बदले में उनका आयात सुनिश्चित नहीं कर सकता, तो उसके रहने वालों के जीवन-स्तर में कोई सुधार नहीं होगा, न उस देश का अर्थिक विकास होगा । इतना ही नहीं, जिस दर से व जिस मात्रा में कोई देश अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त कर सकता है, उसी पर उस देश के औद्योगीकरण की रफ्तार, उसका दायरा व उसका ढंग निर्भर करता है । भारत जैसे देश के हालात में, जहाँ भूमि व मनुष्य का अनुपात बहुत कम है, जहां श्रम का अपेक्षाकृत बाहुल्य है व पूंजी की कमी है, अर्थात मशीनों की अपेक्षा आदमी सस्ते पड़ते हैं, उस देश की अर्थव्यवस्था में हाथ से चलने वाले उद्योगों, दस्तकारी व कुटीर उद्योगों की प्रधानता रहेगी । जब कृषि का उत्पादन बढ़ जाय जिससे खेती से आमदनी बढ़ जाय और विनिर्मित माल की मांग बढ़ जाय तो एक संचयी प्रक्रम आरम्भ होता है, अर्थात अधिकाधिक उद्योग लगने लगते हैं और औद्योगीकरण आय बढ़ने का परिणाम न रहकर उसका कारण बन जाता है ।

क्योंकि मानवीय मांगों में बहुत विभिन्नता है, इसलिए एक के बाद दूसरे उद्योग बनने लगते हैं—यह उद्योग एक-दूसरे के पूरक होते हैं, अर्थात् एक-दूसरे के लिए बाज़ार बनाते हैं व इस प्रकार एक-दूसरे को सहारा देते हैं । अधिकतर उद्योग इसी श्रेणी में आते हैं । इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय बराबर बढ़ती रहती है ।

धीरे-धीरे वह स्थिति आ जाती है जब (विभिन्न प्रकार के उद्योगों व सेवाओं के बन

२. 'इन्डिया : द अवेकनिंग जायंट', हार्पर एन्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९५९, पृ० १७५ ।

जाने से) श्रम की अपेक्षाकृत कमी हो जाती है और पूंजी का बाहुल्य हो जाता है, आदमी सस्ता पड़ने के बजाय मशीनें सस्ती पड़ने लगती हैं । उस मंजिल पर पहुंचकर जहाँ भारत को पहुंचने में बहुत समय लगेगा, अर्थव्यवस्था में मशीनों से चलने वाले उद्योगों को प्रधानता मिलने लगती है । दस्तकारी से मशीन-प्रधान उद्योगों तक, श्रम-प्रधान तकनीकों तक प्रगति का दारोमदार इस पर है कि किस रफ्तार से खेती से अतिरिक्त उत्पादन मिलता है या पूंजी मिलती है–खेती से जितने श्रमिक छुटकारा पाएँ, अर्थात जिनकी खेती में जरूरत न रहे, उनके अनुपात में पूंजी को देखना चाहिए । जिस प्रकार कुटीर व छोटे-स्तर के उद्योग मुख्यतः खाद्य पदार्थ व कच्चे माल के रूप में कृषि के अतिरिक्त उत्पादन के आधार पर बढ़ते हैं वैसे ही मशीनीकृत उद्योग कुटीर व छोटे-स्तर के उद्योगों के आधार पर उनकी मांग को पूरा करने के लिए व अपने को उनकी आवश्कताओं के अनुरूप बनाते हुए बढ़ेंगे । जहां सघन कृषि व्यवस्था हो, वहाँ भारी व बड़े उद्योगों के बनने में समय लगना चाहिए और उनको ऐसी अभिरचना का शिखर-बिंदु होना चाहिए जिसकी आधार रेखाएँ हों कृषि, दस्तकारी व ग्रामीण उद्योग ।

भारत में प्रगति का मापदंड यह नहीं है कि हम कितना इस्पात, या कितने टी० वी० सेट, या कितनी मोटरगाड़ियाँ बना सकते हैं, बल्कि यह है कि हम किस मात्रा में व किस तरह की जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं जैसे खाना, कपड़ा, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि को, उस आदमी तक पहुंचा सकते हैं जिसे गांधी जी 'आखिरी आदमी' कहते थे । भारत में या ऐसी ही स्थितियों वाले किसी भी देश में भारी उद्योग को प्राथमिकता देने का अर्थ है कृषि विकास को कुंठित करना, खाद्य पदार्थों की कमी करना व आयात की हुई भोजन सामग्री पर आश्रित रहना ।

ऐसे बहुत से विकासशील देश हैं जिनको भारत से अधिक प्राकृतिक साधन उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी वहाँ रोजगारों का बाहुल्य है, ग़रीब लोग सम्पत्ति पैदा कर रहे हैं, कम बच्चे मरते हैं और साक्षरता बढ़ती जा रही है । इन देशों की राजनीति का स्वरूप जनतंत्रीय है । उनमें से कुछ के नाम हैं तायवान, इस्राईल, प्योर्टोरिको व मिस्र । फिर भारत क्यों गरीबी व दरिद्रता के गर्त में पड़ा है और आगे नहीं बढ़ पाता ? स्पष्ट है कि हमारी नीतियां गलत हैं और उनको बदलने की जरूरत है जिसका मतलब है कि हमें उन मिथ्या धारणाओं को छोड़ना पड़ेगा जो बहुत दिन से हमारे बीच फैलायी जा रहीं हैं ।

इन मिथ्या धारणाओं में एक-दो का उल्लेख कर दिया जाय तो अच्छा होगा । बहुत लोग विश्वास करते हैं कि बड़े फार्मों में अधिक पैदावार होती है और अधिक लोगों को काम मिलता है जब कि सही बात यह है कि छोटे फार्मों में अधिक पैदावार होती है और अधिक लोग काम करते हैं । छोटे व कुटीर उद्योगों में शहरों में लगे बड़े कारखानों की अपेक्षा, जिनमें नवीनतम मशीनें लगी हों, लागत-पूंजी की प्रति इकाई अधिक उत्पादन होता है और अधिक आदमियों को काम मिलता है । भारत में खेती में भूमि और उद्योग में पूंजी ऐसे कारक हैं जो उत्पादन

को सीमित करते हैं, इसलिए अर्थशास्त्र का नौसिखिया भी यह कहेगा कि उनका अधिकतम उपयोग किया जाय। सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक संवृद्धि का कोई और जनतंत्रीय उपाय नहीं है।

गाँधीवादी दृष्टिकोण का औचित्य

भारत के लिए किस प्रकार की औद्योगिक व्यवस्था मुनासिब होगी, यह इस पर मुनहसिर करता है कि हम चाहते क्या हैं। यदि हमारा उद्देश्य केवल यही है कि प्रति श्रमिक अधिकतम उत्पादन हो, उत्पादन का प्रति व्यक्ति लगी पूंजी से सकारात्मक संबंध हो, तो हमें ऐसी अर्थव्यवस्था चाहिए जिसमें पश्चिमी देशों के ढंग की पूंजी-रचना हो। और, पश्चिमी देशों में बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। लेकिन उत्पादन के बजाय, यदि हम समूची जनता का कल्याण चाहते हैं तो एक ऐसे देश में जहां पूंजी का अभाव हो और श्रम का बाहुल्य, हमें महात्मा गांधी द्वारा बताये गये ढंग की अर्थव्यवस्था से बचने के लिए कोई गुंजायश ही नहीं है। उनके ढंग की अर्थव्यवस्था में आज के हालात में न केवल सम्पत्ति का उत्पादन बढ़ेगा, बल्कि हमारे अन्य उद्देश्य भी पूरे होंगे-अधिकतम रोज़गार उपलब्ध हो सकेगा, राष्ट्रीय उत्पादन का समान-वितरण संभव हो सकेगा और जनतंत्रीय जीवन को बढ़ावा मिलेगा।

तीन प्रकार के उद्योगों में, कुटीर, लघु-स्तर व बड़े स्तर के उद्योगों में श्रम, पूँजी व उत्पाद के सम्बन्ध को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है :

शुद्ध या प्रति श्रमिक उत्पाद जुड़ा मूल्य			शुद्ध उत्पाद या पूंजी की एक इकाई द्वारा जोंड़ा मूल्य			पूंजी की प्रति इकाई पर लगे श्रमिक		
कुटीर	लघु	बड़ा	कुटीर	लघु	बड़ा	कुटीर	लघु	बड़ा
४५	२००	६५०	१.०	०.६०	०.५४	२५	३	१
४५०	२,२५०	४८,०००	९.०	१.५	०.६			
३००	१,५००	९६,०००	६.०	७.५	०.६	३,२००	४	१

इन आँकड़ों से मालूम होता है कि जहां तक प्रति श्रमिक शुद्ध उत्पाद (अर्थात जोड़े गये मूल्य) का प्रश्न है, उसका उद्यम के आकार व तकनीक से एक सकारात्मक संबंध है—अर्थात प्रति श्रमिक उत्पाद उतना ही बढ़ता है जितना आकार, पूंजी-तीव्रता (या प्रति श्रमिक लगी पूंजी) तथा/अथवा प्रौद्योगिकी में सुधार होता है। कुटीर उद्योग में प्रति श्रमिक उत्पाद लघु उद्योग से कम होता है और लघु उद्योग में बड़े अथवा पूँजी-प्रधान उद्योग की अपेक्षा कम होता है। लेकिन निश्चित पूंजी की प्रति इकाई का जोड़े गये मूल्य तथा लगाये गये श्रम के साथ विपरीत संबंध है। अर्थात जैसे-जैसे किसी उद्योग में पूंजी-तीव्रता या प्रति श्रमिक लगी पूंजी बढ़ती है

और प्रौद्योगिकी में सुधार होता है वैसे-वैसे ही उत्पादन कम होता जाता है और काम में लगे श्रमिकों की संख्या कम होती जाती है।

एक प्रकार से योजना आयोग के सांख्यिकी सलाहकार महालनोबीस को हमारे भारी उद्योग कार्यक्रम का निर्माता कहा जा सकता है। उन्होंने एक लेख[३] में निम्नलिखित आँकड़े दिये हैं जो बहुत महत्वपूर्ण हैं :

धंधा जिसमें पूंजी लगी	कितने अतिरिक्त संसाधनों का उत्पादन करती है	कितने व्यक्तियों को रोज़गार देती है
भारी उद्योग	१४ लाख रु०	५००
उपभोक्ता-माल उद्योग	३३ लाख रु०	१,५००
कृषि	५७ से ६९ लाख रु०	४,०००

भारत सरकार के उद्योग विभाग के खादी व ग्रामोद्योग उप-विभाग के काम के सिलसिले में १९७४ में भारत सरकार ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। उसके अनुसार चौथी योजना की अवधि १९६९-७४ में बड़े उद्योगों की अपेक्षा खादी व ग्रामोद्योगों में एक श्रमिक को रोज़गार देने के लिए बहुत कम पूंजी लगाने की ज़रूरत थी—खादी व ग्रामोद्योगों में औसतन ५३० रु० की पूंजी लगाने की ज़रूरत थी, सूती कपड़ा उद्योग में १०,००० रु० और सीमेंट या इस्पात उद्योग में ५ से १० लाख रु०। और १९७४-७५ के उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के अनुसार बड़े उद्योगों के क्षेत्र में कुल मिलाकर एक श्रमिक को रोज़गार देने के लिए २९,६०० रु० की पूँजी लगाने की आवश्यकता थी।

निम्न तालिका में दोनों क्षेत्रों के अर्थात् बड़े व छोटे स्तरीय, ऐसे कारखानों की जिनकी गणना की जाती है, कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं के बारे में तुलनात्मक आँकड़े दिये जा रहे हैं—छोटा-स्तरीय कारखाना वह माना गया है जिसमें मशीनों व प्लांट के लिए कुल मिलाकर ७.५ लाख की लागत लगी हो :

संरचनात्मक संबंध (आकार के अनुसार)—१९७०

उद्योग का प्रकार	बड़ा	छोटा
प्रति फैक्टरी उत्पादक-पूँजी (लाख रु० में)	२०३.१३	१.८९
प्रति एक लाख रु० रोज़गार (संख्या)	३.८०	१९.००
प्रति फैक्टरी रोजगार (संख्या)	७७७.००	३६.००
प्रति फैक्टरी सकल उत्पाद (लाख रु० में)	१६९.९४	५.७३
जोड़ा गया मूल्य	४२.६८	०.९६
प्रति श्रमिक उत्पादक-पूँजी (लाख रु० में)	२६,१३०.००	५,२४०.००

३. 'जर्नल ऑफ इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट,' दिसम्बर १९६५।

प्रति श्रमिक सकल उत्पाद (रु० में)	२१,८६१.००	१५,९१७.००
प्रति श्रमिक जोड़ा गया मूल्य (रु० में)	५,४९०.००	२,६६५.००
जोड़ा गया मूल्य–सकल उत्पाद के मूल्य का प्रतिशत	२५.१	१६.७
उत्पादक-पूँजी व जोड़े गये मूल्य का अनुपात	४.७६	१.९७
उत्पादक-पूँजी व सकल उत्पाद के मूल्य का अनुपात	१.२०	०.३३

नीचे की तालिका में १९६१ में ताइवान में विभिन्न आकार की फैक्टरियों में पूँजी-लागत व श्रम का भाग दिखाया गया है। २,५०० डालर से कम लागत की इकाइयों में पूँजी व उत्पाद का अनुपात उसका आधा है जो २५०,००० डालर से २,५००,००० डालर तक लागत की इकाइयों में होता है। अतः, २,५०० डालर से कम लागत की इकाइयों में श्रमिक की आय का भाग २५०,००० डालर से २,५००,००० डालर तक लागत वाली इकाइयों का दूना है।

फैक्टरी के आकार के आधार पर उत्पादन बढ़ाने की पूँजी-लागत तथा श्रमिक की आय का भाग, ताइवान, १९६१

उद्योग का आकार—लागत पूँजी के अनुसार	१०० डालर का उत्पादन बढ़ाने के लिए लागत-पूँजी	प्रति १.०० डालर आय में श्रम का भाग
२,५०० डालर से कम	१.९७ डालर	७४ सेंट
२,५०० डालर से २५,००० डालर तक	२ ५२ डालर	७२ सेंट
२५,००० डालर से २५०,००० डालर तक	३.२६ डालर	५० सेंट
२५०,००० डालर से २,५००,००० डालर तक	३.६६ डालर	३९ सेंट
२,५००,००० डालर से अधिक	४.४६ डालर	३१ सेंट

(स्रोत : एडगर ओवेंस व रार्बट शॉ : डेवलपमेंट रिकंसिडर्ड, १९७२)

यह स्पष्ट है कि जहाँ तक लागत पूँजी के प्रति इकाई उत्पाद का संबंध है, विनिर्माण उद्योग में कुल मिलाकर बड़े आकार में किफायत होने का सिद्धांत लागू नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वास्तविक जीवन में ऐसा कोई सिद्धांत या नियम नहीं है कि एक उद्योगपति के हाथों में पूँजी का केंद्रीकरण होने से उत्पाद-पूँजी अनुपात भी बढ़ जाता हो, और न इस तरह के विचार के लिए विज्ञान में कोई गुंजायश है। मशीनीकरण व स्वचालन शुरू किये गये थे श्रम की उत्पादकता बढ़ाने के लिए, अर्थात् उत्पाद-श्रमिक अनुपात बढ़ाने के लिए। मशीनीकरण व स्वचालन का उत्पाद-पूँजी अनुपात पर सकारात्मक प्रभाव भी पड़ सकता है और विपरीत प्रभाव भी। प्रौद्योगिकी के विकास से अतिरिक्त पूँजी लगाकर श्रम-प्रधान उद्यमों को तो समाप्त किया जाता है, लेकिन उससे उत्पादन नहीं बढ़ता।

हम पाठ्य पुस्तकों में बड़े आकार में किफायत के सिद्धांत के जो उदाहरण पढ़ते हैं, वे मुख्य रूप से बहुत अधिक औद्योगीकृत देशों के अनुभव पर आधारित होते हैं। भारत में इस सिद्धांत का, जिसका अर्थ है कि जितना बड़ा प्लांट होगा उतनी ही कम प्रति इकाई लागत होगी, कोई उदाहरण मिल सकता है तो इस्पात जैसे पूंजीगत माल पैदा करने वाले उद्योगों में ही। उपभोक्ता उद्योगों में तो इस सिद्धांत का कोई नाम-निशान नहीं मिलता।

यद्यपि आधुनिक मिलें व फैक्टरियाँ बनाने के अर्थ में भारत में औद्योगीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही शुरू हो गया था, लेकिन १९४८-४९ में भारत के कुल उत्पादन में से केवल ६.४ प्रतिशत ही उत्पाद 'फैक्टरी संस्थानों' में हुआ, (अर्थात छोटी-बड़ी फैक्टरियों में जो १९४८-४९ के फैक्टरी कानून के अन्तर्गत आती थीं) और १० प्रतिशत हुआ उन छोटे उद्यमों में जो फैक्टरी नहीं माने जाते थे। २० वर्ष तक बड़े-स्तरीय उद्योग में अंधा-धुन्ध पूंजी लगाने के बाद भी १९६८-६९ में उसका उत्पादन बढ़कर केवल कुल उत्पाद का १०.७% हो सका, लेकिन छोटे उद्यमों का भाग जो फैक्टरी एक्ट में नहीं गिने जाते, घटकर ७% रह गया। (इन दोनों प्रकार के उद्यमों में कितनी-कितनी आय हुई, इसके आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।) कुल मिलाकर सकल राष्ट्रीय आय में विनिर्माण उद्योगों का अंशदान १९४८-४९ में १६.७ प्रतिशत से बढ़कर १९६८-६९ में केवल १७.७ प्रतिशत हो पाया। यद्यपि इसकी बड़ी धूम है कि औद्योगीकरण की वजह से अब दुनिया के औद्योगीकृत देशों में भारत को आठवाँ या नवाँ स्थान मिल गया है, लेकिन भारत के रहन-सहन का स्तर एशिया में लगभग सबसे नीचा है और ३५ करोड़ व्यक्ति हमारे देश में भुखमरी की सीमा-रेखा पर खड़े रहते हैं।

जो लोग भारी या बड़े-स्तरीय आधुनिक उद्योग के मोहजाल में फँसे हैं, उनको विशेष रूप से इस सवाल पर गौर करना चाहिए कि हमारी नीतियों के फलस्वरूप कुटीर धन्धे तो खत्म हो रहे हैं लेकिन १९७३ में छोटी-बड़ी मिलाकर सभी फैक्टरियों में केवल ५५ लाख लोगों को रोज़गार मिला हुआ था, जबकि हर वर्ष हमारे देश में रोज़गार तलाश करने वालों अर्थात् श्रमिक-बल की संख्या ५० लाख बढ़ जाती है। गाँवों में बेरोज़गारी के विभिन्न अनुमान हैं—किसी के अनुसार गाँवों में ९० लाख बेरोज़गार हैं, तो किसी के अनुसार २६० लाख। इस संबंध में कृषि आयोग का यह कथन विचारणीय है कि कृषि से कृषीतर क्षेत्र में श्रमिकों का हस्तांतरण बहुत धीमी रफ्तार से ही होगा। बहुत हुआ तो इस शताब्दी के अन्त तक कृषीतर क्षेत्र कुल श्रमिक-बल अर्थात् कुल रोज़गार लायक व्यक्तियों के ३० प्रतिशत को ही रोज़गार दे पायेगा।

जो लोग यह विश्वास करते हैं कि उद्योग से हमारे बेरोज़गारों व अल्प-रोज़गार वालों की समस्या हल हो जायगी, उनके विचारों की अवास्तविकता इसी से स्पष्ट हो जायगी कि प्रौद्योगिकी के निरंतर विकास के कारण उतना ही माल बनाने के लिए आवश्यक मजदूरों की संख्या में भी निरंतर कमी होती जा रही है। उदाहरण के लिए, १९६१ में हमारे यहाँ की ४४५ सूती कपड़ा मिलों में कपास की ३६,८७,००० गाँठों की खपत होती थी और ७,२२,०००

मज़दूरों को काम मिला हुआ था। १९७१ में सूती कपड़ा मिलों की संख्या तो बढ़कर ६८४ हो गयी, कपास की खपत भी बढ़कर ६२,५१,००० गाँठें हो गयी लेकिन मजदूरों की संख्या बढ़कर केवल ७,६१,००० हो पायी। सूती कपड़ा उद्योग ने अपने मुनाफ़ों को आधुनिक मशीनें लगाने के लिए इस्तेमाल किया है, और इन मशीनों ने मज़दूरों का स्थान ले लिया है। ऐसी प्रवृत्तियाँ सीमेंट, कोयला तथा खदान जैसे उद्योगों में भी नज़र आती हैं।

आगे क्या होने वाला है, यह इस मिसाल से ज़ाहिर होगा कि गुजरात के मेहसाना ज़िले में ७० करोड़ रुपये की लागत से एक उर्वरक फ़ैक्टरी बनी है जिसमें केवल ३५० व्यक्तियों को काम मिला है। और, गुजरात के ही भड़ौच जिले में २५० करोड़ रुपये की लागत से एक उर्वरक फैक्टरी बन रही है जहाँ १९७९ के मध्य में काम शुरू होने पर कुल १,१०० लोगों को काम मिलने का अनुमान था।

औद्योगिक प्रौद्योगिकी की प्रगति के साथ-साथ मानवीय श्रम की उत्पादकता जरूर बढ़ती है परन्तु एक मजदूर को काम देने के लिए पहले से कहीं अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि मजदूर की उत्पादकता इसलिए बढ़ती है कि बहुत अधिक पूंजी लगायी जाती है। इसलिए ऐसी व्यवस्था में जहाँ पूँजी की कमी हो, उन्नत औद्योगिक प्रौद्योगिकी को अस्वीकार करने से कम आदमियों को रोज़गार मिलेगा। जिनको रोज़गार मिलेगा उनकी आय तो पहले से अधिक हो जायगी लेकिन उनकी आय में यह वृद्धि दूसरों की आय खत्म करके होगी। हमारे यहाँ जो स्थिति है। उसमें पूँजी का अभाव है और श्रम न केवल बहुत है बल्कि फालतू है, उसे देखते हुए राष्ट्रीय हित में यह नहीं होगा कि सबसे नयी व बहुत अधिक स्वचालित तथा कीमती मशीनों का प्रयोग किया जाय जिनको पूंजी तो अधिक चाहिए लेकिन श्रम कम। हमारे देश में साफ ज़ाहिर है कि श्रम-प्रधान प्रौद्योगिकी की जरूरत है—ऐसी प्रौद्योगिक कि जिसके लिए एक मजदूर को रखने में कम पूंजी चाहिए। ऐसी प्रौद्योगिकी के प्रयोग से उतनी ही पूंजी में मजदूरों की कहीं अधिक संख्या को काम दिया जा सकेगा। कहने का मतलब यह कि भारत में पंजी ऐसा कारक है जो उत्पादन को सीमित करता है, इसलिए हमारा आर्थिक संगठन ऐसा होना चाहिए जिसमें आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों की अपेक्षा जहाँ श्रम का अभाव है, उत्पाद व पूंजी का अनुपात अधिक हो, न कि उत्पाद व श्रम का अनुपात।

पूंजी-प्रधान उद्यम उन लोगों के लिए हितकर हो सकते हैं जो उनमें काम करते हैं क्योंकि उनको दूसरों से अधिक वेतन मिलेगा। लेकिन सारे देश की दृष्टि से श्रम-प्रधान उद्यम ही अधिक हितकर हैं, विशेष रूप से ऐसे देश में जहाँ पूंजी का अभाव है (ऐसे उद्यमों को कम पूँजी चाहिए), गरीबी अत्यधिक है (ऐसे उद्यम लागत की भी इकाई अधिक उत्पादन करते हैं), और श्रम का बाहुल्य है (ऐसे उद्यमों में अधिक लोगों को रोज़गार मिलता है)। पश्चिमी देशों में सरकारों व अर्थशास्त्रियों के सामने श्रम की उत्पादकता बढ़ाने का सवाल है,

लेकिन हमें तो एक राष्ट्र के नाते पूँजी की उत्पादकता बढ़ाने की चिन्ता होनी चाहिए क्योंकि हमारे पास पूँजी की कमी है, उन्नत देशों की तरह श्रम की कमी नहीं है। हमारे सामने दो रास्ते हैं—एक है पूँजी-प्रधान रास्ता जिस पर चलकर कुछ लोगों की आय अधिक हो सकती है, और दूसरा रास्ता है श्रम-प्रधान जिस पर चलकर सभी को मामूली-सी आय होगी लेकिन वह आय बढ़ती जायगी। इसमें से हमें दूसरा रास्ता चुनना है जो जापान ने भी चुना था।

१९४७ से जिन नीतियों का सरकार ने अनुसरण किया उनके फलस्वरूप इजारेदारियों ने जन्म ले लिया है और असमानताएं बढ़ गयी हैं। एक विशिष्ट विचारधारा ने आर्थिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर दिया है और मजा तो यह कि उससे लाभ उन शक्तियों को ही हुआ जिनका वह विचारधारा दिखावे के लिए विरोध कर रही थी। हमारे यहाँ जान-बूझकर असमानता बढ़ायी गयी क्योंकि आशा यह थी कि बड़ी या पूँजी-प्रधान इकाइयों से उपलब्ध अतिरिक्त आय को अर्थव्यवस्था में फिर से लगाने के लिए जमा कर सकना आसान होगा और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति पैदा हो जायगी कि उन लोगों को भी, जिनका ऐसे उद्योगों की वजह से रोज़गार छिन गया या जिनको इन धन्धों में रोज़गार न मिल सके, काम में खपाया जा सकेगा। यह आशा पूरी नहीं हुई और जैसा कि प्रो० डडले सीयर्स ने बताया है, कभी पूरी नहीं हो पायेगी। खासतौर से भारत के लिए तो कोई वजह नहीं थी कि अपनी अर्थव्यवस्था में यह दोष आने देता क्योंकि उसे तो लम्बे अर्से तक गांधी की शिक्षा का मार्ग-दर्शन उपलब्ध था जो और देशों के सामने नहीं था। संवृद्धि तथा वितरण, सकल राष्ट्रीय आय व सामाजिक न्याय—यह परस्पर विरोधी नहीं थे। दोनों साथ-साथ सम्भव थे।

१९३९ में राजकुमारी अमृत कौर को एक पत्र में गांधीजी ने लिखा था कि "जवाहरलाल की योजनाओं में फिज़ूलखर्ची जरूर होगी लेकिन वह तो किसी चीज़ से संतुष्ट नहीं होंगे जो बड़ी न हो।" नेहरू ने अपनी गलती को समझा, लेकिन बहुत देर में। ११ दिसम्बर १९६३ को लोकसभा में उन्होंने स्वीकार किया कि "योजना से कुछ लोगों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए।"

बेरोजगारी उन्मूलन के उपाय

बेरोज़गारी भारत की सबसे बड़ी शत्रु है। उसका उन्मूलन किया जाना चाहिए, या फिर सभ्य राष्ट्रों के समाज से वह हमारा उन्मूलन कर देगी। बेरोजगारी की समस्या का हल ही गरीबी और आय की व्यापक असमानताओं की समस्याओं के समाधान की कुंजी है। जब श्रमिक को रोज़गार का आश्वासन मिल जाय, यह व्यवस्था हो जाय कि उसे कुछ-न-कुछ अवश्य मिल जायगा, तो गरीबी तथा आय की असमानता भी कम होने लगेगी। इसलिए बेरोजगारी की चुनौती को टाला नहीं जा सकता। किसी सेना के मनोबल का मापदंड यह है कि वह अपने घायल सैनिकों की देखभाल कैसे करती है और उन्हें मैदान में पड़ा न छोड़ने के लिए कितने खतरे उठाती है। उसी प्रकार किसी अर्थनीति या राजनीति की गुणवत्ता का मापदंड यह है कि

वह अपने पीड़ित दुर्बल, बेरोजगार मूक नागरिकों का उद्धार कैसे करती है और उन सभी लोगों को, जो असहाय हैं और जिन्हें दूसरे दिन की रोटी का सहारा नहीं है कैसे राहत पहुँचाती है। उनमें अधिकतर न वोट देते हैं, न यह जानते हैं कि राजनीतिक सिद्धांतों का क्या मतलब है। उनको इतने दिनों से और इतने प्रकार से धोखे दिये जाते रहे हैं कि वे अब यह भी विश्वास नहीं करते कि कोई प्रगति संभव है। भारत में राजनीतिक नेतृत्व की परख अब उसके क्रांतिकारी नारों से नहीं होगी बल्कि इन बेचारों के लिए किये गये काम से होगी।

दुर्भाग्य है कि अभी तक राजनीतिक क्षेत्रों में यह पूरी चेतना नहीं है कि हमारा उद्धार तभी संभव होगा जब हम उन दोषपूर्ण नीतियों में जिनकी वजह से आज की स्थिति उत्पन्न हुई है, आमूल परिवर्तन करेंगे। हम चाहे जितनी सरकारी नौकरियाँ बढ़ा दें, गाँवों में निर्माण कार्य आरंभ कर दें, गंदी बस्तियों की सफाई में लोगों को लगा दें, लेकिन इनमें से कोई भी काम बेरोजगारी के रोग का, जो हमारे राष्ट्र को अंदर से खोखला कर रहा है, न टिकाऊ है, न पूरा इलाज है। कोई भी नीति हो, उसका उद्देश्य यह तो नहीं हो सकता कि चाहे जैसा कार्यक्रम आरम्भ कर दिया जाय, या चाहे जैसा काम लोगों को दिला दिया जाय। किसी भी नीति का उद्देश्य यह होना चाहिए कि लोगों को ऐसा काम मिले जो आर्थिक दृष्टि से उत्पादक हो और उससे रहन-सहन के माक़ूल स्तर के लायक आमदनी हो। काम का अर्थ मुख्य रूप से यह होना चाहिए कि लोगों के लिए अधिक सामान व सेवाओं का उत्पादन हो। यह उद्देश्य नहीं होना चाहिए कि जिन लोगों की जरूरत नहीं है या जिनको कुछ भी नहीं आता सिर्फ उन्हें मजदूरी मिल जाय—यह किया गया तो उससे मुद्रास्फीतिं बढ़ेगी।

हमारे सामने एक विडम्बनापूर्ण स्थिति है। एक तरफ तो दसियों लाख लोग बेरोजगार घूम रहे हैं। दूसरी ओर हमारे यहाँ माल व सेवाओं का अभाव है (क्योंकि लोगों से काम नहीं लिया जाता)। हमारे यहाँ पूँजी व भूमि सीमित है और श्रमिक-बल असीम मालूम होता है। यदि अधिकतम दर पर भी पूँजी लगायी जाय तो भी आने वाले बहुत दिनों तक श्रम की अपेक्षा उसकी कमी रहेगी। ऐसी स्थिति में जहाँ भी हो सके पूंजी के स्थान पर श्रम से काम लिया जाय और किसी भी हालत में किसी ऐसी पूंजी-प्रधान परियोजना को हाथ में न लिया जाय जिसका कोई श्रम-प्रधान विकल्प संभव हो।

ऐसी स्थिति का सामना केवल भारत को ही नहीं करना पड़ रहा है। अधिकतर विकासोन्मुख देश जिन्होंने आर्थिक संवृद्धि का पश्चिमी ढंग अपनाया था लेकिन जिनकी अर्थव्यवस्था सघन कृषि पर निर्भर है, आज अपने को भारत जैसी ही स्थिति में पाते हैं। फिर भी उनमें से तीन-चार को छोड़कर जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है, कोई भी अपनी नीति बदलने के लिए तैयार नहीं है। (गाँवों व शहरों में) असंख्य कृषीतर रोजगार के साधन बनाने व बढ़ाने के लिए कृषि का उत्पादन बढ़ाना (और लोगों की दिमागी आदतों को बदलना) जरूरी है। फिर भी यदि कृषि को उचित प्राथमिकता दी जाय व उसमें आवश्यक पूँजी लगायी

जाय तो कुछ समय के लिए उसमें विनिर्माण उद्योग से अधिक रोज़गार मिल सकता है। तीन मुख्य पर संवंधित क्षेत्र हैं जिनमें बड़े स्तर पर रोजगार के लिए अवसर पैदा किये जा सकते हैं :

१ कृषि जिसमें पशुपालन, देसी खाद बनाना, सफाई तथा गोबर गैस शामिल है;
२ गाँवों में निर्माण कार्य, जैसे सिंचाई परियोजनएं, भूमि संरक्षण, भूमि उद्धार, जंगल लगाना आदि;
३ ग्रामीण व कुटीर उद्योग।

सिंचाई का विस्तार करने से, जंगल लगाने, भूमि का उद्धार करने तथा ऐसे ही ग्रामीण निर्माण कार्य आरम्भ करने से कृषि व वन-विभाग में नये रोजगार के अवसर पैदा होंगे। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की नयी व्यवस्था की गयी है वहाँ अनुमान लगाया गया है कि कृषि में रोजगार के ६० प्रतिशत नये अवसर खुल जाते हैं।

इंडियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च के भूतपूर्व डायरेक्टर एम० एस० स्वामीनाथन ने बताया है कि यदि हम कृषि की ओर उचित ध्यान दें तो आगामी दशक में उसमें चार करोड़ नये लोगों को काम दे सकने की क्षमता है। एक से अधिक फसल पैदा कर उत्पादन में तिगुनी वृद्धि की जा सकती है और एक करोड़ सत्तर लाख गाँव वालों को आगामी तीन वर्ष में काम मिल सकता है। हमारे देश में ७०० लाख हेक्टर भूमि पर साल में एक ही फसल पैदा होती है और इसमें से ३७० लाख हेक्टर भूमि इस परियोजना के अंतर्गत आ सकती है। इसकी कुल लागत १०० करोड़ रुपया होगी। कृषि इंस्टीट्यूट ने यह अनुमान लगाया है कि लागत-पूँजी की इकाई में कृषि में उद्योग की अपेक्षा दसगुना लोगों को रोजगार मिल सकता है।

एफ० ए० ओ० (अंतर्राष्ट्रीय खाद्य एवं कृषि संगठन) द्वारा १९७० में प्रकाशित 'प्रोडक्शन ईयरबुक' के अनुसार १९७१ में कृषि में पिछड़े देशों में १०० एकड़ भूमि पर ३९ व्यक्ति काम करते थे, जबकि कृषि की दृष्टि से उन्नत देशों में बहुत ज्यादा, जैसे जापान में ८७, दक्षिणी कोरिया में ७९, ताईवान में भी ७९ और मिश्र में ७१। ये चार देश दुनिया में छोटे खेतों पर आधारित श्रम-प्रधान कृषि के नमूने हैं। इन चार देशों में अन्य विकासशील देशों की अपेक्षा प्रति एकड़ सबसे अधिक पैदावार, छोटे काश्तकारों को सबसे अधिक आमदनी और कृषि विकास के लिए प्रति एकड़ सबसे कम पूंजी-लागत आती है। यदि हम गहन खेती (इंटेन्सिव कल्टीवेशन) की सफलता के उपयुक्त परिस्थितियाँ पैदा कर दें तो हम न केवल अधिक लोगों को रोजगार दे सकेंगे बल्कि प्रति एकड़ पैदावार भी अधिक कर सकेंगे।

यदि हम वर्तमान तकनीकों में (मशीनीकरण को छोड़कर, अन्य) सुधार कर सकें तो अनुभव बताता है कि श्रम की माँग बढ़ जायगी। उदाहरण के लिए, हाल में प्रौद्योगिकी में हुए सुधारों के लिए जिनको सामूहिक रूप से 'हरित क्रांति' कहा जाता है, भूमि तैयार करने,

बुवाई, छँटाई, बढ़ती फसल की देखभाल करने तथा कटाई के लिए ज्यादा आदमियों की जरूरत होती है। कुछ सुधार तो ऐसे हैं जिनमें खेती से पहले ही अधिक श्रम-लागत की आवश्यकता होगी जैसे सिंचाई की नालियाँ आदि बनाने व उनको अच्छी हालत में रखने के लिए। इस दृष्टि से देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि गाँवों में फैले हुए अल्परोजगार के लिए कुछ हद तक जिम्मेदार कृषि की ऐसी तकनीकें हैं जो पुरानी हो गयी हैं और जिनमें कोई सुधार नहीं किया गया है।

हमें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि यदि हम रोजगार की समस्या को दिल से हल करना चाहते हैं तो कम-से-कम उन क्षेत्रों में जहाँ खेतिहर मजदूरों की अधिकता है, खेती में बड़ी मशीनों के प्रयोग के लिए किसी प्रकार का प्रशासनिक अथवा वित्तीय प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए—न तो इन मशीनों को खरीदने के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए, न सरल व सुगम ऋण की सुविधा और न किराये/किस्तों पर खरीदने की सुविधा दी जानी चाहिए, न इन मशीनों की कीमतों पर नियंत्रण करके उनकी अधिक बिक्री कराना और न कृषि विस्तार सेवाओं द्वारा उनका प्रचार कराना चाहिए—ये मशीनें श्रमिकों को हटाकर उनका काम खुद करती हैं। मशीनीकरण से जोतदार को प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने में (जो भारत में हमारा उद्देश्य होना चाहिए) सहायता नहीं मिलती बल्कि अधिक बड़ी जोत पर नियंत्रण रखने में मदद मिलती है। इसलिए हमारी नीति का मुख्य आधार यह नियम होना चाहिए कि हम आधुनिक प्रौद्योगिकी के उन तत्वों पर बल दें जो श्रमिक का स्थान नहीं लेते–जैसे उन्नत बीज, आधुनिक उर्वरक व कीटाणु-नाशक दवाएँ-तथा पूँजी-निर्माण के उन स्वरूपों को प्रोत्साहन दें जिनमें श्रमिक-बल का अधिक प्रयोग होता है—जैसे भूमि को साफ करना व हमवार बनाना, सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार करना, नालियाँ बनाना और बचाव के लिए बाड़ा आदि बनाना। यदि कृषि का मशीनीकरण करना ही है तो ऐसी मशीनों का प्रयोग करना चाहिए जो—जैसा कि गांधी जी ने कहा था—मानव श्रम की पूरक हों, मनुष्य के श्रम को सुगम बनायें न कि मनुष्य का स्थान स्वयं ले लें। ऐसी ही मशीनें जापान में खेती में प्रयोग की जाती हैं।

हमने सुझाव दिया है कि लोग अधिकाधिक कृषीतर धन्धों में लगें। इससे कोई गलत-फहमी नहीं होनी चाहिए। यह भी सही है कि यदि लोग खेती से संतुष्ट रहे तो वे गरीब बने रहेंगे। इससे हमारा यह मतलब नहीं कि आज जो लोग खेती में लगे हैं उनकी मेहनत का पूरा इस्तेमाल होता है या यह कि अब खेती में रोजगार की गुंजायश नहीं, न यह कि आज जैसी स्थिति में भी जब हमारे देश में कृषीतर रोज़गार नहीं मिलता (उसकी वजह चाहे जो हो) बेरोजगार अथवा अल्परोजगार वाले खेती में न लगे रहें। लेकिन आर्थिक जीवन के कुछ ठोस तथ्य हैं जिनके बारे में कोई विवाद नहीं है। वे तथ्य यह हैं, कि लगभग हर देश में कृषि से होने वाली प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा कृषीतर धन्धों से होने वाली औसत-प्रति व्यक्ति आमदनी ज्यादा होती है, और लोगों के रहन-सहन का स्तर तभी बढ़ता है–भारत जैसे सघन

खेती के देश में (जहां भूमि-मनुष्य अनुपात बहुत कम हो) तभी बढ़ सकता है—जब खेतिहर मजदूर कृषीतर धंधों में स्थानांतरित हो जाएं। लेकिन विडम्बना यह है कि कृषिगत समृद्धि (अर्थात् कृषि की उत्पादकता में वृद्धि) के बिना लोग खेती से हटकर कृषीतर धंधों में नहीं जा सकते। कृषि में रोजगार की कमी से एक प्रकार से कृषि को हानि होगी, लेकिन सारे समाज की सम्पन्नता के लिए यह कमी दीर्घकाल में कल्याणकारी ही होगी। कृषि की उत्पादकता में वृद्धि के साथ-साथ उसकी पैदावार के उपभोग पर प्रकृति द्वारा लगी दूरगामी पाबंदियों से खेतिहर मजदूरों की संख्या में तीव्र एवं समान गति से कमी होगी।

टाइम्स ऑफ इण्डिया (नई दिल्ली) ने एक सम्पादकीय लेख में (२१ अक्तूबर १९७५) पिछले नौ वर्षों में संगठित उद्योग में रोज़गार में वृद्धि न होने पर टिप्पणी करते हुए लिखा था :—

"ऐसी स्थिति के लिए कुछ हद तक इस बात को दोष दिया जा सकता है कि पिछले तीन दशकों में जो उपभोक्ता उद्योग स्थापित हुए हैं वे सभी श्रमिकों को विस्थापित करने वाले हैं। जूता बनाने के कारखाने, रोटी बनाने के मशीनीकृत कारखाने, खाना पकाने के बर्तन बनाने वाले कारखाने, मशीनों से ईंट बनाने वाली भट्टियाँ, सूती कपड़ा रंगने व छापने वाली मिलें तथा ऐसे ही धन्धों ने लाखों जूता बनाने वालों, कुम्हारों, ईंट बनाने वालों, कपड़े की छपाई करने वालों आदि को बेरोजगार बना दिया है। अभी तक यह धन्धे बिलकुल खत्म नहीं हुए हैं। इसलिए अभी सरकार के लिए यह संभव है कि उनका पुनरुत्थान करके दसियों लाख आदमियों को रोजगार दे दे। इसके लिए सिर्फ यह करना होगा कि सम्बन्धित बड़े स्तरीय धंधों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए या उनके उत्पादन पर भारी कर लगा दिये जाएँ।"

विकेंद्रित व कम गहन (कम इंटेंसिव) धंधों के लाभ वित्तीय दृष्टि से इतने कम हैं कि खुले बाजार में उनके उत्पाद उत्तम व आधुनिक प्रौद्योगिकी वाले उद्योगों के उत्पाद के मुकाबले में टिक नहीं सकते। इसलिए श्रम-प्रधान धंधे तभी जीवित रह सकते हैं या उनका पुनरुत्थान किया जा सकता है जब उन्हें कानून द्वारा संरक्षण प्रदान करके बड़े स्वचालित उद्योगों के आक्रमण से बचाया जाय। हम अगर सचमुच कुछ करना चाहते हैं तो कानून बनाकर तय करना होगा कि कौन उद्योग किस प्रकार का (बड़ा या छोटे स्तर का) उत्पादन कर सकता है। ऐसी सेवाएं व माल पैदा करने के लिए, जो कुटीर अथवा लघु उद्योग पैदा कर सकते हैं, भविष्य में किसी बड़े या मझोले स्तर के उद्यम को इजाजत नहीं दी जायगी। ऐसी सेवाओं व माल के उत्पादन के लिए जो कुटीर उद्योग पैदा कर सकते हैं, किसी लघु उद्योग को भी इजाजत नहीं दी जाय। इसका मतलब है कि आज जो मिलें व कारखाने (मिसाल के लिए सूती कपड़ा मिलें) ऐसा माल बना रहे हैं जिसका उत्पादन छोटे व कुटीर उद्योगों द्वारा किया जा सकता हो, उनको अपने उत्पाद देश में बेचने की इजाजत नहीं होगी। वे उसे निर्यात कर सकते हैं। इस निर्देश पर तुरंत कार्य नहीं हो सकता, तो धीरे-धीरे किया जाय। उन उद्योगों

को (जिन्हें अपना माल देश में बेचने की इजाज़त नहीं होगी) विदेशी मंडियों में अन्य देशों के माल के साथ प्रतियोगिता में सरकार भरसक सहायता देगी। यदि वे प्रतियोगिता में टिक न सके तो उन्हें अपना धंधा बंद करना होगा लेकिन घरेलू मंडी ऐसे माल के लिए छोटे व कुटीर उद्योगों के लिए ही सुरक्षित रहे।

जो इस सुझाव के आलोचक हों हम उन्हें बताना चाहेंगे कि ऐसे उन्नत प्रौद्योगिकी वाले उद्योग भी, जैसे इस्पात, चीनी या सीमेंट तभी चल पाते हैं जब सरकार विदेशी प्रतियोगिता से उनको अपनी कर नीतियों द्वारा व अन्य उपायों से संरक्षण प्रदान करती है। एल्यूमिनियम उद्योग को सस्ती बिजली दी जाती है, उसे प्रति इकाई २ से ४ पैसे तक देने हैं जबकि एक गरीब किसान को इसका ५ से ६ गुना अधिक देना होता है। राज्यों के औद्योगिक विकास बोर्ड उद्योगों को अपने यहाँ ले जाने के लिए तरह तरह के प्रलोभन देते हैं—मुफ्त जमीनें, सरल ऋण, करों में छूट, सस्ती बिजली, रेल से माल उतारने-चढ़ाने के लिए प्लेटफार्म, स्कूल व स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएँ इत्यादि। घाटे की सूती कपड़ा मिलों में हर वर्ष ५० करोड़ रुपये से अधिक लगाया जाता है जो बेकार जाता है। ऐसे उदाहरणों का अन्त नहीं जिनसे मालूम होता है कि किस-किस प्रकार से खुले रूप में अथवा छुपे ढंग से सरकार बड़े-स्तर के उद्योगों को सहायता देती है—और कहती है कि यह जनहित में किया जा रहा है।

यह पूछना वाजिब होगा कि क्या उस समय तक जब तक सभी बेरोज़गार लोगों को काम मिल जाता, भारत को ऐसे उद्योग लगाने चाहिए थे—या अब जबकि हालत और खराब हो गयी है, लगाते रहना चाहिए—जिनमें अधिक पूँजी लगाने की जरूरत हो और जिनसे प्रति व्यक्ति अधिक उत्पादकता बढ़ती हो ? हम अंग्रेजों से यह आशा नहीं करते थे कि वे हमारी समस्याओं को अच्छी तरह समझेंगे—उनके जमाने में ही हमारे देश में पूँजी-प्रधान उद्योग लगाना शुरू हुए। लेकिन अफसोस यह है कि बेरोज़गारी इतनी बढ़ गयी है कि डर लगने लगा है, फिर भी (बड़ी स्वचालित इकाइयों द्वारा) प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ाना हमारे देश में इतना लोकप्रिय है।

हमारे उपरोक्त सुझाव में सामाजिक न्याय (व रोज़गार) की माँगों तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद बढ़ाने की आवश्यकता का समन्वय किया गया है। कृषि की तरह विनिर्माण उद्योग में भी अधिकतम उत्पादन व अधिकतम रोज़गार परस्पर विरोधी लक्ष्य नहीं हैं। और फिर बेरोज़गारी कम करने से उपभोग का स्तर ऊँचा उठता है, खासतौर पर उन लोगों के उपभोग का जिनको ऊपर उठाने की सबसे ज्यादा जरूरत है।

उचित तकनीक चुनने की आवश्यकता पर बल देने में हमें प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, डडले सीयर्स का समर्थन प्राप्त है। उनका कहना है कि कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में ऐसी नीतियों पर चलना चाहिए जो रोज़गार बढ़ा सकें—पहले तो यह तय करने में मदद करके

कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और फिर यह तय करने में मदद करके कि उनका उत्पादन कैसे किया जाए। उनका मत है कि उत्पादनकर्त्ता को उत्पादन के ऐसे तरीके अपनाने के लिए, जिनमें श्रम-प्रधान तकनीकों का प्रयोग किया जाय, यह इंतज़ाम करके राज़ी किया जा सकता है कि श्रम व पूंजी के तुलनात्मक मूल्य उनकी उपलब्धि की स्थिति पर पूरी तरह से आधारित हों। परन्तु ताइवान, मिस्र, कोरिया व यूगोस्लाविया जैसे कुछ देशों को छोड़-कर भारत की तरह के अन्य विकासोन्मुख देशों ने पूंजी-प्रधान और श्रम-बचत वाले ढंग से विकास करना पसंद किया है जिसका नतीजा है कि वे ऐसी नीतियों पर काम करते हैं जो श्रम को महंगा बनाती हैं व पूंजी को सस्ता, हालाँकि वहाँ श्रम की अधिकता है और पूंजी की कमी।

१९७२ में आर्थिक विषय पर लिखने वाले पत्रकारों की एक विचार गोष्ठी के समक्ष भाषण देते हुए अमरीकी विकास-अर्थशास्त्री एडगर ओवेन्स ने इस प्रक्रिया की ओर निम्न-लिखित शब्दों में ध्यान आकर्षित किया था :

"आमतौर से यह कहा जा सकता है कि विकासशील देशों में बढ़ते हुए उत्पादन की-या तकनीकी भाषा में पूंजी-उत्पाद अनुपात की --पूंजी-लागत कम होनी चाहिए। कुछ तो यह इसलिए होना चाहिए कि पूंजी की कमी है, कुछ इसलिए कि वह प्रौद्योगिकी अपेक्षाकृत कम दाम की व आसान होती है जिसके द्वारा लोगों को आज से अधिक उत्पादन करने में मदद मिले।"

"धनवान देशों में उत्पादन बढ़ाने की पूँजी-लागत कहीं अधिक होनी चाहिए क्योंकि अति उन्नत प्रौद्योगिकी महँगी होती है। इसलिए श्रम-प्रधान, पूंजी-बचाव व छोटे उत्पादकों वाले ताइवान व कोरिया जैसे देशों में पूंजी-लागत कम होनी चाहिए, जापान व इस्राईल जैसी धनी अर्थव्यवस्थाओं में पूंजी-लागत कुछ अधिक होनी चाहिए तथा पूँजी-लागत सबसे अधिक होनी चाहिए, पूंजी-प्रधान, श्रम-बचाव, बड़े-उत्पादक पश्चिमी देशों में।"

आज हमारे देश में अत्यधिक लागत के पूँजी-प्रधान उद्योग लग रहे हैं जो शहरों के विशिष्ट समाज की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं या अपना माल मामूली दाम पर निर्यात कर देते हैं। जब तक इस प्रकार के आर्थिक विकास के साथ हम बंधे रहेंगे तब तक न केवल बेरोजगारी बढ़ती रहेगी, पूंजी कुछ हाथों में केन्द्रित होती रहेगी, हमारा देश सम्पन्न देशों का बंधक बना रहेगा बल्कि खतरा यह है कि उसके पराधीन बंधन और मजबूत होते जाएंगे। इस बंधक बने रहने की स्थिति से बचने, दूसरे शब्दों में वित्तीय व तकनीकी आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने, का एक मात्र व एक ही सही रास्ता यह है कि औद्योगीकरण के इन तरीकों से अपना नाता तोड़कर हम गांधी के रास्ते पर चलें—यह जरूर है कि गांधी की शिक्षाओं को आज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनाना होगा। गांधी के मार्ग का तकाजा है कि उप-भोक्ता वस्तुओं, जैसे जूते, कपड़ा या साबुन का, मशीनों द्वारा उत्पादन निषिद्ध कर दिया जाय

और मशीनों का स्थान कुटीर उद्योग ले लें; रासायनिक उर्वरकों का स्थान यथासंभव जैव खाद स्वीकारें; शहरों का इस प्रकार नियोजन किया जाए कि बिजली द्वारा चालित परिवहन की आवश्यकता कम-से-कम हो जाए; और शहरों में मकान बनाने के लिए इस तरह के नियम हों कि रईस व गरीब, सभी सस्ती व छोटी घनी बस्तियां बनाने के लिए विवश हों जिनमें ऐसा स्थानीय माल इस्तेमाल हो जो कम दाम में मिल सके जैसे बाँस, गारा, ईंटें व खपरैल।

जब तक लोगों को पूरी तरह रोजगार न मिल जाए मशीनीकरण से बचना चाहिए। रहने के मकान या कार्यालयों के लिए इमारतें, सड़कें, पुल, रेलवे लाइन, सिंचाई के बाँध व तालाब आदि बनाने में मशीनों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इसलिए पूर्व-रचित (प्री-फैब) मकानों की फैक्ट्रियों और जमीन की खुदाई करने वाली या मिट्टी हटाने वाली बड़ी मशीनों के प्रयोग को खत्म करना होगा। कम्प्यूटरों, स्वचालित धुलाई की मशीनों, स्वचालित टेलीफूनों, मशीन से चलने वाले रोटी बनाने के कारखानों को, जिन्हें शासन ने देश-भर में लगाया था, भी नहीं चलने दिया जाना चाहिए। उनकी जगह पुराने तरीके इस्तेमाल किये जाएं जिनसे ज्यादा लोगों को काम मिलता था। जहां तक कृषि का संबंध है, केवल छोटी मशीनों को इस्तेमाल किया जाए, जैसी जापान में चलती हैं और जो मानव श्रम की सहायक होंगी, न कि जो उसका स्थान ले लें।

भारत जैसे देश में जहाँ बेरोजगारी इतनी व्यापक है, आर्थिक दृष्टि से यह लाभदायक है कि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उत्पादकता व रोजगार को एक साथ बढ़ाया जाए (अर्थात् प्रति श्रमिक उत्पादकता बढ़ायी जाए), न कि बिना रोजगार बढ़ाये ही उत्पादकता बढ़ा दी जाए। इसलिए अर्थव्यवस्था के मशीनीकरण को उस समय तक हतोत्साहित किया जाए जब तक कि वे सभी लोग जो आज बेरोजगार हैं, पूरी तरह काम से न लग जाएँ। जब तक पूरे रोजगार की स्थिति न आ जाए तब तक जहाँ कहीं हमारे सामने यह सवाल आये कि हम या तो अधिक श्रमिकों को लगाने वाली तकनीकों को पसंद कर सकते हैं या कम मजदूरों को लगाने वाली को, लेकिन उत्पादन दोनों से बराबर होता हो, तो हम पहली को पसंद करेंगे, सिवाय ऐसे अपवादों को छोड़कर जहाँ कि राष्ट्रीय हितों का प्रश्न हो।

धर्मनिरपेक्ष राज्य में धार्मिक अल्पसंख्यक : मुसलमान और सिक्ख

रघुराज गुप्त

भारत में विभिन्न धर्म समूहों के बीच सांप्रदायिक मनमुटाव, मुख्यतः हिंदू-मुसलमानों और हाल ही में हिंदुओं-सिक्खों के बीच तनाव, खींचतान, संघर्ष, मारकाट, लूटखसोट, प्रति-द्वंदिता, ईर्ष्या, घृणा, हिंसा और फिर संपर्क, संबंध, मेलजोल, मुहब्बत, भाईचारा, सहयोग, भिन्न संप्रदायों, भिन्न धर्मावलंबियों के बीच जो सदियों से एक साथ रहते, काम करते, मरते-खपते, शोषण सहते चले आ रहे हैं, कोई नई और एकदम अनोखी चीज नहीं है।

जहां भी दो या उससे अधिक मानव समूह पड़ोसी, मालिक-मजदूर, राजा-प्रजा, संरक्षक आश्रित, विजेता और पराजित के रूप में रहते हैं, वहां मानवशास्त्र की भाषा में सांस्कृतिक संपर्क, परसंस्कृति-ग्रहण, सांस्कृतिक टकराव, सामाजिक सामुख्य, सहयोग, संघर्ष, समायोजन, समअवस्थापन, सात्मीकरण, पृथक्करण, अलगाव जैसी सामाजिक प्रक्रियाएं होना स्वाभाविक है।

भारतीय इतिहास में ही आर्य और अनार्य, संस्कृत-भाषी और द्रविड़, ब्राह्मण और शूद्र, द्विज और अंत्यज, गरीब और अमीर, जमींदार और बेजमीन खेतिहर मजदूर, हिंदू, सिक्ख, क्रिश्चियन, बौद्ध, जैन, आर्यसमाजी और सनातनी और स्वयं मुसलमानों में शिया और सुन्नी, कादियानी और सिक्खों में सहजधारी, नामधारी, निरंकारी; फिर भाषा समूह के आधार पर हिंदी और अंग्रेजी-भाषी या प्रेमी, बंगाली, असमी, उड़िया, और गंगा दोआब में ही एक-ही बोली बोलने वाले, पर उसे भिन्न कह कर पुकारने और समझने वाले तथाकथित हिंदी और उर्दू-भाषी लोगों की तकरार क्या सांप्रदायिकता से परे है ? क्या इसके पीछे कहीं सांप्रदायिक, संकीर्ण मनोवृत्ति नहीं है, जो पृथक्करण और संदेह, परपीड़न, असुरक्षा एवं हिंसा में परि-लक्षित होती है।

अज्ञान और असहिष्णुता, उदारता और करुणा का अभाव, क्रूरता की वकालत ही क्या सांप्रदायिकता के विष वृक्ष के बीज नहीं हैं ? इन बीजों को बोने में धर्मांध, अनुदार, स्वार्थी,

रघुराज गुप्त, मानवशास्त्री, प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट, लखनऊ।

मानवीयता-रहित सांप्रदायिक संरक्षकों, स्वयं-सेवकों, स्वार्थ-साधकों और तथाकथित स्व-संप्रदाय हितचिंतकों का क्या कम हाथ है ?

मुरादाबाद, अलीगढ़, मेरठ, फिरोजाबाद, संभल, अहमदाबाद, भिवंडी, जमशेदपुर और राउरकेला के हिंदू-मुसलमान के बीच, हाल के पंजाब हरियाणा के हिंदू-सिक्ख दंगों और तनाव ने भारतीय सांप्रदायिक संघर्ष के इतिहास में कुछ नए अध्याय जोड़ दिए हैं ।

हिंदू-मुसलमान सांप्रदायिकता

हिंदू-मुसलमान संघर्ष को समझने के लिए पहली शर्त इस्लाम और मुसलमानों को समझना है । भारत में मौजूद लगभग नौ करोड़ मुसलमानों का क्या मूल है ? उसका कब और कैसे और किस प्रकार का संपर्क हिंदुओं से हुआ, यह जनना जरूरी है । हिंदू स्वयं क्या हैं जो मुसलमान के संपर्क में आते ही उद्विग्न और अपवित्र हो जाते हैं ?

हिंदुस्तानी अर्थात् भारत के मुसलमानों में भी मुख्यतः दो वर्ण और हिंदुओं की भांति नाना जाति समूह हैं । भारत में मुसलमानों के पूर्वज इस्लाम धर्म के आविर्भाव, यानी सातवीं सदी हिजरी सन् से पहले अरब और ईरानी विद्या-व्यसनियों और व्यापारियों के रूप में आते रहे, विशेषकर केरल तट और सिंधु देश में । और जेदावस्ता के ईरानी वैदिक-वंशियों ने ही सिंधुवासियों को हिंदू नाम दिया । इससे पहले भारतवासियों का कोई निश्चित नाम न था । पारसियों द्वारा प्रदत्त 'सिंधु' जिसका उच्चारण वे 'हिंदू' करते थे खूब चला और आज इसी विदेशियों द्वारा रखे नाम पर एक धर्म विशेष के अनुयायियों को 'हिंदू' कहलाने पर गर्व है ।

अरब, ईरान, अफगानिस्तान, मुग़ल देश-मंगोलिया, उजबेकिस्तान के बहादुर, फिरंदर, खानाबदोश, घुड़सवार कबीलों के द्वारा इस्लाम ग्रहण करने के बाद, इन प्रदेशों से आये भारतीय आप्रवासी अपने को मुसलमान भी कहने लगे । इनमें से मुहम्मद साहब के निकटस्थ रक्त संबंधियों को मुसलमान सर्वाधिक शुद्ध और उच्च समझते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हिंदू अपने भारद्वाज गोत्री ब्राह्मणों को । ये लोग इस्लाम की शब्दावली में 'शुरफा'-शरीफ, अभिजात्य, कुलीन कहलाए । ये कबीले थे—अरब के सैयद, शेख, अंसार, कुरैश, ईरान के शिया, अफगानिस्तान के पठान, मंगोलिया के मुग़ल । ये ही मध्यकाल में आक्रमण और विजय के माध्यम से भारत के शासक बने ।

ये भिन्न-देशी, समानधर्मी मुसलमान अभिजात वर्ग, जहां एक ओर भारतवासी हिंदुओं से लड़ा, वहीं लड़ाका और लुटेरा होने के कारण आपस में लडने से भी न चूका । मध्यकाल में जितने भी युद्ध भारत में हुए उनकी संख्या कम नहीं जो स्वयं एक मुसलमान कबीले के दूसरे मूसलमान कबीले से हुए । अरबी मुसलमानों की पारसी मुसलमानों से ठनी । पठान मुग़लों से भिड़े । इस्लाम में दीक्षित होने के बाद भी जात्याभिमान से प्रेरित ये कबीले एक दूसरे को हिकारत की नज़र से देखते रहे । कभी एक दूसरे से इन लड़ाका कबीलों की नहीं बनी, ठीक

उसी प्रकार जिस प्रकार भारत के कई कुलीन राजपूत समूह एक दूसरे पर खींखियाते रहे और आप्रवासी विधर्मी और आक्रामक हमलावरों से मिलकर अपना स्वार्थ साधते रहे। न हिंदुओं में, न ही मुसलमानों में, जयचंदों और मीर जाफरों की कमी रही है।

शम्शीरधारी, घुड़सवार, जंगली मंगोल-मुगल जांनिसारों के सामने भारतवासी-हस्ति-युद्ध प्रवीण हिंदू राजा न ठहर सके। शीघ्र ही भारत का अधिकांश भाग विदेशी मुसलमानों के कब्जे में आ गया। अरब, पठान, मुगल समय-समय पर भारत के शासक बने। बाबर वंशज मंगोल मुसलमान जनजाति ने अकबर जैसे निरक्षर, ज्ञानपिपासु सर्वधर्म समन्वय-इच्छुक, आक्रांता को एक सभ्य, उदार, दूरदर्शी हिंदुस्तानी बना दिया। पर उसी के विलासी पुत्र जहांगीर के संकीर्ण और धर्मांध पौत्र औरंगजेब ने उसके स्वप्न को भंग ही नहीं किया, बल्कि हिंदू और मुसलमान के बीच एक ऐसी नफरत की दीवार खड़ी कर दी जो आज तक कायम है।

हुमायूं से औरंगजेब तक के शासन काल में, इस्लाम के दरवेश, महात्मा, साधु, संत भी चुप न बैठे। ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया, अजमेर के मुइनउद्दीन चिश्ती, गरीब निवाज जैसे प्रसिद्ध सैकड़ों मुसलमान संतों ने तलवार के जोर से नहीं, प्रेम और भक्ति की शक्ति से अपनी साधना और सहृदयता और मानवीयता से सदियों से पद्दलित, अपमानित, शोषित, अंत्यज, श्रमिक गरीबों भारतवासी शूद्रों को गले लगाया, और इस प्रकार भारत का एक बड़ा निम्न और निर्बल वर्ग स्वेच्छा से इस्लाम की शरण में गया। यहां उसने मानवीय प्रतिष्ठा प्राप्त की। भारत के नब्बे फीसदी देशज मुसलमान इसी धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया से इस्लाम में दीक्षित हुए।

विदेशी शासक वर्ग के मुसलमानों के अलावा कुछ इस्लाम धर्मावलंबी, पेशेवर योद्धा, विद्वान, वकील, हकीम और साहसी राजाश्रय की तलाश में आव्रजन की प्रक्रिया द्वारा शासकों की राजधानियों के आस-पास मंडराने लगे और कालांतर में भारत में ही बस गए। इस प्रकार बना है भारत का मुस्लिम समाज, विभिन्न कबीलों, जनजातियों, प्रक्रियाओं से मिलकर-एक एकतत्वीय समुदाय न होकर, बहुतत्वी, बहुभाषी बहुसंस्कृतियों का प्रतिनिधि।

पर किसने हिंदुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ने और नफरत करने के लिए तैयार किया?

भूरे, काले, पीतवर्णी तथाकथित मुसलमान मलेच्छों के राज्य को गौरांग, आर्य भाषा परिवार के साम्राज्यवादी अंग्रेज क्रिस्तानों ने जीत कर, हिंदू द्विजों, श्रीहीन ब्राह्मण धर्मावलंबियों के मन में मिथ्या आशा का संचार किया। १८५७ के गदर ने मुसलमानों को अंग्रेजी प्रभुओं की काली फेहरिस्त में डाल दिया। व्यापारी अंग्रेज शासक की 'बांटो और राज करो,' की रोमन नीति भारत महाद्वीप पर बिना किसी झंझट के शासन करने का अच्छा साधन बन गई।

हिंदू-मुसलमान अलगाव, विद्वेष अंग्रेजों के आने से पहले भी विद्यमान था। अंग्रेजों ने

उसे जन्म नहीं दिया, पर उस छोटे विषाक्त पौधे को 'बांटो और राज करो' की नीति से पल्लवित, पुष्पित और परिपुष्ट अवश्य किया।

हिंदुओं के प्रति इस उदार नीति ने बंगाल में अनेक ऐसे परिवार पैदा किए जो दलाली करते-करते 'भद्रलोक' बन गए। अंततोगत्वा अंग्रेजी गिटपिट-ज्ञान के प्रताप से ये नए शासकों के विश्वासपात्र सलाहकार साझीदार बने, जिन्हें बाद में राजा के खिताब मिले।

पाश्चात्य शिक्षार्जन में बंगाल के हिंदू भद्रलोक अग्रणी थे। अंग्रेजी के माध्यम से हिंदू, अभिजातवर्ग का विज्ञान, तर्क, धर्म-निरपेक्षता, लोकतंत्र, फ्रेंच राजक्रांति के तीन सूत्रों, स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व से साक्षात हुआ। पूर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों के इस संघात ने राजा राममोहन राय, दयानन्द, विवेकानंद के माध्यम से भारतीय पुनर्जागरण की नींव रखी। शीघ्र ही बर्तानवी वफादार हिंदू, बागी क्रांतिकारियों में बदलने लगे।

बीसवीं सदी के प्रथम चरण में हिंदू पिछले पचास वर्षों में अंग्रेज के कृपापात्र थे, अब उन्हीं के संदेहपात्र बनने लगे। 'बांटो और राज करो' राजनीति के अनुरूप अंग्रेज ने मुसलमानी अभिजातवर्ग का पल्ला पकड़, १९०६ में उनके एक डेलिगेशन को वायसराय से मिला दिया और मुस्लिम लीग की आधार शिला रखवा दी। इस संस्था के नेतृत्व में मुसलमानों में पृथकतावादी सांप्रदायिक राजनीति का बीजारोपण, पोषण और अंततोगत्वा दो राष्ट्रों की कल्पना का सृजन संवर्धन एवं कार्यान्वियन हुआ, भारत के विभाजन में।

१९०६ से शुरू होकर, अगले तीस वर्षों में अंग्रेज महानुभावों की कृपा से, हिंदू एवं मुसलमान दोनों ही समुदायों के हितैषी नेताओं के संरक्षण में सांप्रदायिक पृथक्करण की प्रचुर वृद्धि एवं विकास हुआ। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के प्रत्युत्तर में हिंदू विश्वविद्यालय बना। हिंदी के विरुद्ध उर्दू खड़ी की गई। इधर 'इस्लाम को खतरा', उधर 'हिंदू धर्म को संकट' नज़र आने लगा। मुस्लिम सांप्रदायिकता का मुकाबला करने के लिए सावरकर, लाजपतराय, मालवीय और श्रद्धानंद जैसे क्रांतिकारियों एवं देश भक्तों को हिन्दू महासभा में जाना पड़ा।

१९३७ और १९४७ के दशक में सांप्रदायिक सद्भाव धीरे-धीरे घटने और लुप्त होने लगा। महात्मा गांधी, अब्दुल गफ्फार खां और जयप्रकाशनारायण जैसे राष्ट्र नेता इस प्रक्रिया को रोकने में अक्षम सिद्ध हुए। जवाहर लाल नेहरू ने भी हार मान ली। वे भी बेमन से और जिन्ना लियाकत पूरे जोश-खरोश से भारत के विभाजन के लिए सहमत हुए। कांग्रेस और लीग, दोनों के ही नेतृत्व को दो स्वतंत्र राष्ट्रों की बागडोर संभालने की जल्दी थी।

अम्बेडकर जैसे बुद्धिवादी ने भी तब स्वीकार किया कि जब हिंदू-मुसलमान मानसिक दृष्टि से दो पृथक राष्ट्र हैं तो इनका पृथक और स्वतंत्र होना ही सांप्रदायिक समस्या का उचित समाधान है। उन्होंने तो भारत पाकिस्तान के बीच हिंदू-मुसलमान अल्पसंख्या की आपसी अदला-बदली का प्रस्ताव भी किया। पर ऐसा कुछ न हो सका। हां, केवल पश्चिमी एवं पूर्वी पंजाब में जहां १९४६-४७ में भीषण सांप्रदायिक दंगे हुए थे, ऐसा करना पड़ा।

आज के बहुत से शिक्षित मुसलमानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि १९४७ तक विभाजन से पूर्व, अंग्रेजी प्रशासन में पिछले पचास वर्षों से मुसलमान संप्रदाय एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग था। १९०९ से पृथक निर्वाचन के परिणामस्वरूप, पृथक्कृत मुसलमान समुदाय अधिक शिक्षित, अधिक नगरीय, सरकारी सेवाओं, विशेषकर पुलिस में अपनी जनसंख्या की तुलना में अधिक प्रतिनिधित्व रखता था। कांग्रेस की स्वतंत्रता की मांग ने, मुसलमानों में लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत हिंदू बहुसंख्या द्वारा शासित होने का भय पैदा कर, मुसलमानों को एक मोहरे के रूप में इस्तेमाल कर, सांप्रदायिक एकता और सद्भाव के इच्छुक कांग्रेसी नेताओं में मुस्लिम नेताओं के प्रति गुस्सा पैदा किया। तब राजगोपालाचारी जैसे राजनीतिज्ञों ने पाकिस्तान की मांग को स्वीकृति देकर जिन्ना के अधिनायकतंत्रीय मुसलमान नेतृत्व से निपटना चाहा।

उस समय मुस्लिम लीग ने पहली बार खुलकर सांप्रदायिक दंगों को राजनैतिक मांगे मनवाने के प्रभावी हथियार के रूप में इस्तेमाल करने में सफलता प्राप्त की। कांग्रेसी और मुस्लिम नेताओं की महत्वाकांक्षाओं ने पाकिस्तान की मांग को दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृति दिलवाई। वास्तव में विभाजन सांप्रदायिक दंगों से जनित भय, निराशा, मारकाट और लूटपाट के सामने समर्पण था। किंतु विभाजन से न तो भारत में और न ही पाकिस्तान में अल्पसंख्यक सुरक्षा और स्वायत्तता की समस्या सुलझी, बल्कि वह अधिक जटिल ही हो गई।

भारत में हुए रक्तपात ने पूर्वी पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के नगरों के संगठित और सांप्रदायिक दंगों में माहिर मुसलमान वर्ग को भी एक बार हिला दिया। पूर्वी पंजाब, हरियाणा का मुसलमान संप्रदाय तो पूर्ण रूप से अल्पसंख्यकों के जनसंख्या विनिमय के लिए राजी हो गया। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में देहरादून, सहारनपुर, मुरादाबाद, बरेली, अलीगढ़, मेरठ के गरीब मुसलमान डर से और शुरफा मुसलमान अभिजात वर्ग पाकिस्तान शासन की बागडोर संभालने के आकर्षण से पकिस्तान की ओर प्रवास करने को प्रेरित हुए। ऐसा भी हुआ कि एक ही बड़े परिवार के जहां कुछ सदस्य हिंदुस्तान से हिजरत के लिए निकले, वहां बाकी सदस्य हिंदुस्तान की सरजमीं पर अपनी मातृभूमि में ही जैसे तैसे जीने, लड़ने-मरने के लिए रह गए।

सर्वथा नई, अप्रत्याशित परिस्थिति पश्चिमी उत्तर प्रदेश के शहरी, सफेदपोश मुसलमानों के लिए एक दैवी संकट सिद्ध हुई जिसका कोई हल उन्हें नहीं सूझ रहा था। इसी समय में १९४७ से १९५७ के बीच मेरठ मंडल के कुछ जिलों में मैंने मुसलमानों की मनोस्थिति, परिवर्तित पद और भूमिका तथा नई सामूहिक राजनैतिक स्थिति से अपना समायोजन स्थापित करने की उनकी कोशिश का अध्ययन किया था।

१९४७ की मारकाट ने मुसलमानों की आंखें खोल दीं। अब अंग्रेज आका मुस्लिम नेताओं की पुश्त पर न रहे। उग्र हिंदू-सांप्रदायवादी हिंदुओं की बन आई। अब मुसलमान उनके रहमोकरम पर ही भारत में रहे सकते थे।

भारत में बचे मुसलमान बच्चों को अपने प्रभावशाली नेताओं की राजनीति के कारण बराबर ऐसे ताने सुनने पड़ते, "पाकिस्तान क्यों नहीं जाते ? वही तो तुम्हारा देश है ? तुम्हें वह मिल गया। अब क्यों यहां पर पड़े हो।" ऐसी स्थिति में किसी समुदाय पर क्या बीतेगी, यह सहज ही समझा जा सकता था।

वोटों की राजनीति ने मुसलमानों में कुछ दम फूंका। क्यों न कुछ स्थानों में जहां उनकी पर्याप्त संख्या थी, वे मिलकर अपनी मर्जी के मुसलमान हित-रक्षकों को चुनकर भेजें जो हिंदुओं से निपट सकें; उचित-अनुचित रियायतें और फायदे उठा सकें ? रातोरात सांप्रदायिक मुसलमान नेताओं ने गांधी टोपियां सिर पर रख लीं। धर्मनिरपेक्ष राजनीति की आड़ में 'समस्यात्मक अल्पसंख्यक संप्रदाय' पनपने लगा। वह उसका निहित स्वार्थ बन गया ताकि मुसलमानों के वोट एक-मुश्त उनके स्वघोषित संरक्षकों को मिल सकें।

आधुनिक समकालीन भारत में सांप्रदायिक तनाव, अलगाव, विद्वेष, दंगे-फसादों का मूल कारण मुख्यतः यही मनोवृत्ति है-मुसलमानों को अपने संकीर्ण राजनैतिक स्वार्थों के लिए प्रयुक्त करना, जैसा कि कभी अंग्रेज प्रभुओं ने किया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के सैंतीस सालों में भी हिंदू और मुसलमानों की जीवनधाराएं दो भिन्न दिशाओं में बहती रहीं हैं। उनका एक दूसरे से, न तो संगम हुआ और न ही समन्वय। गांधी का स्वप्न था कि इस्लाम और महान हिंदू धर्म की ये सरिताएं आपस में घुले-मिलें। इस प्रकार भारतीय विविधता में एक सौहार्दपूर्ण सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात हो, जो भविष्य में एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण करे, जो स्वधर्म का पालन करते हुए भी अन्य धर्मावलंबियों के प्रति सौहार्द रख सके।

सिर्फ भारतीय राजनीति ही सांप्रदायिक सद्भाव के मोरचे पर नहीं हारी, बल्कि उसकी शिक्षा प्रणाली, सभ्यता और संस्कृति भी इसमें नाकाम रही। अंग्रेजों से विरासत में मिला भारतीय इतिहास, मध्यकालीन हिंदू-मुस्लिम राजे रजवाड़ों की शत्रुता को जनसाधारण की शत्रुता के रूप में चित्रित कर, नई भावी पीढ़ी के मन को प्रदूषित करती रही। यदि इस इतिहास को सही तौर पर लिखा जाता, तो यह इतिहास शिक्षा और समझदारी का साधन बनता। पर ऐसा न हुआ। मुसलमान शासक के रूप में औरंगजेब नायक बना। हम जैनुल आबेदीन और अकबर जैसे उदार शासकों, अमीर खुसरो, अब्दुल रहीम खानखाना, रसखान, निजामुद्दीन औलिया और ख्वाजा सलीम चिश्ती को भूल गए। आधुनिक युग में भी मुसलमानों के नायक जिन्ना और मौलाना मौदूदी बने। अबुल कलाम आजाद को हिंदुओं का विदूषक कहा गया। अब्दुल करीम छागला की उपेक्षा हुई। यह मुसलमानों और इस्लाम दोनों का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

आज भी मुसलमान एक अजीब धर्म-संकट से गुज़र रहा है। वह नहीं जानता किधर जाए। एक ओर उसे खुमैनी का कट्टर विशुद्ध इस्लामीकरण अपनी ओर खींच रहा है, जिसका

मनोवैज्ञानिक कारण उसमें व्याप्त निराशा में ढूंढा जा सकता है। दूसरी ओर तथाकथित धर्म-निरपेक्ष, अवसरवादी नेतृत्व है जो सेकुलरिज्म की आड़ में सांप्रदायिकता का खेल खेल रहे हैं। मुसलमानों का यह अलगाव, उनमें आक्रोश और आक्रामकता के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है।

दूसरी ओर, उग्र हिंदू राष्ट्रवाद हिंदुओं को संगठित करने के नाम पर, मुस्लिम सांप्रदायिकता में नई जान डालता है। वस्तुतः दोनों समुदायों की सांप्रदायिकता एक दूसरे को परिपुष्ट करती है। उन दोनों सांप्रदायिकताओं के समान स्वार्थ और समान लक्ष्य हैं कि हिंदू और मुसलमान कभी एक न हो जाएं। और अगर वे एक हो गए तो जो भारत बनेगा वह वर्तमान भारत से सर्वथा भिन्न होगा और उसके आधार और लक्ष्य भी भिन्न होंगे।

सिक्ख समस्या

धार्मिक अल्पसंख्यकों की अस्मिताएं (आइडेंटिटीज़) भारतीय राष्ट्र से समायोजन की हैं। इसमें एक प्रमुख समस्या सिक्ख पृथकतावाद और उपराष्ट्रवाद के रूप में भारतीय राजनीति-तंत्र के सामने सर्वाधिक गंभीर संकट के रूप में प्रकट हुई है। हाल में उसे सुलझाने के प्रयासों की विफलता और अकाली दल द्वारा अपनी मांगों को पूरा करवाने की धमकियों ने और भिंडरवाले के हिंसात्मक उग्रवाद ने भारतीय एकता में आस्था रखने वाले सभी राष्ट्रवादियों को गहरी चिंता में डाल दिया है।

समकालीन भारतीय संस्कृति और तद्जनित व्यक्तित्व की यह विशेषता रही है कि वह समस्याओं को टालने, झुठलाने और अपने को बहकाने का अभ्यासी सा हो चुका है। अंदर-अंदर सुलग रहे असंतोष की आग पर हमारा ध्यान नहीं जाता पर जब घर जलने लगता है, हम सब इकट्ठे होकर स्यापे में शरीक होते हैं।

धमकियों, हिंसा और असहिष्णुता के वातावरण में अंतर्समूहों के संबंधों की समस्या और उसके समाधान पर ठंडे दिमाग से सोचना और उनका निष्पक्ष और व्यवहारिक समाधान खोजना, असंभव तो नहीं, मुश्किल जरूर हो जाता है। सिक्ख-हिंदू, अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक, राज्य और केंद्र, के बीच संबंधों के साथ ऐसा ही हो रहा है। इसीलिए सिक्ख समस्या पर तटस्थ हो, वस्तुगत रीति से विचार करना कठिन होता जा रहा है। इलाज कराने से पहले अगर मरीज़ डाक्टर का धर्म और जाति पूछे, तब मर्ज और मरीज का क्या होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है।

बहरहाल सिक्ख समस्या का भविष्य में क्या स्थाई और सही समाधान निकलेगा, कहना मुश्किल है। यहाँ पर संक्षेप में सिर्फ रोग का निदान शास्त्रीय विवेचन इस आशा में प्रस्तुत है कि शायद इससे उसके उपचार में कुछ सहायता मिल सके। रोग के समुचित उपाय के लिए उसके मूल कारणों की पृष्ठभूमि पर जाना होगा।

आज से पांच सौ वर्ष पूर्व नानकदेव (१४६९-१५३९) का जन्म पश्चिमी पंजाब के तलवंडी गांव में हुआ था जो आज नानकाना साहब के नाम से प्रसिद्ध है। वे एक लेखपाल की संतान थे। एक उदार मुसलमान ने उन्हें शिक्षा दिलाई और बाद में वे अफगान प्रशासन में राजकर्मचारी बने। विवाहित और तीन बच्चों के बाप होते हुए भी, वे सूफियों की संगत करने लगे। बाद में वे सारे भारत में विचरे। ऐसी मान्यता है कि वे मक्का शरीफ भी गए। पुनः अपने परिवार में लौटकर वे उपदेश देने लगे। उनकी शिक्षाएं आदिग्रंथ में संकलित हैं।

गुरु नानक (१४४०-१५१८) कबीर के समकालीन थे। दोनों के ही नेतृत्व में भक्ति आंदोलन ने नया मोड़ लिया। उन्होंने, न तो संस्थागत हिंदू धर्म की उपासना पद्धति पर आक्रमण कर उसे सुधारने की कोशिश की, और न ही स्वचेतना को भगवान में विलीन करने का साधन स्वीकार किया। उन्होंने परंपरागत ईश्वर की ही जड़ खोद डाली। नानक ने हिंदू और मुसलमानों की ईश्वर की अवधारणा से भिन्न, शानदार एकेश्वरवाद का उद्घोष किया।

यहां पर कहीं भी राम और अल्लाह को मिलाने का प्रयास न था, प्रत्युत दोनों ही धर्मों के अंधविश्वासों के विरुद्ध विद्रोह, और उनके स्थान पर एक नए धर्म की प्रस्थापना थी। ऐसा धर्म जो न तो व्यक्ति को संसार से पलायन करा, केवल ब्रह्मानन्द में डुबाए रखता है, और न ही किन्हीं किताब-शास्त्रों, पैगंबरों-अवतारों को पूजता है, बल्कि जो समाज में रहकर, मध्यम मार्ग अपना कर, जात-पाँत, ऊँच-नीच से दूर, एक समतापरक, सहयोगी सहकारी समाज की कल्पना करता है, जिसके सदस्य सरल-सच्चे न्यायपूर्ण आचरण को ही अपना धर्म मानते हैं।

इस प्रकार यह नया धर्म नानक के दस उत्तराधिकारी गुरुओं के साये में पंजाब के ग्रामीणों और दस्तकारों में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ। तत्कालीन मुसलमान उलेमा ने सिक्खों को काफिर कहा और औरंगजेब जैसे संकीर्ण, धर्मांध सुलतान ने उनके खिलाफ जिहाद घोषित किया। अपने शिष्य समुदाय की रक्षा के लिए इन सिक्ख वीरों ने शस्त्र धारण किए और अपनी सेना की पहचान और एकात्मता के लिए पाँच पृथक चिन्ह अपनाए, जिन्हें दूर से ही देखकर जाना जा सके कि ये सिक्ख हैं। ये चिन्ह थे केश, कंघा, कड़ा, कृपाण और कच्छा। गुरु गोंविद सिंह के नेतृत्व में सैनिक सिक्ख समुदाय के गण चिन्ह बन गए। कालांतर में ये भी तिलक और त्रिपुंड की तरह निष्प्राण बन गए और सामूहिक पृथकता के प्रतीक।

तत्कालीन परिस्थितियों ने सिक्खों को ही हिंदू धर्म का मुख्य रक्षक बना दिया था। वें सभी सिक्ख गुरू हिंदू धर्म ग्रंथों में सराबोर थे। साथ ही वे भारत के समस्त संत काव्य, विशेषकर ज्ञान-मार्गी रचनाओं से, भलीभांति परिचित थे। इसीलिए ग्रंथ साहब में सैकड़ों भक्तों की रचनाएं संकलित हैं।

मध्यकाल में, विशेषकर पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य ने, सिक्खों को जाहिरा मुसलमान-शासन विरोधी बना दिया और शासक वर्ग से जुड़े मुसलमान उलेमा उन्हें इस्लाम का शत्रु और दुर्बल हिंदू उन्हें अपना रक्षक समझने लगे। अट्ठारहवीं सदी के आरंभ में मुगलों ने

सिक्खों पर जबरदस्त अत्याचार किये जिसका उन्होंने डटकर मुकाबिला किया। लुढ़कते हुए महान मुगल साम्राज्य की सांध्य बेला में महान सिक्ख योद्धा रणजीत सिंह ने पंजाब में सिक्ख राज्य स्थापित किया। १८३९ में रणजीत सिंह का देहांत हो गया और अंग्रेजों ने रीजेंट के माध्यम से वहां की बागडोर संभाली। उन्होंने सिक्खों के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई। उस समय एक क्रूर मुगल बादशाह की तुलना में अंग्रेज, सिक्खों को सभ्य साम्राज्यवादी लगे।

अंग्रेजी राज स्थापित होने के बाद उत्तर और पूर्वी भारत में उत्तर प्रदेश से लेकर बंगाल तक अंतिम मुगल सम्राट बहादुर शाह के नेतृत्व में हिंदू मुस्लिम सामंत और कंपनी बहादुर के सिपाही एकजुट होकर अंग्रेजी शासन के खिलाफ उठ खड़े हुए। पर पंजाब इस क्रांति से अछूता रहा। विशेष परिस्थितियों ने सिक्खों को १८५७ के विद्रोह से अलग रखा। परिणाम-स्वरूप अंग्रेज साम्राज्यवादी सिक्खों को अपना मित्र समझने लगे और सैनिक भर्ती में उन्हें तरजीह मिली।

इन असाधारण परिस्थितियों में सिक्ख अंग्रेजों के चहेते समुदाय बन गए। १८५७ से १९०० ई० तक मुसलमान अंग्रेज की नजर में सबसे ज्यादा शक और नफरत के पात्र थे और हिंदू कृपापात्र। पर ज्यों ज्यों हिंदू समुदाय में पाश्चात्य शिक्षा समाज-सुधार आंदोलन के फल-स्वरूप राष्ट्रीय जागृति बढ़ी, स्वतंत्रता की मांग उठी, अंग्रेजों ने सर सय्यद अहमद की सदारत में मुसलमानों को खास रियायतें देकर राष्ट्रवाद की मूलधारा से हटाने की कोशिशें शुरू कीं। इस तरह सिक्खों को हिंदुओं से अलग रखने की 'बाँटों और हुकूमत करो' के तहत साम्राज्य-वादी नीति का सूत्रपात हुआ।

सिक्ख समुदाय भी अब दो हिस्सों में बंटने लगा—अंग्रेज-परस्त पृथकतावादी और देश-भक्त राष्ट्रवादी। गदर पार्टी, कांग्रेस और अकालियों के नेतृत्व में सिक्खों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय बहुसंख्यक हिंदू समुदाय की सांस्कृतिक अनुदारता एवं साम्राज्यवादी अंग्रेजों की राजनैतिक चालों के फलस्वरूप जहां एक ओर राष्ट्रीय आंदोलन और जन जागरण का सूत्रपात हुआ वहाँ दूसरी ओर अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों में पृथकतावादी आंदोलनों ने जोर पकड़ा।

मुसलमान अल्पसंख्या के पृथकतावादी आंदोलन की परिणति पाकिस्तान के निर्माण में हुई। मुसलमानों के उग्र संप्रदायवाद ने पश्चिमी पंजाब, सीमा प्रांत और सिंध में हिंदू-सिक्खों के साथ बराबर जुल्म कर, उन्हें पुनः एकाकार कर किया। इसलिए जब मुस्लिम पृथकता-वादियों की अगुआ मुस्लिम लीग ने १९४६ में सिक्खों के स्वतंत्र खालिस्तान की माँग का समर्थन किया तो पृथकतावादी सिक्ख भी उस समय उनसे हाथ मिलाने को तैयार न हुए।

स्वतंत्रता प्राप्ति और देश विभाजन के बाद सिकुड़े हुए पूर्वी पंजाब में हिंदू सिक्ख संबंधों का नया अध्याय खुल गया। यहीं पर अब सिक्खों की बहुसंख्या केंद्रित हो गई थी। लगभग पंद्रह साल बाद पृथक पंजाबी-भाषी सूबे की मांग उठी जो अनेक उग्र जन आंदोलनों

के बाद मान ली गई। इसी से पंजाब और हरियाणा के दो अलग राज्य बने। एक पंजाबी भाषी और दूसरा हिंदी-भाषी। अब पंजाब के दूसरे विभाजन के बाद, बचे हुए बाकी पंजाब में सिक्खों की जनसंख्या का अनुपात ५२ प्रतिशत–आधे से जरा ज्यादा हो गया।

ऐसी हालत में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अंग्रेजों के प्रयाण के पश्चात दशकों से प्रसुप्त पृथकतावादी शक्तियां पुनर्जीवित होतीं। समृद्ध, शिक्षित व बलवान सिक्खों को पुनः अपने महत्व, अपनी अल्प अस्थिर बहुसंख्या और राजनैतिक दांवपेंच की ताकत का एहसास हुआ। स्वयं सिक्ख राजनीति और नेतृत्व में जबरदस्त उलटफेर हुए।

सिक्खों की राजनीति में गुरुद्वारों का केंद्रीय स्थान रहा है। विपुल अचल संपत्ति और धार्मिक आस्था का केंद्र होने के कारण सिक्खों की राजनीति गुरुद्वारों के प्रबंध से प्रारंभ और परिपुष्ट होती है। अपार संपत्ति के स्वामी होने के कारण १९१९ तक सिक्ख गुरुद्वारे भ्रष्टाचार के अड्डे बन चुके थे। इसके खिलाफ अकालियों ने सफल जन आंदोलन किया। तब इन गुरुद्वारों का प्रबंध महंतों के हाथ से छिनकर निर्वाचित सिक्ख प्रतिनिधियों के हाथ में आ गया। इस तरह गुरुद्वारा प्रबंधक समिति के चुनाव सिक्खों के लिए आम चुनाव जैसे महत्वपूर्ण हो गए। निर्वाचित सिक्ख प्रतिनिधियों की महत्वाकांक्षाएं सिर्फ धार्मिक सुप्रबंध तक ही सीमित न रहीं, उनकी राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं भी जागीं। उनमें उग्र और नरमपंथी भी जन्मे। केंद्रीय सरकार से सहयोग करने और उसका विरोध करने वाले गुट भी बने जिन्होंने वर्तमान सिक्ख समस्या और संकट की सृष्टि की।

राजनीति में खाने और दिखाने के दाँत अलग होते हैं। इसलिए कई बार ऐसा भी हुआ है कि धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता की सर्वाधिक दुहाई देने वाले दलों ने ही प्रछन्न रूप से पृथकतावादी शक्तियों को बढ़ावा दिया है। नतीजा सामने है। खालिस्तान समर्थक उग्रवादी सिक्खों के साथ भी ऐसा ही हुआ है। ज़ाहिरा धर्मनिरपेक्ष प्रभावशाली राजनैतिक दल कांग्रेस के ही दो गुटों ने अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने के लिए सांप्रदायवादियों का सहारा लिया। भारतीय मुस्लिम राजनीति में तो अक्सर ऐसा हुआ है। तथाकथित राष्ट्रवादी, धर्मनिरपेक्ष अल्पसंख्यक सांस्कृतिक समूह किसी भी समय संकीर्ण, अनुदार सांप्रदायिक मांगों के समर्थन में इकट्ठे हो जाते हैं, खास तौर से तनाव के वक्त अपने संप्रदाय में इससे उनकी लोकप्रियता बढ़ती है। ऐसे समय पर वे अपने धर्मावलंबियों की सांप्रदायिकता की भर्त्सना करने का साहस नहीं जुटा पाते, बल्कि उसी पर पलते हैं।

पंजाब में भी ऐसा ही हो रहा है। नरम, उदार, धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से सोचने वाले सिक्ख बुद्धिवादी और लेखक भी चुप्पी लगाए हैं। सरदार भिंडरवाले जैसे मदांध, उग्र पृथकतावादी सांप्रदायिक नेताओं के विरुद्ध बोलने का साहस नहीं बचा है। जहां विवाद विचार विनिमय और तर्क तथ्यों से निर्णीत न होकर, तलवार गोली से हो वहां कितने माई के लाल सच बोलने का साहस जुटा पाएंगे।

जिम्मेदार लोगों का कहना है कि जनता पार्टी के शासनकाल में, जबकि अकाली दल और जनता पार्टी का साझा पंजाब सरकार में था, कांग्रेस पार्टी के वरिष्ठ सिक्ख नेताओं ने अपने राजनैतिक स्वार्थवश अपने गुट को मजबूत बनाने के लिए भिंडरवाले का पल्ला पकड़ा। निरंकारियों के विरुद्ध आवाजें उठीं। उन्हें दबाने की मुहिम शुरु हुई और आखिर उनके गुरु की हत्या कर दी गई।

वर्तमान सिक्ख समस्या के लिए, सिक्ख धर्म की संकीर्ण एवं सांप्रदायिक व्याख्या करने के लिए सिर्फ कुछ सिरफिरे धार्मिक नेता ही जिम्मेदार नहीं हैं, इसकी बड़ी जिम्मेदारी केंद्रीय सरकार की ढुलमुल नीतियों और स्वघोषित धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक दोनों प्रकार के सिक्ख नेताओं की निजी स्वार्थ से प्रेरित राजनीति और बहुसंख्यक हिंदू समुदाय द्वारा सिक्ख समुदाय की आंतरिक भावना को समझने में असमर्थता तथा उनके प्रति संदेह के वातावरण की भी है।

सभी महान धर्मों की भांति सिक्ख धर्म के वर्तमान धर्मध्वजाधारियों ने सिक्ख खालसा पंथ जैसे एक समय क्रांतिकारी, समतापरक, मानवीय, लोकतांत्रिक धर्म को अपनी निजी दौलत बढ़ाने और भौतिक स्वार्थों को साधने का जरिया बना लिया है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे संगठन भी, जो सिक्ख धर्म को हिंदू धर्म का ही अंग बताते हैं और १९४७ में मुसलमानों की मारकाट में सिक्खों की भूमिका की सराहना करते हैं, सिक्खों को अपना नहीं समझते। ऐसी स्थिति में यदि सिक्ख भी हिंदुओं को शक की नजर से देखें, तो उसमें कौन सी ताज्जुब की बात है।

अगर बहुसंख्यक समुदाय सचमुच धर्मनिरपेक्ष, समतापरक और लोकतांत्रिक तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों पर आश्रित समाज बनाना चाहता है, तो उसे सिक्खों से डरने की, उन पर संदेह करने की जरूरत नहीं है। सिक्ख कोई दब्बू, कमजोर, जाहिल और गिरापड़ा समुदाय नहीं है। इसलिए उसे कुचला और अपमानित नहीं किया जा सकता, खासतौर से पंजाब में, जहां वे हिंदुओं से कुछ भारी ही पड़ते हैं।

पंजाब, सिक्ख धर्म का जन्म स्थान, उसके प्रसार, शौर्य-गाथा और रणजीत सिंह के सिक्ख राज्य का तथा महान गुरुओं की कर्मभूमि रहा है। यदि सिक्ख समुदाय इस गौरव गाथा से प्रेरित होकर अधिक क्षेत्रीय स्वायत्तता की मांग करता है तो इस पर सहानुभूति से विचार होना चाहिए। पंजाबी हिंदुओं के समाजार्थिक हित सिक्ख समुदाय और भारतीय नागरिकों के हितों से भिन्न नहीं हैं। किंतु इस समझ में पेंचीदगी तब होती है जब पंजाब के हिंदू अपने को पंजाबी-भाषी न समझकर, हिंदी- भाषी हिंदू समझने और कहने लगते हैं जो सही नहीं है। पंजाबी भाषा और संस्कृति पंजाब के सभी सिक्खों, हिंदू, मुसलमानों की मुश्तरका सांस्कृतिक विरासत है।

संभव समाधान

सिक्खों की कुछ रागात्मक, भावनात्मक समस्याएं हैं जिन्हें आसानी से बिना दूसरे समुदायों को ठेस पहुंचाए पूरा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हरिद्वार, बद्रीनाथ, केदारनाथ की भांति अमृतसर स्वर्ण मंदिर के परिसर में मद्य-मांस और तम्बाकू सेवन की बिक्री पर रोक लगाई जा सकती है। आकाशवाणी जलंधर से नित्य प्रातः काल गीता, रामायण, भक्ति संगीत के साथ गुरुवाणी का प्रसारण किया जा सकता है। ग्रंथ साहब की गुरुवाणी में विभिन्न भारतीय संतों की रचनाएं ही तो संकलित हैं।

जहां तक बहुचर्चित विवादास्पद आनंदपुर साहब प्रस्ताव का संबंध है जिसके अंतर्गत पंजाब राज्य के पास केवल तीन विषयों को छोड़कर - विदेशी मामले, सुरक्षा और संचार–अन्य समस्त विषय राज्य के पास रखने का विचार है। यह राज्य केंद्र संबंधों के पारस्परिक अधिकार क्षेत्र वितरण का व्यापक प्रश्न है, जिस पर अखिल भारतीय स्तर पर विचार होना चाहिए, सांप्रदायिक स्तर पर नहीं। संघ में किसी एक राज्य विशेष के अधिकार नहीं बढ़ाए जा सकते, किंतु इस बात पर अवश्य गौर किया जा सकता है कि लोक सत्ता के विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया में सदस्य राज्यों के अधिकार क्षेत्र को घटाने के बजाए, किस हद तक बढ़ाया जाएं जिससे कि स्वशासन की प्रक्रिया विस्तृत हो सके।

निस्संदेह वर्तमान सिक्ख समस्या संदेह, हिंसा और अविश्वास तथा अब तक की टालू और अवसरवादी राजनीति के कारण पर्याप्त जटिल हो गई है। पर कोई कारण नहीं कि सभी संप्रदायों के उदार और सद्भाव प्रेरित नेता और सामान्य नागरिक मिलकर उसे न सुलझा सकें। यदि सिक्ख समुदाय विशाल भारतीय समुदाय का सम्मानित और सक्रिय साझेदार नहीं बनता, तो इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा और भारतीय नेतृत्व का दिवालियापन।

समझदार सिक्ख यह अनुभव करने लगे हैं कि संकीर्ण सांप्रदायिकता स्वयं सिक्खों के लिए और राष्ट्र के लिए हितकर नहीं है। भिंडरवाले पोषित, डा० जगजीत सिंह चौहान द्वारा प्रचारित सिक्ख पृथकतावाद भारतीय राष्ट्र के लिए घातक है। इसके साथ कोई समझौता नहीं किया जा सकता। अकाली दल के नेता स्वयं भीतर-भीतर भिंडरवाले से त्रस्त हैं, पर वे उसकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं कर सकते। जरूरत इस बात की है कि संतुलित और नरम दल वाले अकालियों से समझौता कर लिया जाए।

इस समय पंजाब का वातावरण बहुत ही विषाक्त हो चुका है। वहां यथाशीघ्र सांप्रदायिक सद्भाव स्थापित होना चाहिए। अनेक अकाली नेता, कुछ देर से ही सही, इस बात का अनुभव कर रहे हैं। समझौते की तफसील पर मामूली मतभेद है, किंतु साथ-साथ एकमतता भी उभर रही है।

हाल की उग्रवादी हिंसा ने पंजाब की समस्या को बहुत जटिल बना दिया है। उग्रवाद और लोकतंत्र का सीधा बैर है। अतः उससे निपटने के साथ हिंदू–सिक्खों में सद्भाव का

वातावरण तैयार कर सिक्ख समुदाय की अस्मिता, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए हमें हिंदू-सिक्ख दोनों समुदायों को मान्य हल ढूंढ़ना होगा।

सिक्ख, हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक समस्या को न तो मौजूदा राजनीतिज्ञ और न मौजूदा स्कूल-विश्वविद्यालय ही सुलझा पा रहे हैं। उसके लिए धार्मिक दुराग्रह से दूर, उदारमना जन-साधारण स्त्री-पुरुष और विशेष कर युवा वर्ग द्वारा, सांप्रदायिकता में जिनके अभी तक निहित स्वार्थ नहीं बन पाए हैं, एक नया वैचारिक आंदोलन अपेक्षित है जिसमें, विभिन्न भारतीय समुदाय, धर्म और संख्या के भेदों को भूलकर एक भारतीय और मानवीय भावना से प्रेरित नागरिक के रूप में भाईचारे के साथ रह कर अपने देश और समाज के निर्माण में समानता से योगदान कर सकेंगे।

इतिहास के निष्पक्ष अध्ययन-मनन, धार्मिक समाजों की सामाजिक संरचना और जीवन पद्धतियों के वस्तुगत विश्लेषण तथा निम्न धर्मावलंबी समूहों के साथ सक्रिय रचनात्मक शैक्षणिक सेवा कार्य में साझीदार बनकर ही यह संभव हो सकेगा। इसके लिए हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध, जैन और अन्य तंग दायरों से बाहर निकल, दूसरे समुदाय के सदस्यों के साथ दैनिक संपर्क, सहयोग, आदान-प्रदान कर समान संघर्षों में एकजुट होकर लगना होगा। तभी शायद सांप्रदायिकता के अभिशाप से मुक्ति मिल सके।

पश्चलेख—

सिक्ख समस्या पर यह लेख प्रेस में जाने के बाद, भारत सरकार ने बाइस महीने से चल रहे सिक्ख आतंकवाद और उग्रवाद से निपटने का अप्रिय निर्णय लिया और २ जून १९८४ की रात को यह काम सेना के सुपुर्द कर दिया ! इन सिर फिरे उग्रवादियों ने गुरुद्वारों में अपने गढ़ बना लिए थे और बड़ी मात्रा में आधुनिक अस्त्र-शस्त्र और गोला बारूद जमा कर रखे थे। तीन दिनों में सेना गुरुद्वारों में संरक्षित आतंकवादियों को खत्म करने और जिन्होंने आत्म-समर्पण किया उन्हें गिरफ्तार करने में सफल हुई। उग्रवादियों के मुखिया भिंडरावाले और उसके दो प्रमुख साथी और लगभग ६०० अन्य उग्रवादी इन मुठभेड़ों में मारे गये। सामान्यतः भारतीय जनता ने इस कदम का स्वागत किया है। अभी यह स्पष्ट पता नहीं है कि कितने उग्रवादी बाहर घूम रहे हैं और उनकी कितनी ताकत है। आशा है कि सरकार आतंकवाद के उन्मूलन में सफल होगी।

इससे इतना स्पष्ट है कि आधुनिक राजतंत्र में जनता का कोई समूह हिंसा के बलबूते पर सरकार नहीं बदल सकता और न ही सरकार को अपनी ऐसी माँगे मनवाने पर मजबूर कर सकता है जिन्हें जन साधारण का समर्थन प्राप्त नहीं है। अतः आतंकवाद, उग्रवाद को सेना

पुलिस की मदद से कुचलना आसान है। पर पृथक धार्मिक-सांस्कृतिक अस्मिता की समस्या कहीं अधिक जटिल है जो राजनैतिक और विभिन्न समूहों में पारस्परिक सद्भाव के स्तर पर ही सुलझ सकती है।

स्वर्ण मन्दिर में सेना के प्रवेश से धर्मप्राण सिक्ख विक्षुब्ध हुए हैं। यह कहा जा सकता है कि कानून व्यवस्था को लागू करने में सेना का प्रयोग अनुचित है। यदि समय से आवश्यक कदम उठाये गये होते और नरमपंथी लोकतांत्रिक सिक्ख आंदोलन के नेताओं से कोई सर्वमान्य समझौता हो गया होता, तब यह नौबत न आती। अब आवश्यकता इस बात की है कि जैसे ही कानून व्यवस्था कायम हो जाय, बहुसंख्यक सिक्खों को यह विश्वास दिला दिया जाये कि उनकी उचित माँगों का और उनकी अस्मिता का सम्मान होगा जिससे कि वे अन्य भारतीयों के साथ अपने को भारत के निर्माण में बराबर का साझीदार समझें। धार्मिक अल्पसंख्यकों की समस्या का यही स्थाई हल होगा।

९ जून, १९८४

भारतीय मुसलमानों की समस्या

इम्तियाज अहमद

'भारतीय मुसलमानों की समस्या' इस मुहावरे से कई सवाल उभरते हैं जो पहली नजर में नहीं दिखाई पड़ते। पहला, यह मान्यता है कि भारतीय मुसलमान एक अखंडित समुदाय है और उनकी समस्या पर्याप्त विशिष्ट प्रकार की है जिसका सामान्य विवेचन किया जा सकता है। दूसरा, यह प्रश्न है कि 'समस्या' शब्द का क्या अर्थ लिया जाय ? क्या भारतीय मुसलमान एक समस्या है ? या इसे पलटकर कहें, क्या वे किसी समस्या का सामना कर रहे हैं या दूसरों के लिए कोई समस्या पैदा कर रहे हैं ? अगर इसका अर्थ यह लगाया जाए कि वे एक समस्या का सामना कर रहे हैं, तब विश्लेषण एक विशेष दिशा में होगा। अगर इसका यह अर्थ लिया जाए कि वे समस्या पैदा करते हैं, तब विश्लेषण की दिशा भिन्न होगी। तीसरे, 'समस्या' शब्द की हम जो भी व्याख्या करें, स्पष्ट और सही मायने में 'समस्या' की परिभाषा की कठिनाई बनी रहेगी। अंत में, यह प्रश्न है, कि क्या भारतीय मुसलमानों की समस्या उन्होंने स्वयं पैदा की है या वह उन परिस्थितियों से पैदा हुई है जिनमें वे रहते हैं। अगर यह व्याख्या की जाए कि उनकी समस्या स्वयं भारतीय मुसलमानों की पैदा की हुई है, तब उसके उत्तर एक प्रकार के होंगे। किंतु यदि यह मान लिया जाए कि उनकी समस्या उस प्रसंग और परिस्थितियों में सन्निहित है, जो व्यापक समाज में लागू हैं, तब उत्तर सर्वथा भिन्न प्रकार के होंगे।

मेरे संपादक मित्र इन कठिनाइयों से निःसंदेह अवगत हैं और जब उन्होंने मुझे भारतीय मुसलमानों की समस्या पर लिखने के लिए आमंत्रित किया तब वे महज़ प्रचलित प्रयोग का ही पालन कर रहे थे। इन कठिनाइयों के बावजूद जिनका मैंने अभी जिक्र किया, हमारे देश में भारतीय मुसलमानों की समस्या के बारे में कहना आम बात है जिसमें 'भारतीय मुसलमानों की समस्या' मुहावरे के भिन्न अर्थों में भारतीय मुसलमान जिन कुछ समस्याओं का सामना कर रहे हैं और कुछ समस्यायें जिन्हें वे समुदाय के रूप में स्वयं दूसरों के सामने ला रहे हैं। मेरी यह मान्यता है कि 'भारतीय मुसलमानों की समस्या' मुहावरा गलत नामकरण है। यह कहना सही नहीं है कि मुसलमान कोई ऐसी समस्याओं का सामना कर रहे हैं जिन्हें भारत के अन्य

इम्तियाज़ अहमद, प्राध्यापक, समाजशास्त्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

समुदाय या समूह के सदस्य नहीं महसूस कर रहे हैं। न ही वे ऐसी कोई समस्या खड़ी कर रहे हैं जो अन्य समूह न कर रहे हों। इसलिए आगे मैं इन मुद्दों पर भारतीय मुसलमानों और सामान्यतः भारतीय समाज की जानकारी के आधार पर विवेचन करूंगा।

अपनी युक्ति को आगे बढ़ाने का एक अच्छा रास्ता यह है कि हम पहले यह प्रश्न करें कि जब यह कहा जाता है कि भारतीय मुसलमानों की समस्या नाम की कोई चीज है, तो उसका क्या वास्तविक अर्थ है। अगर यही सवाल खुद मुसलमानों से पूछा जाए तो, तब यह निश्चित है कि उसे अनेक ऐसे मसलों की फेहरिस्त मिल जाएगी जिनके बारे में वे बहुत चिंतित हैं। यह कहा जाएगा कि भारतीय मुसलमान लोगों के साथ सही सलूक नहीं हो रहा है; नौकरियों की भर्ती में उनके साथ भेदभाव बरता जा रहा है; सेवाओं में उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है, विशेषकर उच्च स्तर की प्रशासनिक सेवाओं में; उनके निजी कानून को और उनकी भाषा को, जिसमें उनकी सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत है, खतरा है। उर्दू भाषा प्रोत्साहन और सरकारी समर्थन के अभाव में लुप्त होती जा रही है। अगर कोई हिंदुओं से पूछे, तब वे दूसरे ही प्रकार की समस्याओं की सूची देंगे। कहा जाएगा कि भारतीय मुसलमान अपने को अलग-थलग रख रहे हैं; वे राष्ट्रीय मुख्य धारा का अंग बनना नहीं चाहते; वे आधुनिकीकरण की दौड़ में अन्य समुदायों और समूहों से पिछड़ रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप सारे देश की प्रगति प्रभावित होती है। वे शिक्षा में पिछड़े हुए हैं; वे अपने धर्म से अत्यधिक चिपके हुए हैं और अपने निजी कानूनों में कोई परिवर्तन नहीं चाहते, इत्यादि। कुछ अन्य मुद्दों को भी दोनों पक्षों की ओर से जोड़ा जा सकता है, किंतु मैंने उन सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जिनका कि अक्सर उल्लेख किया जाता है।

किसी भी मानदंड से समस्याओं की लम्बी फेहरिस्त और उनकी सत्यता या औचित्य को सिद्ध करने के लिए यह जरूरी है कि हर मुद्दे पर अलग-अलग विचार किया जाए और उसकी ब्योरेवार क्रमबद्ध विश्लेषण द्वारा परीक्षा की जाए। एक निबंध में इस प्रकार का प्रयास संभव नहीं है। स्थानाभाव की सीमा को ध्यान में रखते हुए यह पूछा जा सकता है कि ये मुद्दे क्या इस तथ्य से उद्भूत नहीं होते कि दोनों तरफ से किन मामलों पर कुछ भ्रांत संकल्पनाओं को लेकर या गलत पूर्व-स्थापनाओं के आधार पर विचार किया जा रहा है। इस निबंध की यह स्थापना है, कि वाकई बात ही ऐसी है और इसलिए हम पहले इस बिंदु की पुष्टि का प्रयास करेंगे।

जब भारतीय मुसलमान कहते हैं कि उनके साथ सही सलूक नहीं हो रहा है और उनके साथ दोयम दर्जे के नागरिक का व्यवहार हो रहा है या उनके निजी धार्मिक कानूनों को खतरा है, तो उसके पीछे यह पूर्व कल्पना है कि वे एकतत्वीय समुदाय हैं और समग्र रूप से ये बातें उन पर लागू होती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक आदर्श धार्मिक अर्थ में भारतीय मुसलमान एक समुदाय है और एक समुदाय की यह कल्पना उनके ऊपर उम्मा या मिल्लत के विचार से उनके लिए वास्तव में एक धार्मिक आदेश है। लेकिन यह भी मानना होगा कि उप-

देश और व्यवहार में सदा बहुत भिन्नता है। अपने विश्वास में धार्मिक आधार पर समुदाय होने का यह अर्थ नहीं कि भारतीय मुसलमान किसी मूर्त अर्थ में एक समुदाय है। सच तो यह है कि वे फिरके, जाति, वर्ग, क्षेत्रीयता और भाषाई विभेदों से इतने अधिक विभक्त हैं कि कभी-कभी उनमें भी बड़ा टकराव होता है और प्रायः उनमें आपस में स्पष्ट मतभेद और प्रतिद्वन्द्विता रहती है। इस प्रकार भारतीय मुसलमान एक समुदाय बनने की प्रक्रिया में जो उनका धार्मिक कर्तव्य है, वास्तव में भावनात्मक अर्थ को छोड़कर, किसी अर्थ में एक समुदाय नहीं है।

अगर यह बुनियादी तथ्य समझ लिया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि जिस तरह के मुद्दे प्रायः सामने रखे जाते हैं और जिन्हें भारतीय मुसलमानों की समस्या कहा जाता है, वस्तुतः एक तत्वीय समुदाय के रूप में भारतीय मुसलमानों की समस्या नहीं है। अगर है भी तो वे भारतीय मुसलमानों के किसी विशिष्ट समूह या उसके अंश की समस्यायें हैं जो फ़िरके, जाति, सामाजिक स्तर, भाषाई और क्षेत्रीय निष्ठा पर निर्भर हैं।

मसलन, हम इस शिकायत पर विचार करें कि मुसलमानों की भाषा को सरकार का प्रोत्साहन और समर्थन नहीं मिल रहा है। यदि यह मान भी लिया जाए कि उर्दू को सार्वजनिक समर्थन और प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है, तब भी क्या यह कहना सच होगा कि उर्दू सब भारतीय मुसलमानों की भाषा है या सभी मुसलमान यह महसूस करते हैं कि उसके लोप का भय है। यह तो साफ है कि भारतीय मुसलमान और उनमें उर्दू बोलने वालों की संख्या जनगणना आंकड़े से स्पष्ट है, इसकी पुष्टि नहीं होती। दूसरे, जो व्यक्ति भारतीय मुसलमानों के भौगोलिक वितरण से अवगत है वह जानता है कि वे विभिन्न भाषाई और सांस्कृतिक क्षेत्रों में फैले हुए हैं, जहाँ अनेक क्षेत्रीय भाषाएं मुसलमानों और गैर मुसलमानों द्वारा बोली जाती हैं। यहां तक कि तथाकथित हिंदुस्तानी मध्य देश में भी, जहां उर्दू जन संपर्क भाषा बन गई थी, वहां भी उर्दू सिर्फ भारतीय मुसलमानों के केवल अभिजातवर्ग द्वारा ही बोली जाती है। आम मुसलमान जो बोली बोलता है वह हिंदुस्तानी का मिश्रण है जिसमें कुछ अधिक फारसी और अरबी शब्दावलि है, लेकिन यह भी सदा सही नहीं है। यहां तक कि यह बात कि जब तमिल या बंगाली मुसलमान कुछ खुशहाल हो जाता है, वह उर्दू सीखने लगता है, लेकिन इससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि उर्दू सब मुसलमानों की भाषा है। इससे सिर्फ यही जाहिर होता है कि उर्दू अभिजातवर्ग के मुसलमानों की भाषा है, सब मुसलमानों की नहीं। इसलिये उर्दू के संबंध में सरकारी नीति चाहे जो भी हो, मुद्दा यह है कि उर्दू के साथ जो सलूक हो रहा है वह सब मुसलमानों की समस्या नहीं है।

अब हम सरकारी नौकरियों में भेदभाव और मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न को लें। जब तक कि हम यह न मान लें कि सब भारतीय मुसलमान नौकरियों की तलाश में हैं, तब तक यह कहना मुनासिब नहीं कि यह सब एकांततः मुसलमानों की समस्या है। सामाजिक

स्तरों और शैक्षणिक भिन्नताओं को देखते हुए ऐसा कहना बेहूदगी होगा। इसलिए क्षण भर के लिए इस प्रश्न को हम छोड़ दें कि नौकरियों की भर्ती में, विशेषकर सरकारी नौकरियों में, मुसलमानों के साथ भेदभाव हो रहा है या नहीं। वास्तविक स्थिति यह है कि नौकरियों में, रोजगार की तलाश मुसलमानों के उस तबके की समस्या है जो वास्तव में सरकारी नौकरियाँ तलाश कर रहा है। यह सब मुसलमानों की समस्या नहीं है और यह कहना गलत है कि यह समस्या उन्हीं तक सीमित है।

या फिर हम इस प्रश्न पर विचार करें कि मुसलमान व्यक्तिगत धार्मिक कानून में परिवर्तनों का प्रतिरोध कर रहे हैं। किसी परिवर्तन के विरुद्ध प्रतिरोध तभी होता है जब किसी की उसके साथ अत्यधिक प्रतिबद्धता हो। व्यापक वैचारिक अर्थ को छोड़कर, क्या यह सत्य है कि सब मुसलमान व्यक्तिगत निजी कानून के अंध-अनुयायी हैं और इसलिए वे उसके स्वरूप से अत्यंत निजी रूप से प्रभावित होंगे। हमारे पास मानव सांस्कृतिक अध्ययनों की प्रबल साक्षियां हैं कि भारतीय मुस्लिम सामाजिक जीवन में मुस्लिम निजी कानून के प्रति कोई सार्वभौम आस्था नहीं है। मुसलमानों की निचली जातियों और वर्गों के अधिकांश लोग विवाह, सम्पत्ति के बंटवारे और उत्तराधिकार के सम्बन्ध में वस्तुतः परंपरागत रिवाज का पालन करते हैं। यहां तक कि चाचा-ताऊ की संतानों के बीच समानान्तर विवाह प्रणाली जिसे मुसलमानों की विशेषता माना जाता है, उसका अनुपालन भी थोड़े से ही मुस्लिम समूह करते हैं और कुछ तो वास्तव में उसके खुले विरोधी हैं। इस कथन की पुष्टि उन मुकदमों के विश्लेषण से होती है जो मुस्लिम निजी कानून के अंतर्गत अदालतों के सामने ब्रिटिश राज और उसके बाद आए। इस विश्लेषण से यह जाहिर होता है कि अधिकतर उच्च सामाजिक वर्ग के ही मुसलमान ऐसे हैं जो मुसलमानों के निजी धार्मिक कानून के अनुसार फैसले कराने के पक्ष में है। इसलिए यह कैसे कहा जा सकता है कि वे मुसलमान, जो वास्तव में सामाजिक व्यवहार में मुस्लिम धार्मिक कानून का पालन नहीं करते, क्यों उसमें परिवर्तन का प्रतिरोध करेंगे।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय मुसलमानों की तथाकथित समस्यायें, जैसे कि उन्हें देखा जाता है, इस कल्पना पर आधारित हैं कि मुसलमान एक अविभाज्य समुदाय है और इसलिए ये समस्यायें सब मुसलामानों की समस्यायें हैं। यदि हम यह भी मान लें कि ये समस्यायें हैं, तो मुझे इस कल्पना के प्रति भी शंका है कि ये समस्यायें वास्तव में केवल विशिष्ट मुसलामान समूहों की ही समस्यायें हैं। इसलिए उन्हें सामूहिक तौर पर भारतीय मुसलमानों की समस्या मानना और उसके आधार पर निर्णय करना बहुत गलत होगा। यह समझना होगा कि भारतीय मुसलमानों की जनसंख्या में इतनी अंदरूनी विविधता है कि उनके प्रत्येक वर्ग को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है या जिन्हें वे पैदा करते हैं, वे बहुत भिन्न हैं। इस बात की जांच भी जरूरी है कि क्या ये समस्यायें इतनी अद्वितीय और विशिष्ट हैं कि उन्हें किसी एक समुदाय का लक्षण मान लिया जाए, या अन्य समुदायों के समूहों

के सामने भी वे हैं। इससे पहले कि हम यह कहें कि वे भारतीय मुसलमानों की समस्यायें हैं, यह जानना निहायत जरूरी है। अब हम दूसरे प्रश्न पर आते हैं कि वे समस्यायें जिनका सामना भारतीय मुसलमान कर रहे हैं या जिन समस्याओं को अन्य लोग कहते हैं कि वे पैदा कर रहे हैं, क्या वे उनके द्वारा पैदा की गई हैं या वे किसी अन्य व्यापक संदर्भ में जन्मी हैं। इस सवाल का जवाब देने के लिए हमें भारतीय जनसंख्या में मुसलमानों की आंतरिक संरचना पर विचार करना होगा और उन कारकों को ढूंढ़ना होगा जो ऐतिहासिक और समसामयिक परिस्थितियों में उन्हें प्रभावित कर रहे हैं और यह भी जांचना होगा कि क्या उनका होना अद्वितीय और विनाशकारी है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक इस सवाल का जवाब सामान्य और सरलीकृत होगा और जरूरी नहीं कि वह सही हो।

हम पहले बता चुके हैं कि धार्मिक सांस्कृतिक समूह के रूप में भारतीय मुसलमानों की आंतरिक संरचना में उल्लेखनीय जटिलता है। सांप्रदायिक, सैद्धांतिक और धर्मशास्त्रीय भिन्नताओं के अलावा, सामाजिक, आर्थिक, वर्ग स्थिति के संदर्भ में उनके पांच प्रमुख सामाजिक स्तर या श्रेणियां हैं। अनेक भारतीय मुसलमानों का यह नजरिया है कि गैर मुस्लिम भारत में सभी सामाजिक स्तरों के मुसलमानों को एक भारतीय धार्मिक अल्पसंख्यक के रूप में प्रबलतया सरकार की भेदभावपूर्ण नीतियों और शत्रुता के रुख का सामना करना पड़ता है। वे उन पर बराबर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं, जिस कारण अन्य की तुलना में ध्यानपूर्वक किये गये अवलोकन और अध्ययन से यह संकेत मिलते हैं कि प्रत्येक सामाजिक स्तर पर ये भिन्न-भिन्न हैं और स्वतंत्रता के बाद हुए सामाजिक परिवर्तनों और विकास और समकालीन भारतीय समाज द्वारा दिए गए नए अवसरों की संरचना पर निर्भर करते हैं। स्थानाभाव के कारण मैं यहां पर केवल इन भिन्नताओं की ओर ही संकेत करूंगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन भारत सरकार द्वारा कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी और भूस्वामित्व की प्रणाली में विषमता को कम करना था। जमींदारी उन्मूलन इस प्रयास का सर्वाधिक प्रत्यक्ष परिणाम था। यह मानते हुए कि असमानता को घटाने के प्रयास अभी बेमन से किये गए और आंशिक हैं, यह भी सही है कि एक साहसपूर्ण निर्णायक कदम उठाया गया। जमींदार वर्ग पर इसका जबरदस्त प्रभाव पड़ा और यह कहना गलत होगा कि वह समान रूप से विनाशकारी था।

जहां कहीं भी जमींदार सामाजिक संरचना में मूलबद्ध थे, वहाँ पर जमींदारी उन्मूलन का प्रभाव भी सीमित और सीमांत रहा। किंतु जहाँ वे गांवों में स्वयं न रहकर, मध्यस्थों के मार्फत सिर्फ लगान वसूलते थे, वहां उसका प्रभाव बहुत ही क्रांतिकारी और नाटकीय हुआ। स्थिति यह थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय बहुसंख्यक जमींदार मुसलमान ग़ैरहाजिर किस्म के थे, जब कि हिंदू जमींदार इससे कुछ भिन्न थे। इसीलिए जमींदारी उन्मूलन से हिंदुओं की तुलना में मुसलमान आमूलचूल अधिक प्रभावित हुए। यद्यपि यह भी बताना जरूरी है कि हिंदुओं में बनिये जो गैरहाजिर जमींदारों में प्रमुख थे, चूंकि वे सूदखोरी के कारण जमींनों को

हथिया लेते थे, उनको भी शायद उतना ही भारी नुकसान उठाना पड़ा। बावजूद इसके यह कहना सच न होगा कि जमींदारी उन्मूलन से कोई भी मुसलमान जमींदार बिना नुकसान उठाये नहीं बचा। औसतन वे मुसलमान जमींदार जो ग्रामीण संरचना में मूलबद्ध थे, जैसे कि उत्तर प्रदेश के किदवई और चौधरी, वे जमींदारी उन्मूलन के विनाश से बच गये, जब कि वे जमींदार जो शहरों में रहते थे उनका नाटकीय पतन हुआ। इस प्रकार इस कदम ने मुसलमानों पर प्रत्याशित प्रभाव डाला, इसलिए नहीं कि वे मुसलमान थे, बल्कि इसलिए कि वे शहर में बसे जमींदार थे।

अगर भारतीय मुसलमान यह धारणा बनाएं कि उन पर जमींदारी उन्मूलन के प्रतिकूल प्रभाव पड़े, और कुछ तो यहां तक युक्ति दे सकते हैं कि यह कदम उन्हें नुकसान पहुंचाने के लिए ही उठाया गया; तो असलियत यह है कि इससे जमींदारों को जो नुकसान पहुंचा वह उनकी आवास स्थिति का नतीजा था। उसमें उनका मुसलमान होना या न होना, कारण न था। अगर भारतीय मुसलमान इस कदम से बहुत गहरे और नाटकीय ढंग से प्रभावित हुए तो उसका यह कारण था कि उनमें से अधिक लोग दूरस्थ (एबसेंटी) किस्म के जमींदार थे, न कि यह कि वे मुसलमान थे।

मध्यमवर्गीय मुसलमानों की स्थिति एक नया नजारा उत्पन्न करती है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व मुसलमान मध्यम वर्ग का आकार अपेक्षाकृत छोटा था। इसका कोई संबंध उनके धर्म से न था, हालांकि इस तरह की युक्ति को ब्रिटिश कालीन रचनाओं में पर्याप्त सम्मान मिला है। यह मुख्यतः ब्रिटिश राज्य के भौतिक भूगोल का परिणाम था। ब्रिटिश प्रशासनिक सीमायें पहले उन इलाकों में बढ़ीं जहाँ हिंदुओं की केवल अनुकूल स्थिति ही नहीं थी, बल्कि वे पाश्चात्य शिक्षा और परिणामस्वरूप सार्वजनिक सेवाओं और वकालत, डाक्टरी जैसे सम्मानित पेशों में जो मध्यम वर्ग में भर्ती का आवश्यक साधन था, अधिक अनुपात में भर्ती हो सके। जैसे जैसे ब्रिटिश प्रशासनिक सीमा बिहार और उत्तर प्रदेश की तरफ बढ़ी, जहां मुसलमान निश्चित रूप से अनुकूल स्थिति में थे, वहां धीरे-धीरे उनका मध्यम वर्ग बना। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि भारतीय मुसलमानों में स्वतंत्रता से पूर्व मध्यम बर्ग का आकार छोटा था, तब इस कथन को निरपेक्ष अर्थ में न लेकर सापेक्ष अर्थ में लेना चाहिये। अगर इस अपेक्षतया लघु मध्यम वर्ग के भारतीय मुसलमान, देश विभाजन के बाद भारत में टिक गये होते, तब यह स्थिति इतनी खराब न होती जितनी कि आज है। कम से कम इस वर्ग के सदस्यों के दृष्टिकोण से स्वातंत्र्योत्तर भारत में दुर्भाग्य से एक खासा बड़ा तबका बिलोए मक्खन की तरह निकलकर पाकिस्तान की तरफ चला गया जहां सफेदपोश रोजगार के असाधारण अवसर थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि भारतीय मुसलमानों का मध्यम वर्ग बहुत छोटा रह गया और अभी तक इसकी वृद्धि की संभावना सीमित है। यह युक्ति भी दी गई है कि इस वृद्धि के अभाव का एक कारण भारतीय मुसलमानों के विरुद्ध नौकरियों में भर्ती के मामले में भेदभाव का बर्ताव है। इस सवाल पर मैं अभी विचार करूंगा। यह भी मानना पड़ेगा कि स्वतंत्रता प्राप्ति के

बाद हिंदू मध्यम वर्ग का पर्याप्त विस्तार हुआ है जब कि मुसलमान मध्यम वर्ग छोटा और स्थिर रह गया है। फिलहाल हमने यह संकेत किया कि यह स्थिति पाकिस्तान में इसके सदस्यों को सुलभ रोजगार अवसरों की प्रतिक्रिया का परिणाम थी जिसके कारण इस सामाजिक स्तर में उल्लेखनीय कमी आई। अगर हिंदुओं में भी इसी तरह के बहिर्गमन की प्रतिक्रिया होती तो उनके मध्यम वर्ग की हालत भी बहुत कुछ वही होती।

मुसलमान किसानों और खेतिहर कमकरों के बारे में भी बहुत कुछ यही बात लागू होती है। यह युक्ति दी जा सकती है कि पंजाब और हरियाणा के किसानों की तुलना में भारतीय मुसलमान किसान अपने हिंदू और सिक्ख साथियों की तुलना में कम बेहतर हालत में थे। लेकिन एक क्षण सोचकर देखें तो विदित होगा कि यह भी विशिष्ट क्षेत्रों में उनके निवास का परिणाम है, न कि मुसलमान होने का। अधिकांश मुसलमान किसान चावल उगाने वाले क्षेत्रों में रहते हैं जहां कृषि में उस तरह की उन्नति या क्रांति नहीं हुई है जैसी कि हरियाणा, पंजाब में या महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक के कुछ भागों में। इसके अलावा उनकी कार्य कुशलता इस बात से भी प्रभावित है कि वे ज्यादातर मझले और छोटे काश्तकार हैं जिनकी नगदी फसलें उगाने या उन्नत किस्म के बीजों, उर्वरकों और सिंचाई सुविधाओं के लिए अधिक पूंजी विनियोग की क्षमता सीमित है। इसलिए गेहूँ उत्पादक क्षेत्रों की तुलना में, चावल उत्पादक क्षेत्रों के भारतीय मुसलमान कृषक पिछड़े हुए हैं। लेकिन उनकी हालत उसी इलाके के उसी आकार वाले खेतों के मालिकों और उतनी ही कृषि कुशलता वाले हिंदुओं से कमजोर नहीं है, लगभग उन जैसी ही है। यह दीगर बात है कि चावल उत्पादक क्षेत्रों में अधिकांश भारतीय मुसलमान छोटे किसान हैं और वे हिंदू और सिक्खों की तुलना में, जिनके पास बड़ी जोतें हैं, उतनी अच्छी खेती नहीं कर सके हैं।

एक आर्थिक क्षेत्र जिसका स्वतंत्रता के बाद भारत में सर्वाधिक विस्तार हुआ है वह शायद वाणिज्य और व्यापार का है। इस क्षेत्र में भारतीय मुसलमानों की उपलब्धि उल्लेखनीय है, जो कुछ हद तक उनमें लघु उद्यमी वर्ग से पुष्ट होती है। इसमें भी भारतीय मुसलमानों और अन्य लोगों की कार्यकुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि वे किस पैमाने पर काम कर रहे हैं। यह युक्ति दी जा सकती है कि इसका कारण धार्मिक भिन्नता है। यहां पुनः इस भिन्नता की कैफ़ियत मुख्यतः धार्मिक वर्गों की लौकिक (सेक्यूलर) भिन्नताओं में है। आर्थिक दृष्टि से सफल उद्यमियों ने वाणिज्य और व्यापार में हाल के विस्तार का अधिक फायदा गुजरात या महाराष्ट्र जैसे इलाके में उठाया जो ब्रिटिश राज्य के प्रारम्भ से ही व्यापारिक और औद्योगिक विकास के केंद्र थे। इस प्रकार के उद्यमी पर्याप्त संख्या में, विशेषकर खोजा और अन्य परंपरागत मुसलमान व्यापारिक समुदाय पाकिस्तान निष्क्रमण कर गए, और खबरों से पता चलता है कि वहां वे आर्थिक दृष्टि से बहुत कामयाब हुए। परिणामतः अब अधिकांश भारतीय मुसलमान जो व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए हैं नए प्रवेशार्थी हैं जो हिंदू, सिक्ख और जैनों की तुलना में छोटे पैमाने पर काम कर रहे हैं। फिर भी कुछ विशिष्ट व्यापार के कार्यों में उनका नाम है और उनका बड़ा अंश है।

इसी प्रकार भारतीय मुसलमान दस्तकार और शिल्पी पर्याप्त सफल हुए हैं। निस्संदेह हाथ की बनी कलात्मक वस्तुओं की देश के अंदर और बाहर मांग पिछले सालों में बहुत बढ़ी है जिससे दस्तकारों को लाभ पहुंचा है। अन्य किसी क्षेत्र की तुलना में इसका विशेष लाभ भारतीय मुसलमानों को ही मिला है। लगभग मुगल काल से ही उनके पास कुछ विशिष्ट कौशल रहे हैं जिन्हें पहले मुगल बादशाहों ने राजाश्रय दिया, चूंकि उनकी सेवायें और सामान राज्य के लिए महत्वपूर्ण थे, या इसलिए कि उनसे शासक कुलीनतंत्र को प्रतिष्ठा मिली थी। मुगल शासन के पतन के बाद, ब्रिटिश काल में मिल की बनी वस्तुओं की प्रतियोगिता के फलस्वरूप दस्तकारों और शिल्पकारों के बुरे दिन आए। बिना धार्मिक भेदभाव के सभी दस्तकारों का यह दुर्भाग्य रहा। हाल के वर्षों में हस्तशिल्प की वस्तुओं की मांग बढ़ने के फल-स्वरूप इस सामाजिक वर्ग के भारतीय मुसलमान सदस्यों को बड़ा प्रोत्साहन मिला है क्योंकि उन्हें मुगलकाल से ही यह हुनर विरासत में मिला था। अधिकांश भारतीय मुसलमान कारी-गरों ने आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप अपने भिन्न-धर्मी साथियों की तरह पारंपरिक कौशल को ढाल लिया है। इस तरह मोटे तौर पर भारतीय मुसलमान दस्तकारों की हालत काफी अच्छी है और इस कामयाबी का कारण उनका धर्म न होकर, उनका हुनर और काबलियत है।

अब हम भारतीय मुसलमानों के आखिरी वर्ग की चर्चा करेंगे। वह है सामंतों के सेवक, टहलुए जो परंपरा से राजतंत्रीय या सामंती व्यवस्था पर आधारित थे। चूंकि वे कुलीनों और राजा महाराजाओं की सेवा में लगे थे और उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाते थे अत:रियासतों की समाप्ति ने इनकी परंपरागत दक्षता को बेकार कर दिया, क्योंकि अब वे प्रासंगिक नहीं रहीं। बाजार में उनकी मांग घट गई या बिल्कुल ही खत्म हो गई। उदाहरण के लिए, जैसे पीलवान या महावत और सईस इत्यादि, जिनका कि सामंती व्यवस्था में विशेष स्थान था। वे अब अकुशल मजदूरों के स्तर पर आ गए और मजूरी करना भी उनके लिए मुश्किल हो गया। चूंकि देशी राज्यों में न तो अधिक औद्योगिक विस्तार हुआ और न ही अधिक विकास कार्य, इसलिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय मुसलमानों का यह वर्ग एक तरह से बहुत ही आर्थिक विपन्नता की स्थिति में पहुंच गया।

लेकिन इस वर्ग की आर्थिक दुर्दशा और पतन के लिए उनके मुसलमान होने को दोष देना या उस पर जोर देना गलत होगा। इस वर्ग के पतन का कारण उनका मुसलमान होना न था। वह वस्तुत: उनकी भौगोलिक स्थिति का परिणाम था। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि वे पिछड़े देशी रजवाड़ों में बसे हुए थे और उन इलाकों में अधिक उपयुक्त विकास नहीं हुआ, और न ही बड़े सार्वजनिक निर्माण कार्य, जहां उन्हें अकुशल मजदूरों के तौर पर काम मिल जाता। हालांकि सामान्य आर्थिक मानदंडों से वे गरीब हैं, लेकिन उन्हें भारतीयों में निर्धनतम नहीं कहा जा सकता। अभी भी उनकी तुलना जनजातीय और अनुसूचित जातियों के सदस्यों से नहीं की जा सकती, जो भारतीय जनता का सर्वाधिक निर्धन वर्ग है।

अभी तक की हमारी चर्चा यह दर्शाती है कि भारतीय मुसलमानों के संबंध में जो सामान्य बातें वे स्वयं या उनकी समस्याओं के बारे में अन्य लोग कहते हैं, वे वस्तुतः परीक्षणीय तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। हमारी चर्चा ने यह भी दर्शाया कि पिछले ३६ वर्षों के विकास का प्रभाव सब भारतीय मुसलमानों पर एक-सा नहीं पड़ा है, पर यह प्रतिकूल प्रभाव इसलिए नहीं पड़ा कि वे मुसलमान थे, बल्कि इसका कारण विभाजन से पूर्व की कुछ स्थितियां थीं और पाकिस्तान बनने के बाद निष्क्रमण का स्वरूप था और देश की व्यापक आर्थिक संरचना में हो रहे परिवर्तनों से सांमजस्य स्थापित करने की उनकी योग्यता थी। भारतीय मुसलमानों के कुछ तबकों में बहुत कम सामाजिक और आर्थिक गतिशीलता या पद-परिवर्तन हुआ, किन्तु इसमें वे अकेले नहीं हैं। अन्य धार्मिक समुदायों में भी उनके समकक्ष पूर्वस्थिति वालों की हालत बहुत कुछ वैसी ही रही। भारतीय मुसलमानों के कुछ अन्य वर्गों ने विकास को संभावनाओं और वृद्धि के अवसरों का फायदा उठाया है। इसलिए समग्र रूप से जो कुछ भारतीय मुसलमानों के साथ हुआ है वह उनकी उपलब्ध कुशलता और दक्षता और साथ ही भौगोलिक स्थिति का परिणाम है। इस प्रकार की स्थिति उस सामान्य जनसंख्या की भी रही है जिसके वैसे ही लक्षण थे या प्रतिकूल आवास स्थिति थी। इसमें भारतीय मुसलमानों के रूप में उनकी हैसियत निर्णायक नहीं थी जैसा कि आम तौर से भारतीय मुसलमान या गैर मुसलमान अकसर समझते हैं।

यह युक्ति दी जा सकती है कि इस स्पष्टतः सुखद निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए मैंने चतुराई से भेदभाव बरतने के प्रश्न की उपेक्षा की है जिसकी कि भारतीय मुसलमान प्रायः शिकायत करते हैं। अब मैं इस प्रश्न पर विचार करूंगा। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए यह जरूरी है कि भारतीय समाज की बुनियादी प्रकृति को समझा जाए। भारतीय संदर्भ में भारतीय समाज को बहुलवादी (प्लूरल) कहने का या मानने का आम रिवाज़ है। और चूंकि धार्मिक समुदाय एक निश्चित सामाजिक इकाई है, इसलिए जब भेदभाव बरता जाता है, तो वह धार्मिक समुदायों पर लागू होता है। भारतीय समाज के चरित्र का यह सर्वथा भ्रांत चित्रण है। भारतीय समाज बहुलवादी समाज नहीं है, यह एक विखंडित (सेग्मेंटेड) समाज है जिसमें अस्मिताएं न तो निश्चित हैं और न ही वे किसी विशिष्ट स्तर के अर्थ में परिभाषित हैं। वस्तुतः वे एक खिसकते हुए पैमाने की तरह हैं जो निम्न स्तर विखंडन से उच्च स्तर विखंडन की ओर बढ़ता है, सिकुड़ता या बढ़ता है।

भारतीय समाज की विखंडित प्रकृति का एक परिणाम यह है कि सामाजिक समूहों की सीमाएं बदलती रहीं हैं और भिन्न भिन्न हैं। प्रत्येक समूह अपने को विखंडन के एक विशिष्ट स्तर पर एक या अधिक समूहों में विभक्त करता है, किन्तु ये समूह विखंडन के उच्च स्तर पर अन्य समूहों के विरुद्ध आपस में मिल जाते हैं। इस प्रकार मुसलमान और गैर मुसलमान दोनों ही उपजातियों, जातियों, सामाजिक वर्गों, संप्रदायों और क्षेत्रीय समूहों में बंटे हैं और एक व्यक्ति की अनेक अस्मिताएं हैं, जिनमें से प्रत्येक विखंडन की सामाजिक और आर्थिक अंतर्क्रिया के एक विशिष्ट संदर्भ में प्रासंगिक है।

जब ऐसे समाज में भेदभाव बरता जाता है, वह स्थान विशिष्ट हो जाता है और सामाजिक अंतर्क्रिया के प्रत्येक पृथक और सभी स्तरों पर लागू होता है। उदाहरण के लिए ऐसे समाज में एक सैयद, गैर-सैयद के विरुद्ध भेदभाव बरतता है, एक सुन्नी शिया के विरुद्ध, एक मुसलमान गैर मुसलमान के विरुद्ध। इसी प्रकार एक ब्राह्मण, एक बनिए और अहीर के विरुद्ध भेदभाव बरतता है, एक आर्यसमाजी सनातनी के विरुद्ध और एक हिंदू गैर-हिंदू के विरुद्ध। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति एक या भिन्न प्रसंग में दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध भेदभाव बरतता है या भेदभाव का शिकार होता है। अंततोगत्वा इस भेदभाव का व्यक्ति पर क्या प्रभाव है, इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी क्या पद-स्थिति है। यदि वह दूसरों को फायदा पहुंचाने की स्थिति में है, तब वह अपने समूह के सदस्यों को वरीयता देगा और उसका परिणाम होगा कि एक व्यक्ति का पक्षपात अंततः दूसरों के पक्षपात को काट देगा। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति लाभ पाने वाला और हानि उठाने वाला, दोनों ही साथ साथ हैं।

फिर भी यह युक्ति दी जा सकती है कि इसके बावजूद भी मुसलमानों की स्थिति विशेषकर आघात योग्य और कठिन है। चूंकि धार्मिक समुदाय विखंडन का एक उच्च स्तर है इसलिए इस बात की अधिक संभावनाएं है कि मुसलमानों के साथ ज्यादा अधिक भेदभाव बरता जा सकता है जो अन्य समूहों के सदस्यों पर उतना लागू नहीं होता। शायद यह काफी अंश तक सत्य है। पर तब यह समस्या भारतीय समाज की है, न कि भारतीय मुसलमानों की। इसलिए इसे महज भारतीय मुसलमानों की समस्या मान लेना गलत और तथ्यों को तोड़ना-मोड़ना होगा। अंत में, प्रश्न यह है कि उन पूर्वाग्रहों को समाप्त किया जाए जो मुसलमानों के विरुद्ध दीवार खड़ी करते हैं और उन्हें वितरण के आवंटन के लाभ से वंचित करते हैं, उन्हें आवंटन के लाभ इस तरह वितरित हों कि राष्ट्रीय कार्यस्थल में उनकी समता सुनिश्चित रहे।

सांप्रदायिक दंगे और मुसलमान*
उभरती चेतना का प्रतीक अथवा निराशा का आक्रोश ?

नरेश चन्द्र सक्सेना

स्वतंत्र भारत में गंभीर सांप्रदायिक दंगों की शुरुआत जबलपुर में सन् १९६१ में हुई। उसके बाद १९६४ में काश्मीर की हज़रतबल मस्जिद में हुई चोरी को लेकर पूर्वी पाकिस्तान के खुलना तथा पश्चिमी बंगाल के कलकत्ता में भयानक दंगे हुए जो राजगढ़, जमशेदपुर और राउरकेला में फैले। दंगों का दूसरा दौर १९६७-६८ में आया जब उत्तरी भारत के कई प्रदेशों में कई दलों की मिली-जुली संविद सरकारें थीं। रांची, हटिया, गोरखपुर, मेरठ में भी भयानक दंगे हुए। रघुवर दयाल कमीशन रिपोर्ट के अनुसार अकेले रांची हटिया में १८४ व्यक्ति मारे गये जिनमें १६७ मुसलमान थे। फिर अहमदाबाद तथा भिवंडी (महाराष्ट्र) में उग्र सांप्रदायिक दंगे हुए। १९७१ से १९७७ तक देश में अपेक्षाकृत सांप्रदायिक घटनायें बहुत कम हुईं। तत्पश्चात जमशेदपुर, मुरादाबाद, अलीगढ़ और मेरठ की वारदातें अब तक लोगों के दिमाग में ताज़ी हैं। एक समाजविद् के मत में सांप्रदायिक दंगे उस अवधि में अधिक हुए हैं जब केंद्रीय सरकार कमजोर रही।

मुख्य प्रश्न है, यह निरर्थक रक्तपात क्यों ? मुरादाबाद तथा मेरठ की घटनाओं के बाद आज फिर वही घिसे पिटे तर्क सुनने में आ रहे हैं, 'पुलिस में आर०एस०एस० घुस गई है', 'सांप्रदायिक गुंडे सक्रिय हो गये हैं', 'बाहर के देश दंगा करवा रहे हैं' आदि।

इस प्रसंग में दंगों की उत्पत्ति के कारण तथा उनके परिणाम का भेद समझना आवश्यक है। गुंडे, बाहरी देश अथवा अराजक तत्व दंगों में अपनी भूमिका अवश्य निभाते हैं, परंतु इन्हें दंगों का मूल कारण मानना उतना ही ग़लत होगा जितना यह कहना कि १९७८ में हुए अलीगढ़ के दंगे का कारण भिन्न समुदायों के दो पहलवानों का दंगल था। हर दंगे के पीछे दो संप्रदायों के बीच तनावपूर्ण स्थिति, दूषित वातावरण, पिछली कई सदी के इतिहास की कटु

* ये लेखक के निजी विचार हैं और उनका शासन अथवा अल्पसंख्यक आयोग से कोई संबंध नहीं है।

नरेश चन्द्र सक्सेना, संयुक्त सचिव, अल्पसंख्यक आयोग, नई दिल्ली।

यादें, आर्थिक असमानता की जटिलतायें तथा कुछ निहित स्वार्थ छिपे रहते हैं जो दंगों से परोक्ष या प्रत्यक्ष लाभ उठाते हैं।

अन्य देशों जैसे अमेरिका, श्रीलंका, नाइजीरिया, मलयेशिया आदि में हुए इस प्रकार के दंगों से तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः जब भी बहुसंख्यकों तथा अल्पसंख्यकों के बीच झगड़ा होता है तो आरंभिक उत्तेजना और दंगों की प्रेरणा अल्पसंख्यकों की ओर से पैदा की जाती है, परंतु वास्तविक आक्रमण और हिंसा बहुसंख्यकों की ओर से होती है। दंगों की उग्रता और रक्तपात में बहुसंख्यक समुदाय की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। यदि किसी दंगे में होने वाली घटनाओं का विश्लेषण किया जाय तो सामान्यतः यह नजर आयेगा कि पहले दिन मरने वाले और घायलों की संख्या में दोनों समुदाय के लोग लगभग बराबर के अनुपात में हैं। तत्पश्चात अगले दिनों में होने वाली घटनाओं में अल्पसंख्यकों के जानमाल की बहुत अधिक हानि होती है। १९६८ से लेकर १९८० तक हुए दंगों में १५९८ मुसलमान और ५३० हिंदू मारे गए। भिवंडी के झगड़े में १४२ मुसलमान और २० हिंदुओं की जानें गयीं। जमशेदपुर में १९७९ में हुए दंगों में १२ हिंदू और ११५ मुसलमान मारे गये।

सभी प्रकार की हिंसात्मक घटनायें निरर्थक नहीं होतीं। प्रजातांत्रिक देशों में संगठित हिंसा की घटनाओं के पीछे जो मूल भावना होती है वह है, सत्ता को डरा-धमकाकर अपने समुदाय के लिए अधिकार प्राप्त करना या शासन को अपनी बात मानने के लिए मजबूर करना। पंजाबी सूबे की मांग, गुजरात का नवनिर्माण आंदोलन, मद्रास (१९६५) की हिंदी विरोधी मुहिम और वर्तमान पंजाब और असम आंदोलन इसके उदाहरण हैं। इन आंदोलनों में राजनैतिक पार्टियाँ, बाहरी देश तथा असामाजिक तत्व अपनी-अपनी भूमिका अवश्य अदा करते हैं। परंतु कोई आंदोलन अथवा विरोध तब तक उत्तेजनात्मक रूप धारण नहीं कर सकता जब तक वास्तविक या काल्पनिक कोई गंभीर व्यथा या पीड़ा लोगों को बेचैन न कर रही हो।

हिंदू-मुसलमान दंगे अन्य आंदोलनों तथा व्यापक हिंसा की घटनाओं से बहुत भिन्न हैं। ये दंगे किसी विशिष्ट माँग को लेकर नहीं होते। यह भी सर्वविदित है कि इन घटनाओं से अल्पसंख्यकों के स्तर तथा अधिकारों में कोई सुधार नहीं हुआ है। प्रत्येक सांप्रदायिक दंगे ने हिंदुओं को और भी उग्र और तीक्ष्ण बनाया है जब कि अल्पसंख्यकों की मनोवृत्ति और भी अधिक बेबस, व्याकुल और हतोत्साहित हुई है। इस प्रतिक्रिया के कारण उन स्थानों में भविष्य में सांप्रदायिक दंगों की संभावनायें और भी बढ़ जाती हैं। जब अल्पसंख्यकों को इन दंगों से हर प्रकार की शारीरिक और मानसिक हानि होती है तो फिर इन घटनाओं में उनका योगदान क्यों होता है? पुलिस पर हमला कर क्यों यह समुदाय आत्महत्या पर उतारू हो जाता है? ये महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। इस निबंध में इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया गया है।

यद्यपि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है जहां प्रत्येक व्यक्ति को बराबर अधिकार प्राप्त हैं और उच्च स्तर पर शासन तथा अखिल भारतीय राजनैतिक पार्टियों की हमेशा से यह कोशिश रही है कि अल्पसंख्यकों को राजनीति तथा शासन के उच्च पदों पर बराबर स्थान दिया जाय, फिर भी यह एक कटु सत्य है कि आज मुसलमान समाज की मानसिक स्थिति सामान्य नहीं है। उनमें पराजय, नैराश्य तथा उपेक्षा की भावना भरी हुई है। इसके कई कारण हैं। मुसलमान समझते हैं कि जाति और क्षेत्र के आधार पर राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के प्रयत्न जहां देश को मान्य हैं और सफल भी हुए हैं, केवल उन्हीं की इस प्रकार की कोशिशों को सांप्रदायिक करार दिया जाता है। भारत के भाषायी अल्पसंख्यक किसी न किसी क्षेत्र में सत्ता प्राप्त किये हुए हैं पर एक समूह के रूप में मुसलमानों का भौगोलिक वितरण इस प्रकार से है कि वे अपनी सांस्कृतिक एकरूपता को सशक्त राजनीतिक वर्ग के रूप में परिवर्तित नहीं कर सकते। चूंकि अधिकतर मुस्लिम विधायक हिंदुओं के समर्थन के बल पर निर्वाचित होते हैं, इसलिए जहां कही भी मुस्लिम विचार बिंदु का टकराव बहुसंख्यकों के विचारों से होता है, वहाँ वे विधायक अपनी आवाज़ उठाने में संकोच अनुभव करते हैं।

१९७२ में जब अल्पसंख्यकों के बीच में यह भावना अत्यधिक प्रबल थी कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का स्वरूप बदला जा रहा है तब उत्तर भारत का समस्त मुस्लिम समाज उद्वेलित था। पर यह उल्लेखनीय है कि लोकसभा में अलीगढ़ विश्वविद्यालय विधेयक पेश किये जाने पर उत्तर भारत के किसी भी मुसलमान सदस्य ने इसका विरोध नहीं किया था।

यद्यपि मुसलमान समाज उपेक्षा और बेचैनी की भावना से ग्रस्त है, फिर भी इससे यह मतलब नहीं निकलता कि भारत में अल्पसंख्यकों के साथ अन्याय हुआ है। अन्य देशों के अल्पसंख्यकों की तुलना में भारत में अल्पसंख्यकों को हर स्तर पर प्रतिनिधित्व दिया गया है। फिर भी क्या कारण है कि जब मौलाना आज़ाद को शिक्षा मन्त्री का पद दिया गया तो मुस्लिम समाज में बजाय प्रसन्नता के नाराजगी और बढ़ी, और उन्हें हिंदुओं का पिट्ठू समझा गया। उनकी भावना को एक शायर ने निम्न पद में उस समय व्यक्त किया था :—

'तेरे बुलंद मनासिफ की खैर हो या रब,
जिसके लिए किया तूने ख़ुद ही को हलाक़।

अर्थात् आपके ऊँचे पद के लिए आपको बधाई, जिसके लिए आपने अपनी आत्मा की हत्या कर दी।

इसी प्रकार डा० जाकिर हुसैन जो भारत के प्रथम मुस्लिम राष्ट्रपति थे, ने स्वयं अपने उच्चतम पद पर तैनात होने पर हिंदुओं और मुसलमानों की भावनाओं को निम्नलिखित पद में व्यक्त किया :—

'जाहिदे-तंग-नजर ने मुझे काफ़िर जाना,
और काफ़िर यह समझता है मुसलमां हूँ मैं ।'

दरअसल धर्मनिरपेक्षता तथा अल्पसंख्यकों की समुचित भूमिका के बारे में हिंदुओं और मुसलमानों के मत भिन्न-भिन्न हैं । हिंदुओं के अनुसार भारत में केवल एक संस्कृति है और वह एक राष्ट्र है । सभी व्यक्ति, जाति, भाषा या धर्म के आधार पर बिना किसी भेदभाव के भारत में रहने तथा अधिकार पाने के हकदार हैं । किंतु ऐसी कोई रियायत नहीं दी जा सकती जिसका यह आशय हो कि अल्पसंख्यकों का एक पृथक राजनैतिक स्तर है या उनका एक पृथक राष्ट्रीय समुदाय है । उक्त दृष्टिकोण व्यक्तिगत समानता को प्रोत्साहन देता है । किंतु यह दृष्टिकोण समुदाय के बिना पर अधिकारों की मांग को निरुत्साहित करता है । दूसरा मत मुसलमानों का है जिसके अनुसार भारत में कई समुदाय हैं उनकी अलग-अलग संस्कृति है । इसलिए धर्म-निरपेक्षता का अर्थ बहुवाद (प्लूरलिज्म) है और इसे तभी सफल माना जाय जब अल्पसंख्यकों को अपने सांस्कृतिक और राजनैतिक हितों को संगठित करने की अनुमति हो और उन्हें स्पष्ट राजनैतिक विशेषाधिकार दिये जाएं । यदि उनका जनसंख्या में अनुपात आज १२ प्रतिशत है तो उनके समुदाय के साथ न्याय होना तभी माना जा सकता है जब संसद, सेना, पुलिस व सभी स्तर की सरकारी नौकरियों में उनका अनुपात १२ प्रतिशत हो । यदि ऐसा नहीं है, तो वे समझेंगे कि उनके साथ अन्याय हुआ है । दृष्टिकोणों का यह मतभेद स्वतंत्रता पूर्व के दिनों से है, जब मुसलमान हिंदू-मुस्लिम एकता का अर्थ हिंदू-मुस्लिम समानता समझता था और हिंदू धर्म की इस भिन्नता को पूर्णरूप से मिटा देना चाहते थे ।

अल्पसंख्यक मंचों पर जिन मुद्दों की बात की जाती है उनमें अधिक तत्व नहीं है । कोई भी अखिल भारतीय राजनैतिक पार्टी मुस्लिम कानून (पर्सनल ला) को बदलने के पक्ष में नहीं है । अतः उनका यह डर कि उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप किया जा रहा है, एकदम निर्मूल है। उर्दू के सम्बन्ध में भी उनका डर उनकी भ्रांत विचारधारा को दर्शाता है । एक वैकल्पिक विषय के रूप में उर्दू को अधिक से अधिक स्कूलों में पढ़ाया जाना चाहिए तथा मुसलमान बहुल क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा भी उर्दू के माध्यम से होनी चाहिए, जैसी कि सरकारी नीति भी है । पर उर्दू कभी माध्यमिक विद्यालय तथा विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती ।

यह सही है कि बहुत से कारणों से मुसलमान समुदाय आर्थिक विकास में औरों की तुलना में पीछे रह गया है । बतौर किसान उनकी संख्या मुख्यतः धान उत्पादन क्षेत्रों में केंद्रित है जहां उतना लाभ नहीं हुआ जितना गेहूं उत्पादन क्षेत्रों को हुआ है । उद्योगों में उनका मुख्य संबंध पारंपरिक हस्तशिल्प कलाओं से था जिसमें उतना विकास नहीं हुआ जितना व्यापार के क्षेत्र के बड़े, मध्यम तथा आधुनिक लघु उद्योग क्षेत्रों में दिखाई देता है ।

मुसलमान संप्रदाय का सेवाओं के क्षेत्र में योगदान इतना न्यून क्यों है ? शासन के औद्यो-

गिक एवं व्यवसायिक प्रतिष्ठानों के अधीन पदों में उनका प्रतिनिधित्व पिछले २५ वर्षों में गिरा है। इसका कारण उनके प्रति भेदभावपूर्ण नीति उतनी नहीं है जितना कि उनके अंदर जोखिम, उत्साह और मानसिक तत्परता का अभाव होना। क्या यह सहज संयोगभाव है कि अन्य कई देशों में जैसे रूस, मिस्र, लेबनान, युगोस्लाविया, थाईलैंड, फिलीपींस, श्रीलंका तथा मलयेशिया, जहां मुस्लिम समुदाय के साथ अन्य धर्म के लोग रह रहे हैं, उनकी अपेक्षा भारतीय मुसलमान आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं। क्या कारण है कि भारत में ६०० साल मुसलमान शासक रहे और फिर १८२०-७० की अवधि को छोड़कर बाकी ७० वर्ष अंग्रेज भी मुसलमानों को सहानुभूति देते रहे फिर भी आज वे आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं ?

दुःख तो इस बात का है कि तथाकथित मुसलमान नेता सही माने में उनकी आर्थिक परेशानियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। उत्तर प्रदेश के लगभग ९० प्रतिशत जुलाहे मुसलमान हैं। १९७२-७४ में सूत के दाम बढ़ जाने के कारण उनके ऊपर परेशानियों का पहाड़ टूट पड़ा, परंतु उस समय की अल्पसंख्यक पत्रिकाओं जैसे 'दावत' और 'रेडिएंस' में इस विषय पर एक भी लेख नहीं लिखा गया। इन पत्रिकाओं में उस समय केवल अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अथवा उर्दू के स्वरूप पर ही चर्चा होती रही, जिसका संबंध कुल मुस्लिम जनसंख्या के केवल ५-१० प्रतिशत से था। काफी बड़ी संख्या में मुस्लिम गांवों में सीमांत कृषक हैं या बटाईदार हैं। आज तक यह सुनने में नहीं आया कि किसी मुसलमान प्लेटफार्म से इन समस्याओं की विवेचना की गयी हो या इनकी ओर शासन का ध्यान दिलाया गया हो।

भय तथा निराशा की प्रतिकूल परिस्थितियों की प्रतिक्रिया सभी समुदायों पर एक समान नहीं होती। यहूदी समाज को ही लें। दुर्भाग्य ने उन्हें संगठित किया और उनमें मानसिक बल तथा सामाजिक शक्ति दी। गुलामी की परिस्थितियों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा बीसवीं शताब्दी के शुरू में हिंदुओं के बीच आर्य समाज आंदोलन चला जिसके फलस्वरूप हिंदू समाज के भीतर अनेक सुधार हुए। अधिक संख्या में विद्यालय खोले गए, महिला शिक्षा को उच्च प्राथमिकता दी गयी तथा सामाजिक कुरीतियों पर घातक प्रहार किया गया। परंतु इसके विपरीत, जब कुछ अन्य समुदायों पर आक्रमण होता है तो वे संकीर्ण मुद्दों को उठाते हैं और मनोविकार से ग्रस्त हो जाते हैं परिणामतः सामाजिक पतन, आर्थिक और बौद्धिक उदासीनता तथा निराशा की स्थिति उत्पन्न होती है। दुर्भाग्य से भारत के मुसलमान इसी श्रेणी में आते हैं। निराशा और पतन की भावना विकृत रूप में अलगाववाद को जन्म देती है। बाँगला देश के सृजन के समय यदि तत्कालीन मुस्लिम अखबारों, जैसे 'दावत', 'सिद्के जदीद', 'नशेमन', 'रेडिएंस' तथा 'जमायत टाइम्स' का अध्ययन किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि पाकिस्तान के विभाजन से इन अखबारों के लेखक तथा सम्पादक प्रसन्न नहीं हुए।

सब मिलाकर मुसलमान समाज को स्वतंत्र भारत के स्पर्धात्मक समाज में अपना भविष्य

अंधकारमय नजर आता है । उनके अधिकांश नेताओं में समस्याओं का सही विश्लेषण करके रास्ता निकालने की न तो क्षमता रह गयी है और न ही इच्छा । अधीरता और व्याकुलता की स्थिति में उन्हें हर गैरमुस्लिम अपना दुश्मन नज़र आता है, खास तौर पर पुलिस । इससे तनाव बढ़ता है और छोटी-छोटी बातें दंगों का सीधा कारण बन सामने आती हैं । अलीगढ़, मुरादाबाद वगैरा पुराने शहरों की गंदगी, पानी और सफाई की कमी, पतली संकरी गलियां तनाव की संभावनाओं को और भी उग्र बना देती हैं । जितना ही अल्पसंख्यक देश की मुख्य विचारधारा से हटेंगे, उतनी ही उनमें प्रतिहिंसा बढ़ेगी । अन्य देशों जैसे अमेरिका के गोरी और काली नसलों के संघर्ष का इतिहास बताता है कि मनमाने अत्याचार की घटनायें ऐसे समुदाय के खिलाफ ज्यादा होती हैं जिन्हें समाज का अभिन्न अंग न समझा जाता हो, जिनका अस्तित्व बहुसंख्यक समाज की नजरों में सीमांत (मार्जिनल) हो, यानी छोर पर हो ।

किस हद तक मुसलमानों को इस देश का पूर्ण नागरिक समझा जाता है, इसका मैं एक उदाहरण दूँ । अलीगढ़ में मैं एक बार हिंदू मुस्लिम एकता पर भाषण दे रहा था । एक हिंदू सज्जन बड़े प्रभावित हुए और मंच पर आकर बोले "देखिये साहब, साथ-साथ रहने से तो कुत्ते बिल्ली से भी प्यार हो जाता है । क्या हुआ यदि ये मुसलमान हैं । हमें इनसे भी प्यार करना चाहिये ।" दूसरे समुदाय के प्रति इस प्रकार की कुछ मेहरबानी और एहसान दिखाने वाली मनोवृत्ति हिंदू मुसलमानों के समतापरक सौहार्दपूर्ण संबंधों के लिए अच्छी नहीं कही जा सकती । हिंदू और मुसलमान दोनों ही समुदायों को अपने संकीर्ण खोल से बाहर निकलकर एक दूसरे के साथ इंसानी संबंध स्थापित करने होंगे और एक दूसरे को शक की नजर से देखने की मनोवृत्ति त्यागनी होगी ।

प्रशासन और पुलिस की भूमिका

प्रशासन और पुलिस का रवैया अल्पसंख्यकों के प्रति पक्षपातरहित नहीं रहा है । १९६१ में अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के अंदर कुछ हिंदू लड़कों के पीटे जाने पर जो दंगा हुआ, उसकी सबसे दर्दनाक घटना मानिक चौक मुहल्ले में हुई जिसमें ७ मुसलमान जिंदा जला दिये गये । मुसलमानों के मकानों में आग लगने के तुरंत बाद एक मजिस्ट्रेट और पुलिस अधिकारी की टोली पहुंची । उन्होंने असामाजिक तत्वों द्वारा आग लगाने की घटना को देखा, पर यह कहते हुए कि "इस भयानक घटना की सूचना तुरंत उच्च अधिकारियों को दी जानी है और अतिरिक्त फोर्स का प्रबंध करना है", वे घटनास्थल से चले गए ।

पुलिस टुकड़ी मकानों के पूरी तरह जल जाने के काफी बाद पहुंची : इसी तरह क्या यह संयोग मात्र था कि १९६८ में जमायत उले-उलमा द्वारा शेख अब्दुल्ला को बुलाए जाने पर मेरठ में जो दंगा हुआ उसके कई दिन बाद तक स्थानीय मुसलमान नेताओं के टेलीफोन कटे रहे । यह कोई नहीं जानता कि ऐसा किसके आदेशों पर हुआ । १९७९ में जमशेदपुर में

हुए दंगों के दौरान बी० एम० पी० और हिंदू असामाजिक तत्वों के गठबंधन ने जो कुछ किया उसके बारे में उस समय के समाचारपत्रों तथा जांच कमीशन की रिपोर्ट में काफी कुछ लिखा जा चुका है।

जानबूझ कर प्रशासन तथा पुलिस पक्षपातपूर्ण रवैया नहीं अपनाती। इसके पीछे अल्पसंख्यकों के प्रति घृणा और अविश्वास का जहर है जिससे बहुत-कम हिंदू भी पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। इस भावना को बढ़ावा देने में अल्पसंख्यकों के तथाकथित नेताओं का गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार भी है।

इतिहास का अध्ययन

मानसिक विकृति का एक कारण हमारी इतिहास की पुस्तकें हैं जो मुसलमानों और मुसलमान शासकों को खलनायक के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

आंध्र प्रदेश में तीसरी कक्षा के विद्यार्थियों के लिए एक पुस्तक थी जिसमें १३ पाठ थे–रामायण, महाभारत, बुद्ध, अशोक, विक्रमादित्य, हर्ष, पुलकेशिन, प्रतापरुद्र, पद्मिनी, कृष्णदेव राय, शिवाजी, लक्ष्मीबाई और महात्मा गाँधी। क्या लेखक को भारत के ६०० साल के इतिहास में एक भी मुसलमान नायक नहीं मिला जिसकी प्रशंसा की जा सके? कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी पुस्तकें पढ़कर हिंदू बच्चे मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यकों को इस देश का नागरिक न समझें। जब कि सच यह है कि ९५ प्रतिशत मुसलमान अपना हिंदू धर्म बदलकर मुसलमान हुए हैं और लगभग उतनी ही शताब्दियों से भारत में रह रहे हैं जितने दिनों से हिंदू।

उत्तर प्रदेश द्वारा माध्यमिक कक्षाओं के लिए स्वीकृत "हमारा इतिहास और नागरिक शास्त्र" के दो अंश नीचे उद्धृत हैं—

(१) "हर्ष ने बंगाल के राजा शशांक पर चढ़ाई कर दी और उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। उसने नेपाल पर भी आक्रमण किया और उस पर विजय प्राप्त की। कामरूप के राजा ने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। हर्ष का साम्राज्य सिंध से असम तक और हिमालय पहाड़ से नर्मदा तक फैला हुआ था। उसकी मृत्यु के बाद भारत में छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। और भारतवर्ष का पुराना वैभव नष्ट हो गया।"

(२) "रानी दुर्गावती, जिसने देश के सम्मान पर आँच न आने दी, वह जानती थी किसी न किसी दिन मुगल सम्राट की गृद्ध दृष्टि उसके छोटे से राज्य पर अवश्य पड़ेगी। अकबर की लोभलिप्सा जाग उठी।"

दोनों अंशों का अंतर स्पष्ट है। एक ओर तो विस्तार तथा एकीकरण के नाम पर युद्ध को उचित ठहराया गया है, पर दूसरे अंश में जहाँ बड़े राज्य का स्वामी हिंदू नहीं है, युद्ध की

निंदा करने का प्रयास है। कोई भी इतिहासकार इस बात को नहीं भूल पाता कि औरंगजेब एक मुसलमान था और शिवाजी एक हिंदू। बहुत कम लोगों को मालूम है कि औरंगजेब की मातृ-भाषा हिंदवी थी। जब वह भारत में पैदा हुआ, यहीं मरा और अपनी संपदा को भी उसने बाहर देशों में नहीं भेजा, तो वह भारतीय कैसे नहीं ?

इसी प्रकार इतिहास की पुस्तकों में हिंदू राज्यों द्वारा नवीं और दसवी शताब्दी में अन्य हिंदू राज्यों तथा प्रजाओं पर किये गये अत्याचारों का वर्णन पढ़ने को नहीं मिलता। हिंदू इतिहासकार की नजरों में चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक ओर हर्ष द्वारा अन्य छोटे-मोटे राज्यों से लड़ाई करना देश को एक करने के बराबर है, परंतु उसी एकता की इच्छा से जब खिलजी और औरंगजेब अन्य राज्यों पर हमला करते हैं, तो हिंदू इतिहासकार को वह अत्याचार नजर आता है।

बचपन में मुझे हल्दीघाटी कविता बहुत पसंद थी। इस कविता की कुछ पंक्तियों को एक ग़ैर हिंदू विद्यार्थी की नजरों से पढ़ें—

"थाल सजाकर किसे पूजने चले आज ओ मतवाले।
कहां चले तुम राम नाम का पीताम्बर तन पर डाले।
कहां तुम्हारा दीप जलेगा, कहां चढ़ेगा माला फूल।
अपने अचल स्वतंत्र दुर्ग पर सुनकर वीरों की बोली।
निकल पड़ी लेकर तलवारें जहां जवानों की टोली।"

इन पंक्तियों में इतिहास को तोड़-मरोड़ कर साहस तथा पराक्रम को हिंदू धर्म के प्रतीकों के साथ जोड़ा गया है। ऐसी कविताओं को पाट्यक्रम में रखने से अल्पसंख्यकों के मन में यह विश्वास पैदा होता है कि उन्हें इतिहास के पन्नों में सही स्थान नहीं मिला है। इसलिए या तो उन्हें अपने इतिहास की स्वयं सृष्टि करनी होगी, या अपने बच्चों को केवल जमाती स्कूलों में शिक्षा देनी होगी। इस सबसे अलगाववाद को बढ़ावा मिलता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह न समझा जाय कि मैं विद्यार्थियों को गलत इतिहास पढ़ाने की सलाह दे रहा हूँ। परंतु क्या यह आवश्यक है कि हम इतिहास की पुस्तकों में राजाओं तथा उनके द्वारा किये कार्यकलापों का वर्णन ही पढ़ें। क्या यह संभव नहीं है कि इतिहास की पुस्तकों में तत्कालीन ग्रामीण जनता की समस्याओं का जिक्र हो, कृषि, शिल्पकला तथा नगरों के विकास की समस्याएं लिखी हों और बदलते हुए सामाजिक रीतिरिवाजों और संबंधों का विश्लेषण हो ? यह सब जानते हैं कि भारत में किसी भी व्यक्ति का शासन रहा हो उसका ग्रामीण लोगों के जीवन पर बहुत कम असर पड़ा, तो फिर इतिहास का हिंदू काल तथा मुस्लिम काल में कृत्रिम विभाजन क्यों ?

कोई आश्चर्य नहीं कि इस प्रकार के सांप्रदायिक इतिहास को पढ़कर प्रशासकों के

मस्तिष्कों में अल्पसंख्यकों के प्रति पक्षपात और द्वेष की भावना भर जाए और तनावपूर्ण स्थिति में जब पुलिस तथा पी० ए० सी० के नीचे के कर्मचारियों का मानसिक संतुलन कुछ ढीला हो वही पुराना जहर पुलिस के विवेक को अनजाने में विकृत कर दे।

प्रशासक की छवि

अपनी ओर से प्रायः सभी प्रशासक, चाहे वे सिविल हों या पुलिस के, हर एक समुदाय के साथ न्याय करना चाहते हैं। परंतु तनावपूर्ण स्थिति में शांति व्यवस्था बनाये रखने की जटिलताएं उनके व्यवहार का ऐसा रूप उभारती हैं जिसे अधीर और व्याकुल आम मुसलमान समाज सरासर भेदभाव समझ बैठता है। हो सकता है कि दंगों के समय जिला प्रशासन यह चाहे कि अमुक मुस्लिम नेता चाहे वे किसी भी राजनैतिक पार्टी में हों, उनके जिले में न आएं। तब अल्पसंख्यकों के बीच अफवाहें उड़ाई जाती हैं कि उनके नेताओं के आने पर जिला प्रशासन ने रोक लगा रखी है ताकि वे अकेले और असुरक्षित रह जाएं और फिर हिंदू असामाजिक तत्व स्थिति का लाभ उठा सकें।

कुछ हद तक यह विद्वेषपूर्ण दुराग्रह (प्रिज्युडिस) उच्च-स्तरीय शासकों में भी विद्यमान है। १९६९ में जब भिवंडी में सांप्रदायिक तनाव फैल रहा था तो महाराष्ट्र के आई० जी० ने यह आदेश दिये कि सांप्रदायिक तत्वों पर कड़ी नजर रखी जाए, परंतु उन्होंने जिन तत्वों के उदाहरण दिए उसमें केवल मुसलमान संगठनों के नाम लिखे थे और हिंदू संगठन, जैसे शिवसेना, राष्ट्रीय उत्सव मंडल आदि के नाम लिखना वे भूल गये। यद्यपि मेडन आयोग की जांच के अनुसार, इन हिंदू संगठनों का दंगों में बहुत बड़ा हाथ था। इसी प्रकार जब किसी अखिल भारतीय मुसलमान राजनीतिज्ञ की मृत्यु होती है तो यह कहा जाता है कि वह बहुत बड़े राष्ट्रवादी थे परंतु हिंदू राजनीतिज्ञ के मरने पर यह कहना आवश्यक नहीं समझा जाता। इससे यह भावना व्यक्त होती है कि केवल वही अल्पसंख्यक, जिन्हें मरने के बाद इस विशेषण से संबोधित किया जाय नेशनेलिस्ट हैं और बाकी लोग नहीं।

पिछले बीस वर्षों में हिंदू मध्यम वर्ग तथा मुस्लिम मध्यम वर्ग के बीच की सामाजिक खाई काफी चौड़ी हुई है। मेरे बहुत कम ऐसे हिंदू मित्र हैं जिनका मुसलमान परिवारों में आना जाना हो। इस दूरी के कारण दोनों समुदायों के बीच एक दूसरे के बारे में तरह-तरह की भ्रांत धारणायें प्रचलित हैं, जैसे प्रत्येक मुस्लिम पुरुष की चार पत्नियाँ हैं : २०-२५ वर्ष बाद वे इस देश में बहुसंख्यक हो जायेंगे, आदि आदि। दुःख तो इस बात का है कि अनेक पढ़े-लिखे हिंदू इन पर विश्वास कर सांप्रदायिकता को बढ़ाने में अनजाने मदद कर देते हैं। स्थिति इतनी खराब है कि दोस्तों के बीच भी, यदि वे भिन्न समुदायों के हों, सांप्रदायिकता जैसे गंभीर विषय पर खुलकर बात करना असंभव सा हो चला है।

हमारे समाज में पिछले तीस वर्षों में गरीबी और बेरोजगारी के साथ-साथ आर्थिक

विषमतायें भी बढ़ी हैं। इन विषमताओं के कारण शहरों में रहने वालों का मन उद्वेलित हो गया है। समाज में बढ़ने वाली हिंसा को समझने वाले यह अच्छी तरह जानते हैं कि अक्सर मानसिक उत्तेजना और निराशा का कारण कुछ और होता है और गुब्बार कहीं और निकाला जाता है। विद्यार्थियों द्वारा राजकीय भवनों ओर बसों जैसी सेवाओं पर हमला जिनका वे उपयोग करते हैं, पुरुषों द्वारा महिलाओं पर हिंसा की घटनाएं, गांवों में जाति के नाम पर खेतिहर मजदूरों और गरीबों से रक्त-पात आदि इसी विषमता के नतीजे हैं।

आज उद्वेलित व्यक्ति या समुदाय हिंसा के लिए ऐसे वर्ग को छांट रहा है जो उसके करीब हो और जिस पर वह आसानी से हमला कर पुलिस की नजरों से बच सके तथा अपने समुदाय में शाबाशी ले सके। पूँजीवादी व्यवस्था के लिए इससे अधिक संतोष की और क्या बात होगी कि आज गरीब हिंदू और गरीब मुसलमानों के बीच में हिंसा की घटनाएं बढ़ रही हैं। मध्यम जाति की गरीब ग्रामीण जनता गरीब हरिजनों पर अत्याचार कर रही है, और दूसरी ओर, ऊँची अट्टालिकाओं में रहने वाले अमीर इसे सांप्रदायिक संघर्ष तथा जाति संघर्ष की संज्ञा देकर और कृत्रिम संवेदना दिखाकर, सामाजिक अशांति की परिधि से एकदम बाहर हैं।

क्या यह संभव नहीं है कि जब अलीगढ़ और मुरादाबाद की पारंपरिक शिल्पकला की वस्तुओं के बाज़ार में बिकने में दिक्कतें आ रही हों और पूँजीपतियों के हित में यह हो कि उत्पादन कम हो जाए तभी किसी न किसी बहाने शहर में कर्फ्यू लग जाए और पूंजीपतियों को गरीब मजदूरों को वेतन न देना पड़े? सांप्रदायिकता वह ज़हर है जो व्यक्ति को यह सिखाता है कि वह केवल हिंदू है या केवल मुसलमान; न वह गरीब है, न स्कूल अध्यापक और न झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाला मजदूर, और उसके दुश्मन आर्थिक शोषण को तीव्र करने वाले पूँजीपति और कुलक न होकर, दूसरे संप्रदाय के गरीब मुसलमान या गरीब हिंदू हैं।

एक प्रश्न यह है कि इस प्रकार की घटनाओं से लाभ कौन उठाता है? क्या दंगे वर्तमान आर्थिक व्यूह रचना की पकड़ और अधिक मजबूत नहीं करते? यह भी संभव है कि सांप्रदायिक दंगे वर्ग संघर्ष के विकृत रूप हों। अधिकतर शहरों में, जहां दंगे होते हैं (मुरादाबाद इसका अपवाद है) उत्पादन के साधन हिंदुओं के हाथ में हैं, परंतु अधिकतर कारीगर अल्पसंख्यक हैं।

सभी इतिहासकार आज यह मानते हैं कि केरल में हुए स्वतंत्रता से पूर्व मोपला दंगे जमींदारों और काश्तकारों के बीच एक वर्ग संघर्ष था। यह केवल संयोग था कि जमींदार हिंदू थे और किसान मुसलमान। परन्तु उस समय इसे हिंदू मुसलमान दंगे के रूप में देखा गया। इसी प्रकार फिरोजाबाद में हुए १९७२ के दंगे में हिंदू मिल मालिकों और मुस्लिम

शिल्पकारों के बीच आर्थिक हितों के मुठभेड़ ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। आज़ादी से पहले फिरोजाबाद के अधिकतर चूड़ी और शीशे का सामान बनाने के कारखाने मुसलमानों के थे, परन्तु उनके पाकिस्तान चले जाने से इन्हें हिंदुओं ने खरीद लिया। इन कारखानों में कोयला सबसे महत्वपूर्ण कच्चा माल है। चूँकि कोयले की सप्लाई समय से नहीं होती, इसलिए कारखाना मालिक, बजाय कोयले को फैक्ट्रियों में प्रयोग करने के, काले बाजार में बेच देना अधिक लाभप्रद समझते हैं। अधिकतर मुस्लिम शिल्पकार दैनिक वेतन भोगी हैं, जिन्हें इस प्रकार के ब्लैक से सीधे आर्थिक हानि होती है। कोई आश्चर्य नहीं जब १९७२ में अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के अल्पसंख्यक स्वरूप का मामला उठा, तो यह जानते हुए भी कि उनके परिवार में कई पुश्त तक कोई भी लड़का विश्वविद्यालय स्तर तक नहीं पहुंच पाएगा, मुसलमान कारीगरों ने अलीगढ़ के नाम पर हड़ताल की योजना बनायी, जो शीघ्र ही सांप्रदायिक दंगों में परिवर्तित हो गई। संघर्ष वस्तुतः आर्थिक मुद्दों से प्रेरित था परन्तु उसका स्वरूप जो सामने आया वह था एक हिंदू मुसलमान दंगे के रूप में ।

सभी मुसलमान आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए नहीं हैं। कुछ क्षेत्रों, जैसे चमड़े, पीतल आदि उद्योग में वे आगे बढ़े हुए हैं। परन्तु वहां उनका मुकाबला हो रहा है हरिजनों से, जिसके कारण हरिजन-मुसलमान दंगे बढ़े हैं। कुछ अत्यंत प्रतिक्रियावादी मुस्लिम संगठनों को अरब देशों से भी कदाचित धनराशि प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि उन्हें यह सहायता तभी प्राप्त होगी जब वे यह सिद्ध कर सकें कि अल्पसंख्यकों की हालत बहुत दयनीय है, इसलिए उन्हें अपनी समस्याओं को बढ़ा-चढ़ा कर बताने की महारत हासिल है। इससे सामान्य मुसलमानों की बेचैनी और भी बढ़ती है।

सांप्रदायिक दंगों से कहीं खतरनाक वे हिंसा की घटनाएं हैं जो पुलिस और अल्पसंख्यकों के बीच में आज हो रही हैं। इन घटनाओं में न केवल अल्पसंख्यकों की जाने जाती हैं, बल्कि गिरफ्तार भी इसी संप्रदाय के ही लोग होते हैं। सब जानते हैं कि जनता में पुलिस की छवि धूमिल है। इसमें पुलिस का अधिक दोष नहीं है। शहरों की पुलिस की संख्या इतनी कम है कि यदि कोई पुलिस अधिकारी कल्याणात्मक कार्य में पुलिस को लगा कर उनके दुःख-दर्द दूर करना भी चाहे, तो यह असंभव होगा। पुलिस कर्मचारी दिनरात काम करके भी जनता से दुत्कारा जाता है। लेकिन सांप्रदायिक झगड़ों के समय पुलिस बहुसंख्यक समुदाय में एकाएक लोकप्रिय बन जाती है। एक ऐसे ही दंगे में पुलिस तथा पी० ए०सी० के लिए हिंदुओं की ओर से मुफ्त भोजन (लंगर) की व्यवस्था की गयी। यह छोटी-छोटी बातें अल्पसंख्यकों के आक्रोश को और भी बढ़ाती हैं।

पुलिस मुसलमानों के झगड़ों को षड़यंत्र की संज्ञा न देकर, यह सोचना चाहिए कि आज भारत का अल्पसंख्यक वर्ग आत्महत्या तथा विनाश पर क्यों उतारू है। हमने मुसलमानों की कुछ समस्याओं का ऊपर विश्लेषण किया है। दुःख तो इस बात का है कि अधिकांश मुसलमान

नेताओं ने उन्हें हमेशा अंधकार और विनाश का रास्ता दिखाया है। यदि भारत का विभाजन न होता तो आज उत्तरी भारत के मुसलमानों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व, नौकरियों में आरक्षण आदि कई सुविधाएं प्राप्त होती, परंतु उनके राजनैतिक नेताओं ने अविभाजित भारत में अपने लिए विनाश की परिकल्पना की और अपनी जनसंख्या के प्रतिशत को घटाकर विनाश की अवस्था को स्वयं सिद्ध कर दिया। वे सभी सुविधाएं प्रभावी ढंग से समाप्त हो गयीं जो मुसलमान अविभाजित भारत में प्राप्त करते।

आज रोज़गार के क्षेत्र में मुसलमान यह मान लेते हैं कि उनके खिलाफ पक्षपात होगा और इसलिए पर्याप्त शिक्षित एवं तकनीकी योग्यता न हासिल करके, अपने डर को स्वयं सिद्ध करते हैं। वे इस धारणा से ग्रसित दीखते हैं कि जब तक वे राजनैतिक दृष्टि से सशक्त नहीं होते, वे आर्थिक क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकते। लेकिन वे यह नहीं जानते कि विभाजित भारत के परिवर्तित परिवेश में केवल मुसलमान होने के आधार पर उनका राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रश्न नहीं उठता। अपनी वास्तविक समस्या को समझने से कतराने के कारण तथा हिंदुओं के द्वेषभाव ने मुसलमानों में हीन भावना उत्पन्न की है जिसके कारण वे पूर्णतः शासन पर आश्रित हो गये हैं। उनके नेतागण उनकी समस्याओं को बढ़ा-चढ़ा कर- उनकी अधीरता को और भी अधिक बढ़ाते हैं। दूसरे देशों का इतिहास हमें यह बताता है कि जो समुदाय अपने अल्पसंख्यक स्थिति का अधिक प्रचार करता है, वह अपनी स्थिति को कमजोर बनाता है। कोई भी संस्कृति संकीर्णता का आश्रय लेकर जीवित नहीं रही है।

हिंदू मुसलमान मंत्री शासन तथा हिंदुओं के लिए वांछनीय अवश्य हैं, परंतु मुसलमानों के लिए तो यह जीवन-मरण का प्रश्न है। अतः इसे प्राप्त करने के लिए पहल भी उनकी ओर से ही होनी चाहिए।

जनजातीय बनाम राष्ट्रीय अस्मिता : असम की समस्या

प्रभात कुमार तिवारी

'आदिकालीन समूह अस्मिता' (प्राइमोर्डियल ग्रुप आइडेंटिटी) या जनजातीयता (एथ्निसिटी) एक स्थाई समस्या है। इसकी परिभाषा हम इस प्रकार करेंगे, "व्यक्तियों का एक समूह जिनके कुछ समान वस्तुनिष्ठ लक्षण हैं, समाज में श्रम विभाजन की स्थिति से भिन्न, जिसके सदस्य अनिवार्यतः इस तथ्य को व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) या राजनैतिक महत्व नहीं देते हैं (ड्यूट्श १९६६, ब्रास १९७४), इन्हें जनजाति या कबायली (ट्राइबल) की 'निष्ठा' (लायल्टी) का नाम दिया जा सकता है।" जब इस जनजातीय निष्ठा का हाल की व्यापक, संक्रमणशील और उदीयमान प्रभुसत्ता-संपन्न राज्य के प्रति आधुनिक पाश्चात्यीकृत निष्ठा जिसे राष्ट्रीय कहा जाता है, के साथ अंतर्क्रिया और टकराव होता है, तब विरोध उत्पन्न होता है। हाल के वर्षों में, विशेषकर १९८० के बाद भारतीय राष्ट्रीय निष्ठा पर संकट ने चिंताजनक रूप धारण कर लिया है, विशेषकर उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्र के असम और उत्तर पश्चिम के पंजाब राज्य में, जहां एक-राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रीयता की उस अवधारणा को ही चुनौती दे डाली है, जिसके लिए सम्पूर्ण भारत का राजनैतिक अभिजात वर्ग १९४७ से पहले गांधी और नेहरू के नेतृत्व में अग्रसर रहा था।

प्रस्तुत निबंध में निम्न प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। वह कौन सी प्रक्रिया है जिसके द्वारा वस्तुगत पृथक जनजातीय समूह व्यक्तिनिष्ठ, चेतन और राजनैतिक अभिप्रेरित समुदायों में रूपांतरित हो जाता है? यहां पर समुदाय शब्द का प्रयोग उस जन संस्कृति समूह के लिए किया गया है जिसके सदस्य समान अस्मिता की अनुभूति कल्पित कर लेते हैं और जिन्होंने इस समूह की सीमाओं को परिसीमित करने का प्रयास किया है (सी० डब्ल्यू० कैसीनेली : १९६९)। जब वह राजनैतिक कार्यवाही के लिए संगठित हो जाता है और राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है यानी जब वह राजनैतिक मांगे करता है और अपने प्रयास द्वारा उसमें कुछ उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करता है तब यह समुदाय राष्ट्रीयता या राष्ट्र बन जाता है। यह उपलब्धियां राजनैतिक प्रभुसत्ता की या एक स्वतंत्र राज्य में पृथक

प्रभात कुमार तिवारी, अध्यक्ष, मानवशास्त्र विभाग, जयनारायण महाविद्यालय, लखनऊ।

राजनैतिक हैसियत की, राजनैतिक शिक्षण संस्थाओं में समूह विशेष के सदस्यों का अधिक प्रतिनिधित्व या शैक्षणिक प्रक्रिया पर उनका अधिक नियंत्रण हो सकती हैं ।

वे व्यापक राज्य की नीतियां और संस्थागत व्यवस्थाएं जो पृथक समूह हों और राष्ट्रीयता की मांगों को अपने में स्थान देती हैं वे दो हैं : (१) एकीकरणात्मक (इंटीग्रेटिव) और (२) बहुलतावादी (प्लूरेलिस्ट)। राष्ट्रीय एकीकरण (इंटीग्रेशन) वह है जिसमें राज्य की समस्त जनसंख्या का समान अस्मिता के साथ सात्मीकरण हो और जो केवल व्यक्तिगत अधिकारों, सुविधाओं और कर्तव्यों को स्वीकार करता है । बहुलतावादी नीति जनसंख्या में विभिन्न पृथक समूहों की उपस्थिति को स्वीकार करती है और साथ ही व्यक्तियों को अधिकार, सुविधाएं और कर्तव्य प्रदान करती है । भारत जैसे अधिक जटिल, बहु-जनजातीय राज्यों ने मिलीजुली नीति अपनाई है ।

जनजातीय बनाम राष्ट्रीय अस्मिता के विश्लेषण में जो निर्णायक समस्याएं निहित हैं वे हैं : किस प्रकार ऐसी निष्ठाएं बनती हैं जो प्राथमिक समूहों की निष्ठाओं को अतिक्रांत करती हैं और कैसे पृथक जन समूहों में राज्य अधिसत्ता की समस्याओं के प्रति लगाव पैदा या विकसित या नष्ट होता है ?

आधुनिकीकरण में राज्य निर्माण की प्रक्रिया में राष्ट्रीय एकीकरण पर ध्यान केंद्रित किया गया है और राज्य के अलावा अन्य सभी निष्ठाओं को संकीर्ण (पैरोवियल) या आदिम (प्राइमोर्डियल) मान लिया गया है और उनके प्रभाव को विघटनकारी और राष्ट्रीय एकीकरण के लिए हानिकर राष्ट्र-राज्य को आधुनिकीकरण, जिसमें औद्योगीकरण, युक्तिकरण, धर्म निरपेक्षीकरण और अधिकारी तंत्रीकरण की प्रक्रिया का अपरिहार्य सहयोगी और साधन मानकर प्रतिष्ठित किया गया है (डैंकवार्ट ए० रोस्टोव : १९६७) ।

पश्चिम से गृहीत आधुनिकीकरण की सोद्देश्यता और राष्ट्र-राज्य की कल्पना से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों लक्ष्यों को पाने के लिए लोकतांत्रिक साधनों के बजाए अधिनायकतंत्रीय साधन अधिक प्रभावी हैं और जनजातियों को आधुनिकीकरण की ओर ले जाने की क्षमता लघु पाश्च्यीकृत अभिजात वर्ग के हाथ में है । एशियाई और अफ्रीकी देशों में अभी राष्ट्र-राज्य वास्तव में विद्यमान नहीं हैं । इसी संदर्भ में राष्ट्रीय एकीकरण की कल्पना महत्वपूर्ण वन जाती है और एक प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त की जाती है जिसके द्वारा आधुनिक राज्यों को चलाने वाले आधुनिकीकृत अभिजात वर्ग व परंपराबद्ध जन साधारण के बीच जो दरार है, उसे अभिजात वर्ग के लक्ष्यों का संचार कर जनसाधारण के मूल्यों को रूपांतरित करने का प्रयास किया जाता है और उन्हें अभिजात वर्ग की आकांक्षाओं के अनुरूप बनाया जाता है ।

राष्ट्रीय एकीकरण पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है ताकि क्षेत्रीय, जनजाति समूहों, विभिन्न धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों को राष्ट्र की मूल धारा में लाया जा सके जिसका आधार इहलौकिक एवं धर्म-निरपेक्ष हो और जिसमें विशाल देश में व्याप्त नस्ल, जाति, कबीले,

धर्म, भाषा का भेदभाव नहीं माना जाय। सत्तर करोड़ भारतीय जनता को एक महान भारतीय राष्ट्र में ढालने का क्रमबद्ध प्रयास किया जा रहा है। यह माना जा रहा है कि यह नवजात राष्ट्र-निष्ठा, आदिम, पारंपरिक, जाति, कुनबे, स्थानीय समुदाय, क्षेत्र, भाषा और धर्म से श्रेष्ठ और सर्वोपरि है। वस्तुतः उदारवादी भारतीय नेतृत्व का यह सुखद स्वप्न और महत्वाकांक्षा थी और जिसने पिछले दशकों में भारतीयों के भाग्य का निर्माण किया।

ऐसा लगता है कि अब एक सर्वोपरि निष्ठा को प्रस्थापित, प्रतिष्ठित और साकार करने का स्वप्न भंग हो गया है और आने वाले समय में उसकी व्यवहार्यता के बारे में गंभीर संदेह है। इसमें ज़रा भी शक नहीं कि १९४७ से पहले विदेशी राज्य के नीचे भारतीय जनता निरंतर, कभी रुक-रुक कर, 'राष्ट्र' की ओर बढ़ रही थी और १९४० के बाद से दो धार्मिक विभेदों के आधार पर दो राष्ट्रों की ओर–एक मुसलमान और दूसरा हिंदू। इस सदी के चौथे दशक में मुसलमान धार्मिक अल्पसंख्या द्वारा भारत में धर्म, राष्ट्र निर्माण का एक प्रमुख प्रतीक और साधन बना लिया गया जो अंततोगत्वा देश के विभाजन और १९४७ में दो स्वतंत्र राज्यों के रूप में परिणत हुआ।

विभाजन और स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद भारत और पाकिस्तान दोनों ने अपने अपने क्षेत्र में अपने पृथक जनजातीय सांस्कृतिक समूहों को राष्ट्र-राज्य में ढालने के गंभीर प्रयास शुरू किये। एक ही दशक में पाकिस्तान इसमें असफल हुआ। १९५३ से पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में गंभीर विरोध हो गया जो अंततोगत्वा १९७१ में पाकिस्तान के विभाजन और स्वतंत्र बंगलादेश की स्थापना में प्रतिफलित हुआ। इस समय वर्तमान पाकिस्तान में भी क्षेत्रीय और उपराष्ट्रीय विरोध प्रबल हैं। भारत यद्यपि अभी तक एक प्रशासनिक इकाई के रूप में समूचा बचा हुआ है, किंतु अनेक क्षेत्रीय और धार्मिक समूहों के विद्रोह उसकी एकता और एक-राष्ट्र-निष्ठा को चुनौती दे रहे हैं।

यहां हम संक्षेप में इस तनाव और विरोध और भारतीय जनता की बदलती हुई धारणाओं और व्यवहार का संक्षिप्त विवेचन करेंगे और उनके संभव, वस्तुगत और तर्कसंगत और अबौद्धिक यथार्थ और काल्पनिक कारणों की जांच करेंगे। समाजशास्त्रीय दृष्टि से कोई भी कारण चाहे वह अबौद्धिक और काल्पनिक ही क्यों न हो, किंतु यदि उन्हें 'वास्तविक' समझा जाता है तो वे व्यवहारतः "सामाजिक तथ्य" बन जाते हैं, जो लोगों के व्यवहार और तद्‌जनित परिणामों को प्रभावित करते हैं।

चीन और बंगला देश से लगे असम राज्य में १९६३ में जो जन आंदोलन हुआ उसके विश्लेषण की मदद से हम जनजातीय अस्मिता के मुकाबले में राष्ट्रीय अस्मिता की समस्या पर विचार करेंगे जिसने दिल्ली के शासकों को हैरत में डाल दिया और जिसका कोई संतोषजनक समाधान अभी तक नहीं मिला है।

समसामयिक स्थिति में पृथक जनजातीय या क़बायली समूह की पृथक अस्मिताएं प्रसुप्त पड़ी

राजनैतिक हैसियत की, राजनैतिक शिक्षण संस्थाओं में समूह विशेष के सदस्यों का अधिक प्रतिनिधित्व या शैक्षणिक प्रक्रिया पर उनका अधिक नियंत्रण हो सकती हैं।

वे व्यापक राज्य की नीतियां और संस्थागत व्यवस्थाएं जो पृथक समूह हों और राष्ट्रीयता की मांगों को अपने में स्थान देती हैं वे दो हैं : (१) एकीकरणात्मक (इंटीग्रेटिव) और (२) बहुलतावादी (प्लूरेलिस्ट)। राष्ट्रीय एकीकरण (इंटीग्रेशन) वह है जिसमें राज्य की समस्त जनसंख्या का समान अस्मिता के साथ सात्मीकरण हो और जो केवल व्यक्तिगत अधिकारों, सुविधाओं और कर्तव्यों को स्वीकार करता है। बहुलतावादी नीति जनसंख्या में विभिन्न पृथक समूहों की उपस्थिति को स्वीकार करती है और साथ ही व्यक्तियों को अधिकार, सुविधाएं और कर्तव्य प्रदान करती है। भारत जैसे अधिक जटिल, बहु-जनजातीय राज्यों ने मिलीजुली नीति अपनाई है।

जनजातीय बनाम राष्ट्रीय अस्मिता के विश्लेषण में जो निर्णायक समस्याएं निहित हैं वे हैं : किस प्रकार ऐसी निष्ठाएं बनती हैं जो प्राथमिक समूहों की निष्ठाओं को अतिक्रांत करती हैं और कैसे पृथक जन समूहों में राज्य अधिसत्ता की समस्याओं के प्रति लगाव पैदा या विकसित या नष्ट होता है ?

आधुनिकीकरण में राज्य निर्माण की प्रक्रिया में राष्ट्रीय एकीकरण पर ध्यान केंद्रित किया गया है और राज्य के अलावा अन्य सभी निष्ठाओं को संकीर्ण (पैरोवियल) या आदिम (प्राइमोर्डियल) मान लिया गया है और उनके प्रभाव को विघटनकारी और राष्ट्रीय एकीकरण के लिए हानिकर राष्ट्र-राज्य को आधुनिकीकरण, जिसमें औद्योगीकरण, युक्तिकरण, धर्म निरपेक्षीकरण और अधिकारी तंत्रीकरण की प्रक्रिया का अपरिहार्य सहयोगी और साधन मानकर प्रतिष्ठित किया गया है (डैंकवार्ट ए० रोस्टोव : १९६७)।

पश्चिम से गृहीत आधुनिकीकरण की सोद्देश्यता और राष्ट्र-राज्य की कल्पना से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों लक्ष्यों को पाने के लिए लोकतांत्रिक साधनों के बजाए अधिनायकतंत्रीय साधन अधिक प्रभावी हैं और जनजातियों को आधुनिकीकरण की ओर ले जाने की क्षमता लघु पाश्च्यीकृत अभिजात वर्ग.के हाथ में है। एशियाई और अफ्रीकी देशों में अभी राष्ट्र-राज्य वास्तव में विद्यमान नहीं हैं। इसी संदर्भ में राष्ट्रीय एकीकरण की कल्पना महत्वपूर्ण वन जाती है और एक प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त की जाती है जिसके द्वारा आधुनिक राज्यों को चलाने वाले आधुनिकीकृत अभिजात वर्ग व परंपरावद्ध जन साधारण के बीच जो दरार है, उसे अभिजात वर्ग के लक्ष्यों का संचार कर जनसाधारण के मूल्यों को रूपांतरित करने का प्रयास किया जाता है और उन्हें अभिजात वर्ग की आकांक्षाओं के अनुरूप बनाया जाता है।

राष्ट्रीय एकीकरण पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है ताकि क्षेत्रीय, जनजाति समूहों, विभिन्न धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों को राष्ट्र की मूल धारा में लाया जा सके जिसका आधार इहलौकिक एवं धर्म-निरपेक्ष हो और जिसमें विशाल देश में व्याप्त नस्ल, जाति, कबीले,

धर्म, भाषा का भेदभाव नहीं माना जाय। सत्तर करोड़ भारतीय जनता को एक महान भारतीय राष्ट्र में ढालने का क्रमबद्ध प्रयास किया जा रहा है। यह माना जा रहा है कि यह नवजात राष्ट्र-निष्ठा, आदिम, पारंपरिक, जाति, कुनबे, स्थानीय समुदाय, क्षेत्र, भाषा और धर्म से श्रेष्ठ और सर्वोपरि है। वस्तुतः उदारवादी भारतीय नेतृत्व का यह सुखद स्वप्न और महत्वाकांक्षा थी और जिसने पिछले दशकों में भारतीयों के भाग्य का निर्माण किया।

ऐसा लगता है कि अब एक सर्वोपरि निष्ठा को प्रस्थापित, प्रतिष्ठित और साकार करने का स्वप्न भंग हो गया है और आने वाले समय में उसकी व्यवहार्यता के बारे में गंभीर संदेह है। इसमें ज़रा भी शक नहीं कि १९४७ से पहले विदेशी राज्य के नीचे भारतीय जनता निरंतर, कभी रुक-रुक कर, 'राष्ट्र' की ओर बढ़ रही थी और १९४० के बाद से दो धार्मिक विभेदों के आधार पर दो राष्ट्रों की ओर–एक मुसलमान और दूसरा हिंदू। इस सदी के चौथे दशक में मुसलमान धार्मिक अल्पसंख्या द्वारा भारत में धर्म, राष्ट्र निर्माण का एक प्रमुख प्रतीक और साधन बना लिया गया जो अंततोगत्वा देश के विभाजन और १९४७ में दो स्वतंत्र राज्यों के रूप में परिणत हुआ।

विभाजन और स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद भारत और पाकिस्तान दोनों ने अपने अपने क्षेत्र में अपने पृथक जनजातीय सांस्कृतिक समूहों को राष्ट्र-राज्य में ढालने के गंभीर प्रयास शुरू किये। एक ही दशक में पाकिस्तान इसमें असफल हुआ। १९५३ से पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में गंभीर विरोध हो गया जो अंततोगत्वा १९७१ में पाकिस्तान के विभाजन और स्वतंत्र बंगलादेश की स्थापना में प्रतिफलित हुआ। इस समय वर्तमान पाकिस्तान में भी क्षेत्रीय और उपराष्ट्रीय विरोध प्रबल हैं। भारत यद्यपि अभी तक एक प्रशासनिक इकाई के रूप में समूचा बचा हुआ है, किंतु अनेक क्षेत्रीय और धार्मिक समूहों के विद्रोह उसकी एकता और एक-राष्ट्र-निष्ठा को चुनौती दे रहे हैं।

यहां हम संक्षेप में इस तनाव और विरोध और भारतीय जनता की बदलती हुई धारणाओं और व्यवहार का संक्षिप्त विवेचन करेंगे और उनके संभव, वस्तुगत और तर्कसंगत और अबौद्धिक यथार्थ और काल्पनिक कारणों की जांच करेंगे। समाजशास्त्रीय दृष्टि से कोई भी कारण चाहे वह अबौद्धिक और काल्पनिक ही क्यों न हो, किंतु यदि उन्हें 'वास्तविक' समझा जाता है तो वे व्यवहारतः "सामाजिक तथ्य" बन जाते हैं, जो लोगों के व्यवहार और तद्जनित परिणामों को प्रभावित करते हैं।

चीन और बंगला देश से लगे असम राज्य में १९६३ में जो जन आंदोलन हुआ उसके विश्लेषण की मदद से हम जनजातीय अस्मिता के मुकाबले में राष्ट्रीय अस्मिता की समस्या पर विचार करेंगे जिसने दिल्ली के शासकों को हैरत में डाल दिया और जिसका कोई संतोषजनक समाधान अभी तक नहीं मिला है।

समसामयिक स्थिति में पृथक जनजातीय या कबायली समूह की पृथक अस्मिताएं प्रसुप्त पड़ी

हुई थीं उन्हें राजनैतिक कार्यवाही के लिए संगठित (मोबलाइज्ड) कर दिया गया और इस प्रकार ये पृथक अस्मिताएं अपनी पृथकता का दावा करने लगीं और इनका अंतिम लक्ष्य स्वतंत्र राजत्व है। इस इच्छा और आकांक्षा को रोकने में असफल होकर अंततोगत्वा केंद्रीय सरकार को झुकना पड़ा और उनकी मांगे माननी पड़ी। इसी प्रकार असम राज्य का आकार छोटा हो गया। एक-एक कर उससे पर्वतीय जिले अलग कर दिए गए और अलग राज्यों और संघ प्रदेशों में नागालैंड, मणिपुर, मेघालय और अरुणांचल बन गए। इस प्रकार असम सिकुड़ गया।

अहोम साम्राज्य जो १८२६ तक रहा, के वैभव के पुनरुत्थान से प्रेरित, लोहित नदी और नील पर्वतमालाओं के प्रदेश में असमी युवा वर्ग में नवचेतना और नवजागरण उत्पन्न हुआ। नव-अर्जित स्वाभिमान, प्रतिष्ठा और महत्वाकांक्षा ने असमी युवकों की आकांक्षाओं को जगाया। लेकिन पिछले दो दशकों की घटनाओं ने उनकी कुंठा को भी बढ़ाया। वे राजनीतिकृत हुए और राजनैतिक कार्यवाही के लिए बाहर के लोगों के द्वारा दब और ढक जाने के आसन्न संकट के भय से संगठित हुए। कई लाख विदेशी नागरिक, चूंकि वे उनके प्रमुख मतों का बैंक बन गए थे, शासक-राजनैतिक दल के संरक्षण और प्रोत्साहन से बंगलादेश की सीमा से लगे हुए कछार प्रदेश में जम गए। १९७९ में निर्वाचन सूचियों के संशोधन और विदेशियों की पहचान के लिए वहां एक छात्र आंदोलन शुरू हुआ।

असम आंदोलनकर्ताओं ने बार-बार यह घोषणा की है कि उनका आंदोलन और आक्रोश बाहरी लोगों अर्थात गैर-असमियों के विरुद्ध नहीं है, बल्कि विदेशियों के विरुद्ध है जो कानूनन भारतीय नागरिक नहीं हैं। इसमें शक नहीं कि वहां बाहर के अन्य राज्यों के भारतीय नागरिक भी असुरक्षित महसूस कर रहे हैं और वहां उनका स्वागत नहीं है। लेकिन इसके लिए असमियों को ही दोष नहीं दिया जा सकता। अभी भी देश में भारत के उत्तरी-पूर्वी सीमा क्षेत्र और उसकी जनजातियों के बारे में घोर अज्ञान है। नागा और मिजो पहाड़ियों के कबायलियों ने, जिनकी आकृति मंगोलायड है, यह शिकायत की है कि उन्हें विदेशी चीनी समझकर परेशान किया जाता है। इसी प्रकार अहोम लोग जिन्होंने स्थानीय जनता से विवाह संबंध किए, उनमें भी मंगोल प्रजाति के लक्षण विद्यमान हैं। इस पृष्ठभूमि में भारतीय राष्ट्रवाद की मूलधारा में असम का अपेक्षतया हाल का आत्मसात होना और विदेशियों और बाहरी लोगों के प्रति उनकी दृष्टि समझ में आने लायक बात है।

विभाजन के समय असम क्षेत्रफल में सबसे बड़ा राज्य था और वह अंग्रेजों की प्रशासनिक सुविधा की सृष्टि था। इसमें अनेक जनजातीय समूहों, जिनकी पृथक जनजातीय अस्मिताएं थीं और जो उसके विभिन्न भागों में बिखरे हुए थे, का निवास था। अहोम असमी जो उत्तरी बर्मा से विजेताओं के रूप में आकर यहां पर स्थाई रूप से बस गए थे, उन्होंने कालांतर में महान संत और सुधारक शंकरदेव के प्रभाव में हिंदू वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया और इस प्रकार वे स्थानीय जनसंख्या का सबसे बड़ा अंग बन गए।

बहुत समय तक यहां पर भोजन या भूमि की कमी न थी। स्वभाव से ही असमी लोग

आरामतलब हैं और अपनी सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध हैं। जब वर्तमान बंगलादेश बंगाल का एक भाग था, तब काफी संख्या में निर्धन मुसलमान बटाईदार फसल के मौके पर असम के कछार जिले में निष्क्रमण कर आ जाते थे और इस तरह से अपनी गुजर-बसर करते थे। इन निष्क्रमणार्थियों और स्थानीय जनता के बीच सौहार्दपूर्ण अंतरधार्मिक सांप्रदायिक संबंध विद्यमान थे। विभाजन के फलस्वरूप असम का सिलहट जिला अलग होकर तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान का एक अंग बन गया, पर इसने उनके बीच अधिक कटुता उत्पन्न नहीं की।

१९७१ का बंगलादेश युद्ध, आप्रवासी बंगालियों और असमियों के पारस्परिक संबंधों में एक नया मोड़ सिद्ध हुआ। इससे पहले बंगला आप्रवासी बूंद-बूंद कर आ रहे थे, किंतु युद्ध ने शरणार्थियों की बाढ़ ला दी। मेघालय के पर्वतीय लोगों ने इस आघात को सबसे अधिक महसूस किया और उन्हें अपनी जनजातीय अस्मिता खोने का डर हो गया, चूंकि आप्रवासियों की बड़ी संख्या उन पर छा गई थी। त्रिपुरा राज्य एक दूसरा दृष्टांत था जहां पूर्वी बंगाली आप्रवासी स्थानीय जनता पर पूरी तरह से छा गये थे। इस परिस्थिति से पहली बार असमी अस्मिता के लिए संकट उपस्थित हुआ और असुरक्षा की यह भावना कि उन पर बाहर के लोग हावी हो जाएंगे, ने जोर पकड़ा।

असुरक्षा की यह भावना औद्योगीकरण से और अधिक प्रबल हुई, विशेषकर बड़े पैमाने पर सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े कारखानों/प्रतिष्ठानों की स्थापना से जैसे कि 'ऑयल एण्ड नेचुरल गैस कमीशन', जिसमें बड़ी संख्या में तकनीकी कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ी जो अधिकांश देश के दूसरे भागों से आए और जिनमें शिक्षित बंगालियों की बहुलता थी। यह बंगाली भद्र-लोग-अभिजात वर्ग-सरकारी सेवा का एक बड़ा अंग बन गया। ये बंगाली भद्रलोग अपने को कुछ अलग देखते थे और इन्हें अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता का अहंकार भी था। इसके विपरीत, गरीब मुसलमान बंगाली किसान विनम्र थे और स्थानीय जनता से खुलकर मिलते-जुलते थे और इसलिए उनकी उपस्थिति से कोई नाराज़ न था। लेकिन पिछले दो दशकों में बड़ी संख्या में असमी युवाओं ने उच्च शिक्षा ग्रहण की और वे बाहर वालों के साथ मुकाबले में आये। इस प्रकार अभिजातवर्गों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। इस पर असम के एक गंभीर अध्येता की टिप्पणी द्रष्टव्य है, "सीमाओं पर असंतोष की जड़ में सांस्कृतिक उन्मूलन का भय है, चाहे संबंधित लोग असमी हों, नागा हों, मीजो हों या मेघालयी" (नारी रुस्तम जी-१९८३)। यदि इस भय और आशंका को जनजातीय अस्मिता, यानी एक निश्चित क्षेत्र में रहने वाले लोगों की उपराष्ट्रीयता, के संदर्भ में इस भावना का आदर नहीं किया जाता और उसके साथ समझौता नहीं किया जाता, तो इसका व्यापक राष्ट्र अस्मिता के साथ शांति, बचाव और विरोध होना स्वाभाविक ही है।

मार्च, १९८३ में राज्य विधान सभा के सामान्य चुनावों को बहुसंख्यक असमी जनता की इच्छाओं के विरुद्ध लादे जाने से यह समस्या और भी जटिल हो गयी। अधिकांश असमियों ने इस निर्वाचन का बहिष्कार किया, जो उनके नगण्य मतदान से स्पष्ट है। इसके विपरीत, आप्र-

वासी बाहरी जनजातीय समूह ने जिनकी संख्या बराबर बढ़ रही है, जो मुख्यतः कछार क्षेत्र में बसे हुए हैं और जिसे शासक दल का प्रोत्साहन और कृपा प्राप्त है, जो उनके सहयोग से इस राज्य में अपनी सरकार बनाने की इच्छा करता था, इसमें उत्साहपूर्वक हिस्सा लिया। अतः दिल्ली के इस दलगत राजनैतिक निर्णय ने बहुसंख्य असमी देशज सांस्कृतिक समूहों को अत्यंत क्रुद्ध किया है। उनकी भावनाओं पर इतनी चोट की कि जो आंदोलन चार वर्षों से शांतिपूर्वक चल रहा था, वह असाधारण हिंसा का शिकार हुआ। किसी भी कीमत पर इन बहुसंख्य स्थानीय असमियों की इच्छा के विरुद्ध चुनावों के थोपने का नतीजा भयंकर रक्तपात में प्रकट हुआ।

इस मारकाट के लिए आंदोलनकर्ताओं, समाज-विरोधी तत्वों और हिंदू और मुसलमान सांप्रदायवादी तत्वों को दोषी ठहराया गया है। किंतु इन हत्याओं के विस्तार को देखने से बड़ी गड्ड-मड्ड स्थिति नज़र आती है, जिसमें असम राज्य में रहने वाले जनजातीय समूह अलग-अलग स्थानों पर अलग अलग व्यवहार कर रहे थे। एक प्रत्यक्षद्रष्टा के शब्दों में "यह मारकाट सबों के विरुद्ध, सबों की लड़ाई थी। इससे इतनी सांप्रदायिकता स्पष्ट नहीं होती है जितनी कि शासन के सर्वथा भंग हो जाने की स्थिति। नीली में जहां तीन हजार व्यक्तियों के मरने की आशंका है लालूंग कबाइलियों ने बंगाली मुसलमानों को मारा; कोकराझाड़ परगने में बोरो कछारी, बंगाली हिंदू मुसलमान के विरुद्ध लड़े। गोहपुर में बोरो लोग असमी हिंदुओं से लड़े, धेमाजी में जोनाई मिशिंग कबाइली बंगाली हिंदुओं और मुसलमानों से लड़े; सामगुड़ी में मुसलमानों ने हिंदुओं को मारा; धालिया और ठेकरापुरी में मुसलमानों ने हिंदुओं को, चौलखोवा चपोरी में असमी हिंदुओं और मुसलमानों ने मिलकर बंगाली मुसलमानों को मारा। हर समुदाय जो एक जगह पीड़ित था, वह दूसरी जगह आक्रांता बना" (अरुण शौरी : ३१ मई, १९८३)।

कानून और व्यवस्था के लगभग भंग हो जाने के फलस्वरूप विभिन्न समुदाय भय और क्रोध से भर गये और अपनी सुरक्षा के लिए उन्हें आक्रमण ही सबसे अच्छा उपाय नज़र आया। और जो समुदाय स्थानीय रूप से समान केंद्रीय अधिसत्ता के विरुद्ध खड़े हुए थे, वे भी आपस में एक दूसरे पर संदेह करने लगे। केंद्रीय-सरकार के प्रति यह धारणा थी कि वह अन्याय करेगी और जोरजबर से एक कठपुतली सरकार का राज्य स्थापित करेगी। इसका परिणाम हुआ ज़ाहिरा तौर पर लोकतंत्र प्रक्रिया का बहिष्कार, जिसका उद्देश्य केंद्रीय शासन द्वारा आंदोलन को कुचल कर राज्य में जनप्रतिनिधियों की सरकार बनाना था। १५ प्रतिशत निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव न हो सके। शेष में जहाँ तकनीकी रूप से कहने को वह पूरा हुआ, वहां २५ प्रतिशत से कम मतदान हुआ। एक तिहाई में १० प्रतिशत से भी कम, और २० प्रतिशत में ५ प्रतिशत से भी कम, जबकि सामान्यतः ५० प्रतिशत से ७५ प्रतिशत मतदान होता है।

इस निर्वाचन का स्वांग निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है : ढाकुआखाना निर्वाचन क्षेत्र में ७६,८७७ मतदाता थे और १११ मतदान केंद्र। इसमें से केवल १७ केंद्रों में मतदान हुआ। सात में एक भी वोट नहीं पड़ा और बाकी १० केंद्रों में ६५० मतदाता थे। विजेता को केवल

५८७ मत प्राप्त हुए और वह बाद में राज्य सरकार में उपमंत्री बनाए गए। धर्मपुर निर्वाचन क्षेत्र में ६९,३०८ मतदाता थे, जिनमें से केवल २६७ व्यक्तियों ने मत डाला और कुल २६६ मत पाकर वहां उम्मीदवार विजयी हुआ, जो बाद में मंत्री बनाया गया।

निर्वाचन की इस धांधली ने जनता की नज़र में निर्वाचन की वैधता को समाप्त कर दिया और मात्र तकनीकी औचित्य पर प्रतिनिधि सरकार के स्थापित हो जाने से जनता के मन में अविश्वास ही बढ़ा। यद्यपि पिछले एक साल से असम में ज़ाहिरा शांति नज़र आती है पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बहुसंख्यक जनजातीय समूह सरकार से विमुख हो गया है और उनमें अलगाववादी भावनाएं ज़ोर पकड़ रही हैं और एक अन्याय का एहसास उनके मन में है।

ऐसी परिस्थिति में राज्य सरकार की स्थापना जिसे अल्पसंख्या का समर्थन प्राप्त है, भविष्य के लिए अच्छा संकेत नहीं है। ऐसी सरकार अपने संचालन के लिए अनिवार्यतः सेना और अर्ध-सैनिक बल पर और गैरकानूनी आप्रवासियों के समर्थन पर आश्रित होगी। इससे असम का जनजातीय समुदाय जो अपनी अस्मिता को बनाए रखना चाहता है और अधिक रुष्ट और असंतुष्ट होगा।

असम का दृष्टांत हमें पुनः जनजातीय बनाम राष्ट्रीय अस्मिता के अपने मूल प्रश्न पर ला देता है। किस प्रकार इन दो समर्थन विरोधी निष्ठाओं में समन्वय स्थापित किया जाए जो एक ओर तो जनजातीय अस्मिता की आदिकालीन आंकाक्षाओं को संतुष्ट कर सके, और दूसरी ओर राष्ट्रीय निष्ठा की व्यावहारिक मांगों को। एकतत्वीय समाज में यह सरल था, किंतु बहुतत्वीय, बहुजनजातीय और बहुसंस्कृति समाज में यह समस्या पर्याप्त जटिल है और इसके लिए उदार समाधान खोजना होगा जिसमें लोग अपनी पृथक-पृथक जनजातीय अस्मिताओं को संजोने के साथ-साथ यह भी महसूस न करें कि अधिक उन्नत समूह उन पर हावी होंगे। इसके लिए बहुलतावादी (प्लूरलिस्ट) समाधान ढूंढ़ने होंगे, जिनमें जनजातीय समूहों को पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त हो और वे अपने को बराबर का साझीदार समझ सकें और साथ ही साथ एक व्यापक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा में मूर्त एक व्यापक अस्मिता से भी अपने को जोड़ सकें। रस्सी पर बिना डगमगाए चलने के इस करिश्में को साधने के लिए अत्यंत धैर्य, समझ और उदारता की ज़रूरत है, जो जनजातीय अस्मिताओं के संघर्ष और विरोध की समस्या का ऐसा व्यावहारिक समाधान ढूंढ सके जो भारत की परिस्थिति में कारगर सिद्ध हो।

सहायक ग्रंथ सूची

Ake, Clande	1976	The Theory of Political Integration.
Akzin, Benjamin	1964	State and Nation.
Bell, O.	1975	'Ethnicity and Change' in Ethnicity, Theory and Experience eds, N. Glazer and D. P. Monihon.
Brass, Paul, R.	1974	Language, Religion and Politics in North India.
Barth, F.	1969	Ethnic Group and Boundaries.
Cassinelli, C. W.	1969	'The National Community,' *Polity*, II No. 1. Sept.
Deutsch, Karl	1966	Nationalism and Social Communication : An Enquiry into the Foundation of Nationality.
Dumont, Louis	1964	'Nationalism and Communalism', Contributions to *Indian Sociology*, VII, 30-70. March
Gautam, Mohan, K.	1981	From Local Protest to Tribal Nationalism : the Emergence of New Ethnicity as the New Strategy of Tribal Identity of Jharkhand in Chhota Nagpur, India, Paper presented in VIIth Conference of South East Asian Studies, London.
Rustomji, Nari	1983	India's Imperilled Frontiers : India North Eastern Borderlands.
Rustow, Dankwart, A.	1967	A World of Nations : Problems of Political Modernization.
Shouri, Arun	1983	'Assam Elections; Can Democracy Survive them ? In *India Today*, pp. 44-57, May 31.
Weiner, Myron	1978	Sons of the Soil.
	1966	'Political Integration and Political Development' in Jason L. Finkle and W. Gable (eds.) Political Development and Social Change, pp. 551-62.

युवा असंतोष

आरजू रायपुरी

शहरी युवा शक्ति ने बुजुर्गों को अचानक आ घेरा है। युवा असंतोष एवं आक्रोश ने भारतीय इतिहास के सातवें दशक में गुजरात और बिहार की दो राज्य सरकारों को हिला दिया और जयप्रकाश नारायण के कुशल नेतृत्व में १९७७ में केंद्रीय सरकार तक को उलट दिया।

युवा शक्ति के इस विस्फोट की कई कैफ़ियतों और उससे निपटने के अनेक उपदेशात्मक नैतिक उपचार सुझाए जा चुके हैं। इस सब में यह तथ्य तो निर्विवाद है कि बुजुर्ग वर्ग का युवा वर्ग से संपर्क, संवेदन और संचार समाप्तप्राय हो चुका है। इस पर बुजुर्गों को बड़ी हैरानी है।

विद्यमान युवा विद्रोह को समझने के लिए हमें वर्तमान उच्च शिक्षित युवा वर्ग की संरचना, संवेदनाओं, स्वप्नों और निराशाओं को समझना होगा, साथ ही उस सामाजिक वातावरण को भी जिसके बीच वह पल, बढ़ और रह रहे हैं। वे कौन सी ऐसी सामाजिक परिस्थितियां हैं जो तनाव और टकराव पैदा कर रही हैं? शिक्षा संस्थाओं और शहर के वातावरण में कौन से ऐसे तत्व हैं जो युवाओं को अध्यापक, अभिभावक और अधिकारी वर्ग के प्रति उत्तेजित कर रहे हैं और उन्हें अपने हिंसक आवेश का निशाना बना रहे हैं?

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उच्च औपचारिक शिक्षा का द्रुत विकास हुआ है। वह अब एक चुने हुए वर्ग तक सीमित नहीं रह गई है। विश्वविद्यालय की डिग्रियों की कीमत भले ही कौड़ी भर हो, अधिकांश निम्न, मध्यम और निर्धन वर्ग के माता-पिता अपनी और अपनी संतान की मुक्ति उसी में ढूंढते हैं। और हर तरह के कष्ट उठाकर अपनी हैसियत से बाहर जाकर, वे उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने के लिए बेचैन हैं। अब कालेज या विश्वविद्यालय कुलीन, उच्चजातीय उच्च पदस्थ या अभिजात वर्ग की संस्था नहीं रह गई है जिसकी कि अपनी विशिष्ट और निश्चित परंपराएं थीं। अब उसका आधार बहुत विस्तृत हो गया है। बहुसंख्यक ऐसे युवक और युवतियां उसमें प्रवेश पा चुके हैं जिनके कि माता-पिता का दूर से भी उच्च शिक्षा से कोई वास्ता न था जिन्हें सामंती वर्ग की भाषा में धोबी, नाई, पासी और चमार कहा जाता है।

आरज़ू रायपुरी, शिवालिक व्यवहार विज्ञान एवं शिक्षा संस्थान, ग्राम रायपुर, जिला सहारनपुर।

शहरी युवा

शहरी युवा, रोज घर में माता-पिता, शिक्षण संस्थाओं में अपने से भिन्न विद्यार्थियों और अध्यापकों के संपर्क में आता है। परोक्ष रूप से वह प्रशासकों, विधायकों, राजनीतिज्ञों, उद्योगपतियों आदि वर्गों के बारे में प्राय: जो कुछ सुनता है वह बहुत आकर्षक नहीं है। एक साधारण निम्न परिवार का विद्यार्थी जब अभिजात वर्ग के सहयोगियों के संपर्क में आता है तब उसे तीव्रता से अपनी हीनता और छोटेपन का बोध होता है। अपनी वेशभूषा, भाषा, बोलचाल सभी में उसे कुछ कमी खटकती है और वह प्राणपण से इस प्रयास में जुट जाता है कि वह भी अभिजात वर्ग की जीवन शैली का अनुकरण कर सके।

स्वतंत्र भारत में अभिजात वर्ग के मूल्यों और आचार को आत्मसात कर ही आधुनिक भारतीय युवा भावी जीवन में संतोष और सफलता की आशा कर सकता है। उसके ये प्रयास उसके माता-पिता के कमजोर कंधों पर और अधिक बोझा डालते हैं। उसकी नई-नई मांगों और बढ़ती मंहगाई के बीच जीवन की सामान्य आवश्यकताएं जुटाने की गंभीर समस्या माता-पिता और संतान के संबंधों में निरंतर एक तनाव की स्थिति कायम रखती है। गृहस्थी को चलाने की समस्या, बहनों के विवाह और दहेज की चिंता और उसे लेकर घर में चलता निरंतर विवाद, एक शिक्षार्थी युवा को शीघ्र ही प्रौढ़ जीवन में प्रवेश करा देता है। इस प्रकार ये युवा अपने मानसिक विकास में समय से पहले ही अकाल प्रौढ़ हो जाते हैं। इस अकाल-प्रौढ़ता के परिणामस्वरूप उच्च शिक्षित युवा अन्य व्यक्तियों से आत्मीयता स्थापित करने में अक्षम हो जाते हैं और उनके व्यक्तित्व में अस्थिरता आ जाती है।

माता-पिता इस आस में उन्हें पेट काट कर उच्च शिक्षा दिलाते हैं कि वे जैसे-तैसे डिग्री पाकर कोई ऊंची नौकरी पा लें। घर में रुपये की महत्ता का हर समय बखान होता है। सच्चाई और ईमानदारी जैसे गुणों को ग्रहण करना भी शिक्षा या जीवन का उद्देश्य है। अब घर में उसका जिक्र तक भी नहीं होता। यहां तक कि युवाओं को नैतिकता के दोहरे मानदंड अपनाने की ओर प्रेरित किया जाता है जिसके अंतर्गत सच्चाई और ईमानदारी घर के लिए है, बाहर वालों के लिए छलकपट और दंद-फंद। चाटुकारी और चमचागिरी तो अब सफलता की नई सीढ़ियां बन गयी हैं।

नव-शिक्षार्थी युवाओं का अब अपने पड़ोस से कोई घनिष्ठ संपर्क नहीं रह गया है। उसका एक कारण तो यह भी है कि उनमें से बहुत से हाल ही में शहर के किसी मुहल्ले में बसे हैं। पड़ोसियों, विशेषकर जो अपने से कमजोर या निर्धन हैं, के साथ उठने-बैठने और उनके सुख-दु:ख में सम्मिलित होने का, न तो अब रिवाज़ ही रह गया है, न ही प्रेरणा।

छोटे तबके के लोगों के साथ दया और सहानुभूति तो दर्शायी जा सकती है पर उनके साथ अधिक मेलजोल शिक्षित नौजवान के लिए अच्छा नहीं समझा जाता। साधारण परिवार के शिक्षित युवा की भी लालसा रहती है कि वह समृद्ध और असरदार 'बड़े लोगों' से ही अपना

रसूक बढ़ायें, क्योंकि आज वही उसके जीवन आदर्श बन गये हैं। उच्च शिक्षा पाने वाले शहरी युवा आज एक ऐसे माहौल में रह रहे हैं जिसमें आदर्शवाद, त्याग और सादगी बेवकूफी की चीजें मानी जाने लगी हैं। आस-पास ऐसे बुजुर्गों का सर्वथा अभाव है जो अच्छाई, योग्यता, सेवावृत्ति की मिसाल पेशकर उन्हें प्रेरित कर सकें। शिक्षा समाप्त करने के बाद रोजगार पाने और अपने पैरों पर खड़े होने की अनिश्चितता ने युवाओं के रहे-सहे आत्मविश्वास को नष्ट कर दिया है। भारतीय युवा या तो अत्यंत चिंताग्रस्त और बूढ़ा बन गया है या बिलकुल छिछोरा और बचकाना।

उच्चवर्ग से निराशा

उच्च शिक्षा संस्थाओं के अधिकांश अध्यापक आज अपने घटिया व्यवहार और संदिग्ध नैतिकता और निकृष्ट योग्यता और चरित्र से युवाओं को और भी निराश कर रहे हैं। वह देखते हैं कि ऐसे अध्यापक जिन्हें न अध्ययन से अनुराग है और न ही जो उसे कुछ मानवीय गुण सिखा सकते हैं, अपनी तिकड़म और राजनीतिक जोड़-तोड़ के जोर पर उच्च शिक्षक पदों पर आसीन हैं। उन्हें विद्यार्थियों को ज्ञानार्जन कराने और उनकी बौद्धिक पिपासा को शांत करने के लिए फुरसत नहीं है। वे यहां तक भी पसंद नहीं करते कि उनके विद्यार्थी अन्य अध्यापकों से भी खुलकर मिलें। उनमें से अनेक तो अपनी तरक्की के लिए विद्यार्थियों का गुट बना, उसके माध्यम से अपनी सुरक्षा ढूंढते हैं। और इस तरह विद्यार्थी गुटों की शक्ति से अध्यापक अपने अन्य साथियों और राजनीतिक विरोधियों का मुकाबला करते हैं।

इस कोटि के कालेज-विश्वविद्यालय के अध्यापक परीक्षाओं को भी कृपा या कोप का साधन बना लेते हैं। यही कारण है कि योग्य और होनहार विद्यार्थियों का वर्तमान परीक्षा प्रणाली की निष्पक्षता पर से भी विश्वास उठ गया है। अध्ययन और मनन का स्थान चमचागिरी और नकलखोरी ने ले लिया है। इनसे सहज ही सफलता मिल जाती है। एक वर्ग के रूप में अध्यापकों का अपने विद्यार्थियों की दृष्टि में कोई सम्मान नहीं रह गया है।

ऐसी परिस्थिति में उच्च पदस्थ अधिकारी या नेता युवकों के मन में आक्रोश और घृणा और भी बढ़ती है। जबकि अधिकांश युवकों के लिए अपनी सामान्य आकांक्षाओं की प्राप्ति के अत्यल्प अवसर हैं, तो कोई ताज्जुब नहीं कि उनकी मानसिक शक्तियां, मनोविज्ञान की भाषा में प्रतिगमन (रिग्रेशन) की ओर प्रेरित हो जाएं, जिसका एक लक्षण है समस्याओं का सरलीकरण, अपनी तात्कालिक परिस्थितियों को सुधारने में अपने को असहाय और नपुसंक पाना।

युवकों के इस 'प्रतिगमन' का लक्ष्य बनते हैं अपने से गैर, युवा समूह, अध्यापक समुदाय, सरकार और राजनीतिज्ञ, व्यापारी व रेल कर्मचारी आदि। यही 'प्रतिगमन' युवकों में राजनैतिक आंदोलन के साधनों के प्रति एक 'जादुई' और 'करिश्माई' विश्वास पैदा करता है। बजाय इसके कि वे अपने वातावरण को सुधारने के लिए आवश्यक सामाजिक व्यवहारिक कुशलता प्राप्त करें वे तोड़-फोड़, व गुंडागिरी का सहारा लेते हैं।

इस प्रकार शहरी शिक्षित युवा का वर्तमान मानसिक संताप वैध लक्ष्यों की प्राप्ति न होने का परिणाम है। इसका समाधान अब और भी जटिल हो गया है, क्योंकि अब बुजुर्गों के प्राथमिक और अन्य वर्गों माता-पिता, शिक्षक, प्रशासक, राजनीतिज्ञों, रोजगारदाताओं से युवकों का कोई आत्मिक आदान-प्रदान नहीं रह गया है। यहां तक कि राजनैतिक दल भी उनमें बराबर कोई दिलचस्पी नहीं लेते। सिर्फ सामान्य चुनाव के समय ही युवा शक्ति को इस्तेमाल करते हैं और जो युवा चुनाव के लिए काम करते हैं, वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि आज चुनाव किस तरह लड़े जा रहे हैं। उनमें रुपये, जाति, संप्रदाय और हिंसा की क्या महत्ता है। यही आकांक्षी युवक जब विद्यार्थी नेता बनने की सोचते हैं, तब वे छात्र संघ के चुनाव में बाहरी आम चुनाव के तौर-तरीकों की नकल करते हैं।

जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में युवा आक्रोश ने एक नई दिशा ली थी। इस मायने में कि उसने अब उन मसलों को उठाया था, जैसे मंहगाई, भ्रष्टाचार, प्रशासनिक अक्षमता जो अभी तक केवल जन-साधारण की ही दिलचस्पी के विषय थे। इसलिए उस युवा आंदोलन ने जन-साधारण को आकृष्ट किया। युवा विद्रोह को प्रतिष्ठा प्रदान की। पर पिछले पांच सालों ने पुनः युवा वर्ग को अवसरवादिता समाज-विरोधी दिशा में भटका दिया है। जयप्रकाश की मृत्यु के बाद भारतीय राजनीति में ऐसा भावी नेता न बचा जो युवा शक्ति को सही रास्ता दिखाता, उसे समाज निर्माण में लगाता।

इस स्थिति से कैसे निपटा जाय ? सबसे पहले तो बुजुर्ग और सत्ताधारी पीढ़ी, युवकों की आंतरिक भावनाओं, आशंकाओं को भली भांति समझने का प्रयास करें। यह कार्य केवल उपदेश और चेतावनी से सिद्ध नहीं होगा। इसके लिए जन-नेतृत्व को उनका विश्वास पुनः प्राप्त करना होगा और इसके लिए अपने आचरण को बदलना होगा। क्या यह संभव है ?

राष्ट्रीय शिक्षा में लोक कलाशिल्प का महत्व

यशोधर मठपाल

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः—'इसीलिए लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं।' श्रीकृष्ण के गीता के इस कथन में वेद से तात्पर्य शास्त्रीय ज्ञान तथा लोक से अभिप्राय जनमानस में प्रचलित परंपरागत ज्ञान से है। लोक कला एवं शिल्प का तात्पर्य भी शिक्षित नागरजनों द्वारा शास्त्रीय नियमों में गढ़ी गई ललित कला एवं शिल्प से न होकर, उस कलाशिल्प से है जो बिना दीर्घकालिक विधिवत दीक्षा के परंपरागत रूप से सामाजिक परिवेश में सीखी जाती है और विशेष धार्मिक या लौकिक अवसरों पर, या आवश्यकता के अनुरूप जिसका सृजन किया जाता है। इस प्रकार लोक कलाएं एवं शिल्प किसी भी समाज की सांस्कृतिक चेतना के प्रतिबिम्ब हैं जिनमें उस समाज की स्वाभाविक कलाप्रियता एवं उसके सदस्यों की मनोधारा के दर्शन होते हैं। भारत का सच्चा दर्शन उसके ग्रामीण एवं जनजातीय अंचल में विकसित लोक कलाओं में ही होता है।

लोक कलाशिल्प की रचना सामग्री होती है, क्षेत्र विशेष में पाई जाने वाली सामग्री; उसके 'मोटिफ' होते हैं जनमानस में व्याप्त धार्मिक, पौराणिक विचारधारा से अनुप्रेरित मानस पुत्र; और उसके रचयिता होते हैं, वे स्वच्छन्द हाथ जो त्वरित गति से एक निश्चित रूप रचते हुए दौड़ते हैं। लोक कला तथा शिल्प का सम्बन्ध जीवन से है, रीति रिवाजों और सामाजिक आवश्यकता से है। यहां कला केवल कला के लिए जीवित नहीं रहती, एक संस्कृति विशेष की संवाहिका बनकर प्रस्फुटित होती है। लोक कला हो या शिल्प, इसमें सजीवता, सहजता, अकृत्रिमता एवं गतिशीलता के गुण विद्यमान होते हैं। इस कला को बुद्धि से नहीं, संवेदना से समझा जा सकता है। लोक कला में कलाकार एक विशेष व्यक्ति बनकर नहीं, एक समाज का प्रतिनिधि बनकर समवेत रूप में प्रकट होता है। वह यद्यपि स्वतंत्र है, पर उसके द्वारा निर्मित प्रतिमान चिरपरिचित एवं परंपरागत होते हैं। एक कलाकार से दूसरे कलाकार की रचना में दक्षता की मात्रा भिन्न हो सकती है। पर दोनों की रचना में ऐसा कुछ भी नहीं होता, जो एक दूसरे की समझ में न आए।

लोक कलाकार का पदस्तर यद्यपि लोक कलाकारों का विशेष वर्ग नहीं होता फिर भी

यशोधर मठपाल, अध्यक्ष, लोक संस्कृति संग्रहालय, महरागांव (नैनीताल)।

लोक कलाएं मुख्यतः महिला एवं पुरोहित वर्ग तक सीमित नहीं है। जबकि लोक शिल्प के रचयिता प्रायः पुरुष होते हैं, जो शिल्पी या शिल्पकार कहे जाते हैं और भारतीय समाज में निम्न वर्ग में गिने जाते रहे हैं। कुमायूं क्षेत्र में 'हरिजन' तथा 'आरी' (आर्य समाज द्वारा दिया गया आर्य शब्द का तद्‌भव रूप) शब्दों के आधुनिक प्रचलन से पूर्व राजमिस्त्री, बढ़ई, लोहार, सुनार, दर्जी, टमटा (ठठेरा), हुड़किया (नर्तक) आदि लोगों को 'शिल्पकार' नाम से पुकारा जाता था।

यह दुर्भाग्य का विषय है कि पुरोहित वर्ग को छोड़, शेष समस्त प्रकार की कलाओं के ज्ञाता का भारतीय समाज में कभी भी ऊंचा स्थान नहीं रहा है। चित्रकार और मूर्तिकार का आज का सम्मानपूर्ण दर्जा वस्तुतः पश्चिमी सभ्यता की देन है। मनु ने शिल्पजीवी लोगों के हाथों का भोजन गर्हित बताया है। उन्हें श्राद्ध आदि धार्मिक अवसरों पर निमंत्रण देने का भी निषेध किया है। कुमायूं के पाली पंछाउ परगने में परंपरागत कुम्हार रहते थे, जिन्हें 'पजै' कहा जाता था। प्रथम जनगणना में उनको हरिजनों में शामिल किया गया। नई पीढ़ी ने इसे अपमानजनक समझा। आस-पास वालों ने इसका कारण उनका पेशा बतलाया। दूसरी जनगणना तक पजै अपना पेशा त्याग बैठे। आज उनमें से कोई भी पजै नहीं है। सभी ठाकुर हो गये हैं।

जिन्हें आज कुटीर उद्योग या हस्त शिल्प कहा जाता है, वे सभी लोक कला एवं शिल्प के ही रूप हैं। सोना, चाँदी, कांसा, तांबा, पीतल, लोहा, हाथीदाँत, सीपी, चंदन, लकड़ी, बांस, बेंत, पत्थर, मिट्टी, मोम, चमड़ा, कपड़ा आदि से बनी समस्त कला सामग्री जो दैनिक जीवन को सुन्दर एवं जीवंत बनाती है लोक कला शिल्प की परिधि में आती है। 'ललित विस्तार' की ८६ कलाओं की सूची में जिन्हें रूपम (मूर्तिकला), रूपकर्म (चित्रकारी), जतुयंत्र (लाख का काम), मधुच्छिष्टकृतम (मोमकार्य), सूचीकर्म (सूई का काम) तथा कामसूत्र की ६४ कलाओं में जिन्हें आलेख्यम् (चित्रकारी), सूचीवानकर्माणि (सीना पिरोना), पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः (बेंत तथा बांस की वस्तुएं बनाना), तक्षकर्माणि (सोने चाँदी का काम), तक्षणस (बढ़ईगिरी) वास्तु विद्या आदि कहा गया है, वे सब लोक कला शिल्प ही हैं। इसी प्रकार 'शुक्रनीतिशास्त्र' में जिन्हें अनेक 'अनेकवाध्यविक्रतो तद्‌वादने ज्ञानम्', 'अनेक रूपाविर्भाव कृतिज्ञानम्', 'मृतिकाकाष्ठपाषाणधातुभाण्डादिशक्रिया', 'चित्राद्यालेखनम्', 'सूत्रादिरज्जुकरण विज्ञानम्', 'अनेकतंतुसंयोगेपटबन्धः,' 'स्वर्णाद्‌यालंकारकृतिः', 'वेणुतृणादिपत्राणाम् कृतिज्ञानम्', तथा 'काचपात्रादिकरण विज्ञानम्', नाम से कला सूची में गुंफित किया गया है, वे सभी और प्रबन्ध कोश के चित्रकर्म पाषाणकर्म, चर्मकर्म, धातुकर्म आदि ७२ कलाओं की सूची के समस्त उद्योग लोक कला-शिल्प के पर्याय हैं।

लोक कला के आविर्भाव एवं देशकाल सम्बन्धी विस्तार पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो कहना पड़ेगा कि यह कला कई लाख वर्ष पूर्व अस्तित्व में आई थी और भूमंडल का एक भी ऐसा महाद्वीप नहीं है जहाँ इसका अस्तित्व न रहा हो। जिसे आज पाषाण कालीन

गुफा कला या प्रागैतिहासिक कला कहा जाता है वह तत्कालीन लोक कला ही थी, और जिसे जनजातीय कला कहा जाता है वह भी उन जनजातीय कबीलों की लोक कला ही तो है।

फ्रांस के दौरदोन क्षेत्र में एक गुफा के पुरातत्वीय जमाव में प्रसिद्ध फ्रेंच पुराविद् फ्रांसुआ बोर्द को १९६९ में बैल की पसली की एक हड्डी उपलब्ध हुई। उस हड्डी पर समानांतर वर्तुलाकार रेखाओं का ऐसा अंकन है कि उसे मानव निर्मित ही माना जा सकता है। जिस धरातल पर यह हड्डी मिली उसका काल कम से कम ईसा से तीन लाख वर्ष पूर्व का है, अर्थात् हमारे महामेधावी (होमोसेपियन) पुरखों के आविर्भाव से भी ढाई लाख वर्ष पूर्व।

भारत में ही उत्तर-पुरापाषाणकाल में जो सैकड़ों कला सामग्री मिली हैं जिनमें गुफा चित्र, अलंकृत अस्थि, शृंग उपकरण तथा बहुचर्चित मातृ देवी की मिट्टी तथा अस्थिचूर्ण से बनी मूर्तियां हैं जिनकी कलात्मकता पर अंगुली नहीं उठाई जा सकती। इन चित्रों, मूर्तियों तथा अलंकृत अस्थि उपकरणों का काल ईसा से लगभग ३० हजार से १२ हजार वर्ष पूर्व का है।

हमारे देश में मध्य भारत के पर्वतीय एवं खानदेश के पठारी प्रदेश में उष्टपक्षी के कई अलंकृत अंडे सकल, धुर दक्षिण-पूर्व की चूने की पत्थरी तथा विंध्य की बलुआ पत्थरी गुफाओं में अलंकृत अस्थि उपकरण और कैमूर की गोद में बहती बेलन नदी की तली में जो मातृदेवी की मूर्ति मिली है, उन सबका काल लगभग २०,००० वर्ष पूर्व है। मुख्य रूप से मध्य भारत, एवं छिटपुट रूप से समस्त भारत में १५० से भी अधिक स्थानों पर जो हजारों गुफाएं, पाषाण-कालीन मानव द्वारा चित्रों से अलंकृत मिली हैं, उन्हें भारत की उषा कालीन लोक कला के मन्दिर कहा जाए तो गलत न होगा। इन चित्रों में कुछ तो १० सहस्त्र वर्ष या संभवतः उससे भी अधिक प्राचीन हैं। सिंधु सभ्यता के चित्रित मृद्भांडों और मुखर खिलौने निर्माताओं में यदि आधुनिक कुम्हारों का अतीत हमें दिखाई देता है, तो वह उचित ही है। यद्यपि गुप्तकालीन सछातः पुत्र जैसे धनी कुम्हार जिनकी ५०० तक खिलौनों की दुकानें हुआ करती थीं, के समान ऋद्धि सम्पन्न कुंभकार आज नहीं है और न वैसी मृगमयी ललित नारी मूर्तियां (टेराकोटा) ही आज के लोक-शिल्पियों के हाथों से विनिर्मित होती हैं, किन्तु लोक कला एवं शिल्प की एक अविच्छिन्न परम्परा आज भी समस्त भारत में विद्यमान है। हिमालय के आंचल में 'एपण', 'बारबूंद', 'ज्योति', 'दस्यर', 'पातड़', 'जन्माष्टमीपट' एवं 'मेंहदी' के रूप में लोक कला तथा 'डिकर', 'नन्दा सुनन्दा मूरत', 'समधीलाड़ु', 'निसाण', 'पोशाक', आभूषण, बर्तन, काष्ठकला तथा वास्तुकला के रूप में लोक शिल्प के दर्शन होते हैं तो गंगा-जमुना की गोद में 'कोहवर' 'चौकपूरण', 'छापे, 'मूरत', 'पुतरी', 'गोदना', 'महावर', 'मेंहदी' आदि के रूप में हमें लोक कला एवं शिल्प जीवित मिलते हैं। पूर्वी भारत में कालीघाट के 'चतुरपट' निर्माता, दुर्गा एवं सरस्वती की आदमकद प्रतिमाओं तथा 'बैनेपुतुल' जैसी सुकुमार गुड़ियों को जन्म देने वाले और सर्वोपरि कृष्णनगर के दैनिक जीवन को साकार करने वाली मृगमूर्तियों के सृष्टा जहाँ लोक कला शिल्प को जीवित रखे हैं, वहीं मुर्शिदाबाद तथा कलकत्ता के हाथीदांत के दंतकार

लोक शिल्प की उच्चता के मापदंड हैं। यदि ढाके की मलमल सात तह लपेटे जाने पर भी मुगल शहजादी को बेपर्दा रख छोड़ती है तो 'अल्पना' के इन्द्रजाल में आज भी बंगाल का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। असम का 'गारुचौक' यदि ऊनी कढ़ाई की परिसीमा है, तो उत्कल की धरती पर कोणार्क के शिल्पियों के वंशधर पत्थर एवं 'पेपरमसी' की मूर्तियां और 'जगन्नाथ' बनाने में अपनी दक्षता का डिमडिम नाद करते हैं।

मिट्टी के खिलौने में यदि लखनऊ तथा वाराणसी के कलाकर हमेशा होड़ में रहते हैं तो अहमदाबाद एवं पाटण के मृदाशिल्पी इस कला में पीछे रहना नहीं चाहते। विंध्य के दक्षिण का संभवतः हर परिवार प्रातः उठकर अपने द्वार पर नित्य नई 'रंगोली' बनाना अपना प्रथम कर्तव्य समझता रहा है। धुर दक्षिण की हाथीदाँत, चंदन एवं आबनूस की लकड़ी की सुंदर मूर्तियां, लोक शिल्प की भव्यता को बनाए हुए हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे अखरोट की लकड़ी की नक्काशी और 'कला बत्तू' तथा जरी के काम में कश्मीरी शिल्पी। मेंहदी मांडने और फूल-कारी कला में राजस्थान का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, तो लखनऊ की चिकन और 'बिदरी' के काम की कारीगरी भी अद्वितीय हैं। कसीदाकारी, सलमासितारे, गोटाजरी, रेशमी धागों और सोने चांदी के तारों के नजाकत भरे हुनर और फन ने भारतीय नारियों की वस्त्रसज्जा को दीर्घकाल से आकर्षण और कलावत्ता प्रदान की है।

अब यदि जनजातीय जीवन पर दृष्टिपात करें तो यह देख-सुनकर आश्चर्य होता है कि इतरजनों द्वारा सब प्रकार के जीने के अधिकार से वंचित किए जाने के बावजूद, भारत को उष्मता एवं प्राण देने में जनजातीय इन्द्रधंनुषी संस्कृति ने ही सबसे अधिक सक्षम योगदान किया है। हमारे प्रतिवर्ष के गणतंत्र दिवस का सर्वोत्तम आकर्षण भी तो यही आदिवासी सम्मिलन हैं जो पहाड़ों, जंगलों से निकलकर वर्ष में एक दिन राजधानी के कृत्रिम कोलतारी कंकरीट पर 'जंगल में मंगल' रचा देता है। औद्योगीकरण की पछुवा हवा के कारण नागरजनों में कलात्मकता मुरझा गयी है। आज का सामान्य परिवार अपनी कलाप्रियता को चितकबरे कलेंडरों से, संगीतप्रियता को टू–इन–वन के केसेट और टांजिस्टरों से, एवं नृत्यप्रियता को दूरदर्शन और सिनेमा के माध्यम से पूरा करता है। सिर की कंघी हो या चाय का प्याला, आवश्यकता पड़ने पर अब वे प्रायः तत्काल बाजार से प्लास्टिक या धातु के खरीद लिए जाते हैं, जबकि निर्धन 'मुड़िया' अपनी प्रेयसी के लिए लकड़ी को काट-छांटकर पूरा हृदय उड़ेलकर बड़े मनोयोग से एक कंघी को तराशता है और पूर्वी छोर पर बैठा नागा अपने बांस के प्याले को और होठों के पाइप को कई घंटे लगाकर पूरी कलात्मकता से तैयार करता है। उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश की सीमा में कूट पर बैठा उग्र 'बौड़ा' एक चूहें के पीछे १० रुपया रोज की मजूरी त्यागने में हमें भले ही असभ्य लगे पर पेड़ के रेशों से तैयार किए गये उसके चित्ताकर्षक वस्त्र निर्माण कला में उसकी गृहिणी हमारे फैशन डिजाइनरों को धता बता सकती है। भारत नेपाल सीमा पर खड़े पहाड़ी ढलानों की गुफा से संभ्रम झांकता राजी कबीला हमें बनमानुष भले ही लगे, पर अपने बसूले से जब वह लकड़ी के बर्तन घड़ना शुरू करता है तो हमारी खर्चीली निरुद्देश्य शिक्षा का मानों वह मजाक उड़ाता है।

तीन साल पहले थाणे से ३५० मील भीतर, जनवरी के जाड़े की रात में जब मैं एक 'वारली' आदिवासी की झोंपड़ी पर पहुंचा तो उसकी झोंपड़ी में मुट्ठी भर भोजन भी नहीं था। पर घर की दीवार पर गृहिणी द्वारा अंकित चित्र मंद प्रकाश में भी स्पष्ट झांक रहे थे। इसी प्रकार पिछले साल रायसेन जनपद के चारों गांवों में कोरकू लोगों की जिस विपन्नता के मैंने दर्शन किए वह अविस्मरणीय है। उनके घरों में सब चीजों का अभाव था, पर कलात्मकता विराजमान थी। कला की सामग्री न होते हुई भी, साफ सुथरी दीवालों पर मिट्टी से उभारी मानव, पशु-पक्षियों की आकृतियां आज भी स्मृतिपटल पर स्पष्ट अंकित हैं। संतोष के घर से जिस चारपाई को मैं खरीद लाया था, उसमें सारी कारीगरी सिर्फ बांस की थी, उसकी बान अदवायन तक भी। तभी तराई के चितीमजरा गांव में २० रुपया देकर मैंने एक थारू महिला से घास की रंगबिरंगी डमरूनुमा टोकरी खरीदनी चाही, तो उसने उस अमूल्य वस्तु की कोई भी कीमत लेने से इंकार कर दिया और अन्ततः उपहार में उसे दे दिया। टोकरी ही नहीं, आभूषण रखने की पिटारी, पंखा, रंगबिरंगे वस्त्र और दैनिक उपयोग की अन्य वस्तुएं थारुओं की समृद्ध लोक कलाशिल्प का परिचय देती है। गौड़, परधन, सावरा, वारली, रथावा और कोरकू जनजातियों में भित्तिचित्रण की एक यशस्वी कला मौजूद है। आदिवासियों की, चाहे वह तम्बाकू रखने की छोटी डिबिया हो या बालों में खोंसने की पिन, या फिर यादगार में खड़े किए जाने वाले मरणोपरांत स्मृति स्तंभ, सभी कलात्मक होते हैं। इस प्रकार लोक कला-शिल्प में जनजातीय भारत सबसे अधिक समृद्ध है।

शिक्षा में लोक कला का प्रयोग

लोक कला-शिल्प की देशकालजयी इस परिव्याप्ति के बाद राष्ट्रीय शिक्षा में इसके महत्व पर विचार करें। लोककला एवं शिल्प देश की माटी से जुड़े होने के कारण देश की आत्मा का दिग्दर्शन कराती है। अतः किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय शिक्षण में उनका योगदान अपरिहार्य है। गांधी जी द्वारा प्रवर्तित प्रचारित बेसिक शिक्षा का मूलाधार बालक बालिकाओं को उपयोगी कला द्वारा शिक्षण प्रदान करना था। ये उपयोगी कलायें और कुछ नहीं, लोक कलाएं और लोक शिल्प ही थे।

भारत में, जहाँ जनसंख्या, शिक्षित बेरोजगारी, निर्धनता, और विभिन्न मतावलंबियों के बीच सामाजिक समझ की समस्याएं हैं, लोक कला-शिल्प की सहायता से इनको एक हद तक सुलझाया जा सकता है। यदि शिक्षा का उद्देश्य मात्र साक्षरता न होकर, मनुष्य को धीर, गंभीर और सभ्य मानव बनाना है, तो लोक कला एवं शिल्प इस दिशा में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। कारण स्पष्ट है। लोक कला या शिल्प प्रायः परंपरागत व्यवसाय होते हैं। इनमें थोड़े समय में ही दक्षता प्राप्त की जा सकती है। शैशवकाल से ही अपने पिता को लकड़ी या कपड़े का काम करते देख कर बालक स्वतः अल्प आयु में ही उस कला से परिचित हो जाता है और स्वयं भी वह काम सीख जाता है। लोक कलाकार को जीवन में रोजगार के लिए ठहरना नहीं पड़ता और न दरदर भटकना पड़ता है। वह अपने समय का पूरा सदुपयोग करता है और अपनी आजीविका को अनायास कमा सकता है। लोक कलाकार के पास इतना

समय नहीं है कि वह फालतू कामों में उलझे, व्यसनों में पड़े, और असामाजिक तत्वों की संगति करे। इसीलिए उसका मन शांत और तनावरहित रहता है। अपनी रचना द्वारा उसे अर्थलाभ तो होता ही है, सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिलती है जिससे उसका अहं भी तुष्ट होता है, और उसका मनोरंजन भी होता है। इस प्रकार लोक कला समाज को सुसंस्कृत, शांत और परिश्रमी नागरिक देती है।

मेरे सामने दो युवक हैं जो मेरे बचपन के सहपाठी थे। पहले ने आर्थिक स्थिति अनुकूल होने से अपना अध्ययन चालू रखा, जबकि दूसरा गरीबी के कारण सातवीं से आगे नहीं पढ़ा। आज पहला एम० ए० का छात्र है और दूसरा राजमिस्त्री रहकर २५ रुपया रोज कमा रहा है। जबकि पहले को रोज २५ रुपया फूंकने को चाहिए, दूसरा शाँत गृहस्थ, परिश्रमी और समय का पाबन्द, मेहनती कार्य करने वाला है। पहला कुसंगति तथा हर प्रकार के व्यसनों से ग्रस्त अशांत निठल्ला नौजवान है, जिसके लिए समय काटना ही एक समस्या बन गई है। दूसरे युवक ने मिस्त्री का पैतृक धंधा बखूबी अपना कर जीवन सुगम बना लिया है, जबकि पहले के सामने विकराल भविष्य मुंह बाये खड़ा है।

एक नहीं लाखों उच्च शिक्षा–प्राप्त युवक-युवतियां हैं जो लोक कला एवं शिल्प के अभाव में स्वयं अपने जीवन को भारस्वरूप बनाए हुए हैं और राष्ट्र के लिए भी एक गंभीर समस्या हैं। वह शिक्षा जो एक गरीब के मेहनती बेटे को भी धीरे-धीरे निकम्मा और व्यसनी बना देती है, वह शिक्षा जो गावों के भोले बालकों को भी बड़े शहरों के दरवाजे खटखटाने को मजबूर कर देती है, वह शिक्षा जो अर्थकारी न होकर युवकों को अनर्थकारी कार्यों के लिए बाध्य करती है और जो नई पीढ़ी को सुसंस्कृत, धीर, गंभीर न बना कर, पदानुरागी, मदानुरागी और प्रमदानुरागी मात्र बना छोड़ती है, वह न तो व्यक्ति के लिए उपयोगी हो सकती है, न राष्ट्र के लिए। यदि हाथ चलते हैं तो मस्तिक स्वयमेव शांत होगा। देश के करोड़ों बच्चों को, शहरों में रोजगार नहीं दिया जा सकता है। पर हजारों लाखों विद्यालयों में वे अक्षर-ज्ञान के साथ उपयोगी धंधों का प्रशिक्षण पाकर उनमें से अधिकांश अपनी जीवन यात्रा चला सकते हैं। पर मूल प्रश्न यह है कि कैसे ऐसा वातावरण तैयार किया जाए? कौन बिल्ली के गले में घंटी पहनाए? कौन वर्तमान शिक्षा प्रणाली को बदले और उसके स्थान पर मानवीय लोक शिक्षा, लोक कला-शिल्प जिसका एक अभिन्न अंग है, बाल शिक्षा में उसे प्रतिष्ठापित करे? ये मूलतः राजनैतिक प्रश्न हैं। स्वस्थ सार्वजनिक शिक्षा नीतियां ही इस परिवर्तन को ला सकती हैं, बशर्ते देश के कर्णधार और उसका अभिजात वर्ग जिसके हाथ में सब प्रकार के सब क्षेत्रों का नेतृत्व है, अपने सामाजिक, सांस्कृतिक दायित्व को समझे और विद्यमान अधूरी ज़र्जर, पतनोन्मुख शिक्षा प्रणाली को बदलने का संकल्प करे। इस संकल्प के बाद ही इस निश्चय से प्रसूत परवर्ती प्रश्नों के व्यवहारिक समाधान बताने होंगे, जैसे लोक कला–शिल्पियों को क्या सुविधाएं दी जाएं; लोक कला–शिल्प की वस्तुओं की बिक्री की कैसी व्यवस्था हो; कैसे हर राज्य में, हर जनपद में, हर गांव और हर घर में लोक–शिल्प पुनर्जीवित हो, जिससे हर घर, हर गाँव, समग्र राष्ट्र और उसका प्रत्येक मानव सुखी, समृद्ध और संतुष्ट हो।

रसूक बढ़ायें, क्योंकि आज वही उसके जीवन आदर्श बन गये हैं। उच्च शिक्षा पाने वाले शहरी युवा आज एक ऐसे माहौल में रह रहे हैं जिसमें आदर्शवाद, त्याग और सादगी बेवकूफी की चीजें मानी जाने लगी हैं। आस-पास ऐसे बुजुर्गों का सर्वथा अभाव है जो अच्छाई, योग्यता, सेवावृत्ति की मिसाल पेशकर उन्हें प्रेरित कर सकें। शिक्षा समाप्त करने के बाद रोजगार पाने और अपने पैरों पर खड़े होने की अनिश्चितता ने युवाओं के रहे-सहे आत्मविश्वास को नष्ट कर दिया है। भारतीय युवा या तो अत्यंत चिंताग्रस्त और बूढ़ा बन गया है या बिलकुल छिछोरा और बचकाना।

उच्चवर्ग से निराशा

उच्च शिक्षा संस्थाओं के अधिकांश अध्यापक आज अपने घटिया व्यवहार और संदिग्ध नैतिकता और निकृष्ट योग्यता और चरित्र से युवाओं को और भी निराश कर रहे हैं। वह देखते हैं कि ऐसे अध्यापक जिन्हें न अध्ययन से अनुराग है और न ही जो उसे कुछ मानवीय गुण सिखा सकते हैं, अपनी तिकड़म और राजनीतिक जोड़-तोड़ के जोर पर उच्च शिक्षक पदों पर आसीन हैं। उन्हें विद्यार्थियों को ज्ञानार्जन कराने और उनकी बौद्धिक पिपासा को शांत करने के लिए फुरसत नहीं है। वे यहां तक भी पसंद नहीं करते कि उनके विद्यार्थी अन्य अध्यापकों से भी खुलकर मिलें। उनमें से अनेक तो अपनी तरक्की के लिए विद्यार्थियों का गुट बना, उसके माध्यम से अपनी सुरक्षा ढूंढते हैं। और इस तरह विद्यार्थी गुटों की शक्ति से अध्यापक अपने अन्य साथियों और राजनीतिक विरोधियों का मुकाबला करते हैं।

इस कोटि के कालेज-विश्वविद्यालय के अध्यापक परीक्षाओं को भी कृपा या कोप का साधन बना लेते हैं। यही कारण है कि योग्य और होनहार विद्यार्थियों का वर्तमान परीक्षा प्रणाली की निष्पक्षता पर से भी विश्वास उठ गया है। अध्ययन और मनन का स्थान चमचागिरी और नकलखोरी ने ले लिया है। इनसे सहज ही सफलता मिल जाती है। एक वर्ग के रूप में अध्यापकों का अपने विद्यार्थियों की दृष्टि में कोई सम्मान नहीं रह गया है।

ऐसी परिस्थिति में उच्च पदस्थ अधिकारी या नेता युवकों के मन में आक्रोश और घृणा और भी बढ़ती है। जबकि अधिकांश युवकों के लिए अपनी सामान्य आकांक्षाओं की प्राप्ति के अत्यल्प अवसर हैं, तो कोई ताज्जुब नहीं कि उनकी मानसिक शक्तियां, मनोविज्ञान की भाषा में प्रतिगमन (रिग्रेशन) की ओर प्रेरित हो जाएं, जिसका एक लक्षण है समस्याओं का सरलीकरण, अपनी तात्कालिक परिस्थितियों को सुधारने में अपने को असहाय और नपुसंक पाना।

युवकों के इस 'प्रतिगमन' का लक्ष्य बनते हैं अपने से गैर, युवा समूह, अध्यापक समुदाय, सरकार और राजनीतिज्ञ, व्यापारी व रेल कर्मचारी आदि। यही 'प्रतिगमन' युवकों में राजनैतिक आंदोलन के साधनों के प्रति एक 'जादुई' और 'करिश्माई' विश्वास पैदा करता है। बजाय इसके कि वे अपने वातावरण को सुधारने के लिए आवश्यक सामाजिक व्यवहारिक कुशलता प्राप्त करें वे तोड़-फोड़, व गुंडागिरी का सहारा लेते हैं।

इस प्रकार शहरी शिक्षित युवा का वर्तमान मानसिक संताप वैध लक्ष्यों की प्राप्ति न होने का परिणाम है। इसका समाधान अब और भी जटिल हो गया है, क्योंकि अब बुजुर्गों के प्राथमिक और अन्य वर्गों माता-पिता, शिक्षक, प्रशासक, राजनीतिज्ञों, रोजगारदाताओं से युवकों का कोई आत्मिक आदान-प्रदान नहीं रह गया है। यहां तक कि राजनैतिक दल भी उनमें बराबर कोई दिलचस्पी नहीं लेते। सिर्फ सामान्य चुनाव के समय ही युवा शक्ति को इस्तेमाल करते हैं और जो युवा चुनाव के लिए काम करते हैं, वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि आज चुनाव किस तरह लड़े जा रहे हैं। उनमें रुपये, जाति, संप्रदाय और हिंसा की क्या महत्ता है। यही आकांक्षी युवक जब विद्यार्थी नेता बनने की सोचते हैं, तब वे छात्र संघ के चुनाव में बाहरी आम चुनाव के तौर-तरीकों की नकल करते हैं।

जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में युवा आक्रोश ने एक नई दिशा ली थी। इस मायने में कि उसने अब उन मसलों को उठाया था, जैसे मंहगाई, भ्रष्टाचार, प्रशासनिक अक्षमता जो अभी तक केवल जन-साधारण की ही दिलचस्पी के विषय थे। इसलिए उस युवा आंदोलन ने जन-साधारण को आकृष्ट किया। युवा विद्रोह को प्रतिष्ठा प्रदान की। पर पिछले पांच सालों ने पुनः युवा वर्ग को अवसरवादिता समाज-विरोधी दिशा में भटका दिया है। जयप्रकाश की मृत्यु के बाद भारतीय राजनीति में ऐसा भावी नेता न बचा जो युवा शक्ति को सही रास्ता दिखाता, उसे समाज निर्माण में लगाता।

इस स्थिति से कैसे निपटा जाय? सबसे पहले तो बुजुर्ग और सत्ताधारी पीढ़ी, युवकों की आंतरिक भावनाओं, आशंकाओं को भली भांति समझने का प्रयास करें। यह कार्य केवल उपदेश और चेतावनी से सिद्ध नहीं होगा। इसके लिए जन-नेतृत्व को उनका विश्वास पुनः प्राप्त करना होगा और इसके लिए अपने आचरण को बदलना होगा। क्या यह संभव है?

राष्ट्रीय शिक्षा में लोक कलाशिल्प का महत्व

यशोधर मठपाल

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः—'इसीलिए लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं ।' श्रीकृष्ण के गीता के इस कथन में वेद से तात्पर्य शास्त्रीय ज्ञान तथा लोक से अभिप्राय जनमानस में प्रचलित परंपरागत ज्ञान से है । लोक कला एवं शिल्प का तात्पर्य भी शिक्षित नागरजनों द्वारा शास्त्रीय नियमों में गढ़ी गई ललित कला एवं शिल्प से न होकर, उस कलाशिल्प से है जो बिना दीर्घकालिक विधिवत दीक्षा के परंपरागत रूप से सामाजिक परिवेश में सीखी जाती है और विशेष धार्मिक या लौकिक अवसरों पर, या आवश्यकता के अनुरूप जिसका सृजन किया जाता है । इस प्रकार लोक कलाएं एवं शिल्प किसी भी समाज की सांस्कृतिक चेतना के प्रतिबिम्ब हैं जिनमें उस समाज की स्वाभाविक कलाप्रियता एवं उसके सदस्यों की मनोधारा के दर्शन होते हैं । भारत का सच्चा दर्शन उसके ग्रामीण एवं जनजातीय अंचल में विकसित लोक कलाओं में ही होता है ।

लोक कलाशिल्प की रचना सामग्री होती है, क्षेत्र विशेष में पाई जाने वाली सामग्री; उसके 'मोटिफ' होते हैं जनमानस में व्याप्त धार्मिक, पौराणिक विचारधारा से अनुप्रेरित मानस पुत्र; और उसके रचयिता होते हैं, वे स्वच्छन्द हाथ जो त्वरित गति से एक निश्चित रूप रचते हुए दौड़ते हैं । लोक कला तथा शिल्प का सम्बन्ध जीवन से है, रीति रिवाजों और सामाजिक आवश्यकता से है । यहां कला केवल कला के लिए जीवित नहीं रहती, एक संस्कृति विशेष की संवाहिका बनकर प्रस्फुटित होती है । लोक कला हो या शिल्प, इसमें सजीवता, सहजता, अकृत्रिमता एवं गतिशीलता के गुण विद्यमान होते हैं । इस कला को बुद्धि से नहीं, संवेदना से समझा जा सकता है । लोक कला में कलाकार एक विशेष व्यक्ति बनकर नहीं, एक समाज का प्रतिनिधि बनकर समवेत रूप में प्रकट होता है । वह यद्यपि स्वतंत्र है, पर उसके द्वारा निर्मित प्रतिमान चिरपरिचित एवं परंपरागत होते हैं । एक कलाकार से दूसरे कलाकार की रचना में दक्षता की मात्रा भिन्न हो सकती है । पर दोनों की रचना में ऐसा कुछ भी नहीं होता, जो एक दूसरे की समझ में न आए ।

लोक कलाकार का पदस्तर यद्यपि लोक कलाकारों का विशेष वर्ग नहीं होता फिर भी

यशोधर मठपाल, अध्यक्ष, लोक संस्कृति संग्रहालय, महरागांव (नैनीताल) ।

लोक कलाएं मुख्यतः महिला एवं पुरोहित वर्ग तक सीमित नहीं है। जबकि लोक शिल्प के रचयिता प्रायः पुरुष होते हैं, जो शिल्पी या शिल्पकार कहे जाते हैं और भारतीय समाज में निम्न वर्ग में गिने जाते रहे हैं। कुमायूं क्षेत्र में 'हरिजन' तथा 'आरी' (आर्य समाज द्वारा दिया गया आर्य शब्द का तद्भव रूप) शब्दों के आधुनिक प्रचलन से पूर्व राजमिस्त्री, बढ़ई, लोहार, सुनार, दर्जी, टमटा (ठठेरा), हुड़किया (नर्तक) आदि लोगों को 'शिल्पकार' नाम से पुकारा जाता था।

यह दुर्भाग्य का विषय है कि पुरोहित वर्ग को छोड़, शेष समस्त प्रकार की कलाओं के ज्ञाता का भारतीय समाज में कभी भी ऊंचा स्थान नहीं रहा है। चित्रकार और मूर्तिकार का आज का सम्मानपूर्ण दर्जा वस्तुतः पश्चिमी सभ्यता की देन है। मनु ने शिल्पजीवी लोगों के हाथों का भोजन गर्हित बताया है। उन्हें श्राद्ध आदि धार्मिक अवसरों पर निमंत्रण देने का भी निषेध किया है। कुमायूं के पाली पंछाउ परगने में परंपरागत कुम्हार रहते थे, जिन्हें 'पजै' कहा जाता था। प्रथम जनगणना में उनको हरिजनों में शामिल किया गया। नई पीढ़ी ने इसे अपमानजनक समझा। आस-पास वालों ने इसका कारण उनका पेशा बतलाया। दूसरी जन-गणना तक पजै अपना पेशा त्याग बैठे। आज उनमें से कोई भी पजै नहीं है। सभी ठाकुर हो गये हैं।

जिन्हें आज कुटीर उद्योग या हस्त शिल्प कहा जाता है, वे सभी लोक कला एवं शिल्प के ही रूप हैं। सोना, चाँदी, कांसा, तांबा, पीतल, लोहा, हाथीदाँत, सीपी, चंदन, लकड़ी, बांस, बेंत, पत्थर, मिट्टी, मोम, चमड़ा, कपड़ा आदि से बनी समस्त कला सामग्री जो दैनिक जीवन को सुन्दर एवं जीवंत बनाती है लोक कला शिल्प की परिधि में आती है। 'ललित विस्तार' की ८६ कलाओं की सूची में जिन्हें रूपम (मूर्तिकला), रूपकर्म (चित्रकारी), जतुयंत्र (लाख का काम), मधुच्छिष्टकृतम (मोमकार्य), सूचीकर्म (सूई का काम) तथा कामसूत्र की ६४ कलाओं में जिन्हें आलेख्यम् (चित्रकारी), सूचीवानकर्माणि (सीना पिरोना), पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः (बेंत तथा बांस की वस्तुएं बनाना), तक्षकर्माणि (सोने चाँदी का काम), तक्षणस (बढ़ईगिरी) वास्तु विद्या आदि कहा गया है, वे सब लोक कला शिल्प ही हैं। इसी प्रकार 'शुक्रनीतिशास्त्र' में जिन्हें अनेक 'अनेकवाध्यविकृतो तद्वादने ज्ञानम्', 'अनेक रूपाविर्भाव कृतिज्ञानम्', 'मृतिका-काष्ठपाषाणधातुभाण्डादिशक्रिया', 'चित्राद्यालेखनम्', 'सूत्रादिरज्जुकरण विद्यानम्', 'अनेकतंतु-संयोगेपटबन्धः,' 'स्वर्णाद्यालंकारकृतिः', 'वेणुतृणादिपत्राणाम् कृतिज्ञानम्', तथा 'काचपात्रादिकरण विज्ञानम्', नाम से कला सूची में गुंफित किया गया है, वे सभी और प्रबन्ध कोश के चित्रकर्म पाषाणकर्म, चर्मकर्म, धातुकर्म आदि ७२ कलाओं की सूची के समस्त उद्योग लोक कला-शिल्प के पर्याय हैं।

लोक कला के आविर्भाव एवं देशकाल सम्बन्धी विस्तार पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो कहना पड़ेगा कि यह कला कई लाख वर्ष पूर्व अस्तित्व में आई थी और भूमंडल का एक भी ऐसा महाद्वीप नहीं है जहाँ इसका अस्तित्व न रहा हो। जिसे आज पाषाण कालीन

गुफा कला या प्रागैतिहासिक कला कहा जाता है वह तत्कालीन लोक कला ही थी, और जिसे जनजातीय कला कहा जाता है वह भी उन जनजातीय कबीलों की लोक कला ही तो है।

फ्रांस के दौरदोन क्षेत्र में एक गुफा के पुरातत्वीय जमाव में प्रसिद्ध फ्रेंच पुराविद् फ्रांसुआ बोर्द को १९६९ में बैल की पसली की एक हड्डी उपलब्ध हुई। उस हड्डी पर समानांतर वर्तुलाकार रेखाओं का ऐसा अंकन है कि उसे मानव निर्मित ही माना जा सकता है। जिस धरातल पर यह हड्डी मिली उसका काल कम से कम ईसा से तीन लाख वर्ष पूर्व का है, अर्थात् हमारे महामेधावी (होमोसेपियन) पुरखों के आविर्भाव से भी ढाई लाख वर्ष पूर्व।

भारत में ही उत्तर-पुरापाषाणकाल में जो सैकड़ों कला सामग्री मिली हैं जिनमें गुफा चित्र, अलंकृत अस्थि, शृंग उपकरण तथा बहुर्चचित मातृ देवी की मिट्टी तथा अस्थिचूर्ण से बनी मूर्तियां हैं जिनकी कलात्मकता पर अंगुली नहीं उठाई जा सकती। इन चित्रों, मूर्तियों तथा अलंकृत अस्थि उपकरणों का काल ईसा से लगभग ३० हजार से १२ हजार वर्ष पूर्व का है।

हमारे देश में मध्य भारत के पर्वतीय एवं खानदेश के पठारी प्रदेश में उष्टपक्षी के कई अलंकृत अंडे सकल, धुर दक्षिण-पूर्व की चूने की पत्थरी तथा विंध्य की बलुआ पत्थरी गुफाओं में अलंकृत अस्थि उपकरण और कैमूर की गौद में बहती वेलन नदी की तली में जो मातृदेवी की मूर्ति मिली है, उन सबका काल लगभग २०,००० वर्ष पूर्व है। मुख्य रूप से मध्य भारत, एवं छिटपुट रूप से समस्त भारत में १५० से भी अधिक स्थानों पर जो हजारों गुफाएं, पाषाण-कालीन मानव द्वारा चित्रों से अलंकृत मिली हैं, उन्हें भारत की उषा कालीन लोक कला के मन्दिर कहा जाए तो गलत न होगा। इन चित्रों में कुछ तो १० सहस्त्र वर्ष या संभवतः उससे भी अधिक प्राचीन हैं। सिंधु सभ्यता के चित्रित मृद्भांडों और मुखर खिलौने निर्माताओं में यदि आधुनिक कुम्हारों का अतीत हमें दिखाई देता है, तो वह उचित ही है। यद्यपि गुप्तकालीन सछातः पुत्र जैसे धनी कुम्हार जिनकी ५०० तक खिलौनों की दुकानें हुआ करती थीं, के समान ऋद्धि सम्पन्न कुंभकार आज नहीं है और न वैसी मृगमयी ललित नारी मूर्तियां (टेराकोटा) ही आज के लोक-शिल्पियों के हाथों से विनिर्मित होती हैं, किन्तु लोक कला एवं शिल्प की एक अविच्छिन्न परम्परा आज भी समस्त भारत में विद्यमान है। हिमालय के आंचल में 'एपण', 'बारबूंद', 'ज्योति', 'दस्यर', 'पातड़', 'जन्माष्टमीपट' एवं 'मेंहदी' के रूप में लोक कला तथा 'डिकर', 'नन्दा सुनन्दा मूरत', 'समधीलाडु', 'निसाण', 'पोशाक', आभूषण, बर्तन, काष्ठकला तथा वास्तुकला के रूप में लोक शिल्प के दर्शन होते हैं तो गंगा-जमुना की गोद में 'कोहवर' 'चौकपूरण', 'छापे, 'मूरत', 'पुतरी', 'गोदना', 'महावर', 'मेंहदी' आदि के रूप में हमें लोक कला एवं शिल्प जीवित मिलते हैं। पूर्वी भारत में कालीघाट के 'चतुरपट' निर्माता, दुर्गा एवं सरस्वती की आदमकद प्रतिमाओं तथा 'बैनेपुतुल' जैसी सुकुमार गुड़ियों को जन्म देने वाले और सर्वोपरि कृष्णनगर के दैनिक जीवन को साकार करने वाली मृगमूर्तियों के सृष्टा जहाँ लोक कला शिल्प को जीवित रखे हैं, वहीं मुर्शिदाबाद तथा कलकत्ता के हाथीदांत के दंतकार

लोक शिल्प की उच्चता के मापदंड हैं। यदि ढाके की मलमल सात तह लपेटे जाने पर भी मुगल शहजादी को बेपर्दा रख छोड़ती है तो 'अल्पना' के इन्द्रजाल में आज भी बंगाल का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। असम का 'गारुचौक' यदि ऊनी कढ़ाई की परिसीमा है, तो उत्कल की धरती पर कोणार्क के शिल्पियों के वंशधर पत्थर एवं 'पेपरमसी' की मूतियां और 'जगन्नाथ' बनाने में अपनी दक्षता का डिमडिम नाद करते हैं।

मिट्टी के खिलौने में यदि लखनऊ तथा वाराणसी के कलाकर हमेशा होड़ में रहते हैं तो अहमदाबाद एवं पाटण के मृदाशिल्पी इस कला में पीछे रहना नहीं चाहते। विंध्य के दक्षिण का संभवतः हर परिवार प्रातः उठकर अपने द्वार पर नित्य नई 'रंगोली' बनाना अपना प्रथम कर्तव्य समझता रहा है। धुर दक्षिण की हाथीदाँत, चंदन एवं आबनूस की लकड़ी की सुंदर मूर्तियां, लोक शिल्प की भव्यता को बनाए हुए हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे अखरोट की लकड़ी की नक्काशी और 'कला बत्तू' तथा जरी के काम में कश्मीरी शिल्पी। मेंहदी मांडने और फूलकारी कला में राजस्थान का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, तो लखनऊ की चिकन और 'बिदरी' के काम की कारीगरी भी अद्वितीय हैं। कसीदाकारी, सलमासितारे, गोटाजरी, रेशमी धागों और सोने चांदी के तारों के नजाकत भरे हुनर और फन ने भारतीय नारियों की वस्त्रसज्जा को दीर्घकाल से आकर्षण और कलावत्ता प्रदान की है।

अब यदि जनजातीय जीवन पर दृष्टिपात करें तो यह देख-सुनकर आश्चर्य होता है कि इतरजनों द्वारा सब प्रकार के जीने के अधिकार से वंचित किए जाने के बावजूद, भारत को उष्मता एवं प्राण देने में जनजातीय इन्द्रधंनुषी संस्कृति ने ही सबसे अधिक सक्षम योगदान किया है। हमारे प्रतिवर्ष के गणतंत्र दिवस का सर्वोत्तम आकर्षण भी तो यही आदिवासी सम्मिलन हैं जो पहाड़ों, जंगलों से निकलकर वर्ष में एक दिन राजधानी के कृत्रिम कोलतारी कंकरीट पर 'जंगल में मंगल' रचा देता है। औद्योगीकरण की पछुवा हवा के कारण नागरजनों में कलात्मकता मुरझा गयी है। आज का सामान्य परिवार अपनी कलाप्रियता को चितकबरे कलेंडरों से, संगीतप्रियता को टू–इन–वन के केसेट और टांजिस्टरों से, एवं नृत्यप्रियता को दूरदर्शन और सिनेमा के माध्यम से पूरा करता है। सिर की कंघी हो या चाय का प्याला, आवश्यकता पड़ने पर अब वे प्रायः तत्काल बाजार से प्लास्टिक या धातु के खरीद लिए जाते हैं, जबकि निर्धन 'मुड़िया' अपनी प्रेयसी के लिए लकड़ी को काट-छांटकर पूरा हृदय उड़ेलकर बड़े मनोयोग से एक कंघी को तराशता है और पूर्वी छोर पर बैठा नागा अपने बांस के प्याले को और होठों के पाइप को कई घंटे लगाकर पूरी कलात्मकता से तैयार करता है। उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश की सीमा में कूट पर बैठा उग्र 'बौड़ा' एक चूहें के पीछे १० रुपया रोज की मजूरी त्यागने में हमें भले ही असभ्य लगे पर पेड़ के रेशों से तैयार किए गये उसके चित्ताकर्षक वस्त्र निर्माण कला में उसकी गृहिणी हमारे फैशन डिजाइनरों को धता बता सकती है। भारत नेपाल सीमा पर खड़े पहाड़ी ढलानों की गुफा से संभ्रम्र झांकता राजी कबीला हमें बनमानुष भले ही लगे, पर अपने बसूले से जब वह लकड़ी के बर्तन घड़ना शुरू करता है तो हमारी खर्चीली निरुद्देश्य शिक्षा का मानों वह मजाक उड़ाता है।

तीन साल पहले थाणे से ३५० मील भीतर, जनवरी के जाड़े की रात में जब मैं एक 'वारली' आदिवासी की झोंपड़ी पर पहुंचा तो उसकी झोंपड़ी में मुट्ठी भर भोजन भी नहीं था। पर घर की दीवार पर गृहिणी द्वारा अंकित चित्र मंद प्रकाश में भी स्पष्ट झांक रहे थे। इसी प्रकार पिछले साल रायसेन जनपद के चारों गांवों में कोरकू लोगों की जिस विपन्नता के मैंने दर्शन किए वह अविस्मरणीय है। उनके घरों में सब चीजों का अभाव था, पर कलात्मकता विराजमान थी। कला की सामग्री न होते हुई भी, साफ सुथरी दीवालों पर मिट्टी से उभारी मानव, पशु-पक्षियों की आकृतियां आज भी स्मृतिपटल पर स्पष्ट अंकित हैं। संतोष के घर से जिस चारपाई को मैं खरीद लाया था, उसमें सारी कारीगरी सिर्फ बांस की थी, उसकी बान अदवायन तक भी। तभी तराई के चितीमजरा गांव में २० रुपया देकर मैंने एक थारू महिला से घास की रंगबिरंगी डमरूनुमा टोकरी खरीदनी चाही, तो उसने उस अमूल्य वस्तु की कोई भी कीमत लेने से इंकार कर दिया और अन्ततः उपहार में उसे दे दिया। टोकरी ही नहीं, आभूषण रखने की पिटारी, पंखा, रंगबिरंगे वस्त्र और दैनिक उपयोग की अन्य वस्तुएं थारुओं की समृद्ध लोक कलाशिल्प का परिचय देती है। गौड़, परधन, सावरा, वारली, रथावा और कोरकू जनजातियों में भितिचित्रण की एक यशस्वी कला मौजूद है। आदिवासियों की, चाहे वह तम्बाकू रखने की छोटी डिबिया हो या बालों में खोंसने की पिन, या फिर यादगार में खड़े किए जाने वाले मरणोपरांत स्मृति स्तंभ, सभी कलात्मक होते हैं। इस प्रकार लोक कला-शिल्प में जनजातीय भारत सबसे अधिक समृद्ध है।

शिक्षा में लोक कला का प्रयोग

लोक कला-शिल्प की देशकालजयी इस परिव्याप्ति के बाद राष्ट्रीय शिक्षा में इसके महत्व पर विचार करें। लोककला एवं शिल्प देश की माटी से जुड़े होने के कारण देश की आत्मा का दिग्दर्शन कराती है। अतः किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय शिक्षण में उनका योगदान अपरिहार्य है। गांधी जी द्वारा प्रवर्तित प्रचारित बेसिक शिक्षा का मूलाधार बालक बालिकाओं को उपयोगी कला द्वारा शिक्षण प्रदान करना था। ये उपयोगी कलायें और कुछ नहीं, लोक कलाएं और लोक शिल्प ही थे।

भारत में, जहाँ जनसंख्या, शिक्षित बेरोजगारी, निर्धनता, और विभिन्न मतावलंबियों के बीच सामाजिक समझ की समस्याएं हैं, लोक कला-शिल्प की सहायता से इनको एक हद तक सुलझाया जा सकता है। यदि शिक्षा का उद्देश्य मात्र साक्षरता न होकर, मनुष्य को धीर, गंभीर और सभ्य मानव बनाना है, तो लोक कला एवं शिल्प इस दिशा में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। कारण स्पष्ट है। लोक कला या शिल्प प्रायः परंपरागत व्यवसाय होते हैं। इनमें थोड़े समय में ही दक्षता प्राप्त की जा सकती है। शैशवकाल से ही अपने पिता को लकड़ी या कपड़े का काम करते देख कर बालक स्वतः अल्प आयु में ही उस कला से परिचित हो जाता है और स्वयं भी वह काम सीख जाता है। लोक कलाकार को जीवन में रोजगार के लिए ठहरना नहीं पड़ता और न दरदर भटकना पड़ता है। वह अपने समय का पूरा सदुपयोग करता है और अपनी आजीविका को अनायास कमा सकता है। लोक कलाकार के पास इतना

समय नहीं है कि वह फालतू कामों में उलझे, व्यसनों में पड़े, और असामाजिक तत्वों की संगति करे। इसीलिए उसका मन शांत और तनावरहित रहता है। अपनी रचना द्वारा उसे अर्थलाभ तो होता ही है, सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिलती है जिससे उसका अहं भी तुष्ट होता है, और उसका मनोरंजन भी होता है। इस प्रकार लोक कला समाज को सुसंस्कृत, शांत और परिश्रमी नागरिक देती है।

मेरे सामने दो युवक हैं जो मेरे बचपन के सहपाठी थे। पहले ने आर्थिक स्थिति अनुकूल होने से अपना अध्ययन चालू रखा, जबकि दूसरा गरीबी के कारण सातवीं से आगे नहीं पढ़ा। आज पहला एम० ए० का छात्र है और दूसरा राजमिस्त्री रहकर २५ रुपया रोज कमा रहा है। जबकि पहले को रोज २५ रुपया फूंकने को चाहिए, दूसरा शांत गृहस्थ, परिश्रमी और समय का पाबन्द, मेहनती कार्य करने वाला है। पहला कुसंगति तथा हर प्रकार के व्यसनों से ग्रस्त अशांत निठल्ला नौजवान है, जिसके लिए समय काटना ही एक समस्या बन गई है। दूसरे युवक ने मिस्त्री का पैतृक धंधा बखूबी अपना कर जीवन सुगम बना लिया है, जबकि पहले के सामने विकराल भविष्य मुंह बाये खड़ा है।

एक नहीं लाखों उच्च शिक्षा-प्राप्त युवक-युवतियां हैं जो लोक कला एवं शिल्प के अभाव में स्वयं अपने जीवन को भारस्वरूप बनाए हुए हैं और राष्ट्र के लिए भी एक गंभीर समस्या हैं। वह शिक्षा जो एक गरीब के मेहनती बेटे को भी धीरे-धीरे निकम्मा और व्यसनी बना देती है, वह शिक्षा जो गावों के भोले बालकों को भी बड़े शहरों के दरवाजे खटखटाने को मजबूर कर देती है, वह शिक्षा जो अर्थकारी न होकर युवकों को अनर्थकारी कार्यों के लिए बाध्य करती है और जो नई पीढ़ी को सुसंस्कृत, धीर, गंभीर न बना कर, पदानुरागी, मदानुरागी और प्रमदानुरागी मात्र बना छोड़ती है, वह न तो व्यक्ति के लिए उपयोगी हो सकती है, न राष्ट्र के लिए। यदि हाथ चलते हैं तो मस्तिक स्वयमेव शांत होगा। देश के करोड़ों बच्चों को, शहरों में रोजगार नहीं दिया जा सकता है। पर हजारों लाखों विद्यालयों में वे अक्षर-ज्ञान के साथ उपयोगी धंधों का प्रशिक्षण पाकर उनमें से अधिकांश अपनी जीवन यात्रा चला सकते हैं। पर मूल प्रश्न यह है कि कैसे ऐसा वातावरण तैयार किया जाए ? कौन बिल्ली के गले में घंटी पहनाए ? कौन वर्तमान शिक्षा प्रणाली को बदले और उसके स्थान पर मानवीय लोक शिक्षा, लोक कला-शिल्प जिसका एक अभिन्न अंग है, बाल शिक्षा में उसे प्रतिष्ठापित करे ? ये मूलतः राजनैतिक प्रश्न हैं। स्वस्थ सार्वजनिक शिक्षा नीतियां ही इस परिवर्तन को ला सकती हैं, बशर्ते देश के कर्णधार और उसका अभिजात वर्ग जिसके हाथ में सब प्रकार के सब क्षेत्रों का नेतृत्व है, अपने सामाजिक, सांस्कृतिक दायित्व को समझे और विद्यमान अधूरी जर्जर, पतनोन्मुख शिक्षा प्रणाली को बदलने का संकल्प करे। इस संकल्प के बाद ही इस निश्चय से प्रसूत परवर्ती प्रश्नों के व्यवहारिक समाधान बताने होंगे, जैसे लोक कला-शिल्पियों को क्या सुविधाएं दी जाएं; लोक कला-शिल्प की वस्तुओं की बिक्री की कैसी व्यवस्था हो; कैसे हर राज्य में, हर जनपद में, हर गांव और हर घर में लोक-शिल्प पुनर्जीवित हो, जिससे हर घर, हर गाँव, समग्र राष्ट्र और उसका प्रत्येक मानव सुखी, समृद्ध और संतुष्ट हो।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में संचार माध्यमों की भूमिका : नाटक, रेडियो, दूरदर्शन और सिनेमा

मोहन कांत गौतम

भारतीय मानवशास्त्र और समाज विज्ञान का अभाग्य ही रहा कि अध्यापन और शोध विषयों में संचार-व्यवस्था के माध्यमों को कोई भी महत्व नहीं दिया गया जब कि भारत जैसे विशाल देश में जहां कितनी ही भाषायें और बोलियां बोली जाती हैं और जहां राज्यों के लोगों का रहन-सहन और क्षेत्रीय संस्कृतियां विभिन्न हैं राष्ट्रीय स्तर पर एकता बनाने में संचार माध्यमों की भूमिका कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हुई होती। आज तृतीय विश्व के देश एक ऐसी प्रक्रिया से गुजर रहे हैं जहां केवल पश्चिमी देशों के आदर्शों की नकल से न तो वे स्वतंत्र रह पायेंगे और न संस्कृतियों के योग को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में ढाल सकेंगे। पश्चिमीकरण राष्ट्र के सूत्रधारों और बुद्धिजीवियों का एक ऐसा 'फैशन' बन गया है जहाँ राष्ट्र की आत्मा को जबरदस्ती से दबाया जा रहा है। दबी हुई आग सुलग रही है और समय-समय पर सांस्कृतिक समूहों के बीच हिंसा के रूप में प्रकट हो रही है। जैसे जीवन को नकारा नहीं जा सकता वैसे ही स्वतंत्रता को बांध कर नहीं रखा जा सकता। भारत के संदर्भ में आदिवासी विद्रोह और आंदोलन, नक्सली विस्फोट, असम, मिजोरम, झारखंड, उत्तराखंड, पंजाब और विदर्भ आदि राज्यों की मांग का मूल कारण किसी न किसी प्रकार का सांस्कृतिक दबाव हैं जिसमें संबधित सामाजिक वर्ग अपने को स्वतंत्र नहीं महसूस कर पाते। सामाजिक-राजनीतिक तनावों में आर्थिक स्थिति पर नियंत्रण और रुकावटें लद जाती हैं।

राष्ट्रीय एकता और पुनर्निर्माण के स्थान पर विघटन के संकेत दिखाई देने लगते हैं (Gautam, १९८३)। भारत को स्वराज्य तो मिला पर स्वतंत्रता के आदर्शों के तहत सामंतशाही (Feudal System), जमींदारी और जातिप्रथा का उन्मूलन फिर से नये रूपों में उभर कर आ रहा है। राजनीतिक दांव-पेंच, दलवंदी, व्यापार में एकाधिकार आदि से राष्ट्र की सुदृढ़ एकता के स्थान पर फिर से भेदभाव की नींव जमने लगी है। केवल दिखाने भर के लिये राष्ट्रीय प्रतीकों का डंका पीटा जाता है। देश स्वतंत्र हुआ नहीं कि राष्ट्रीय वायु-

मोहन कांत गौतम, प्राध्यापक, इंस्टिट्यूट कर्न, लायडन विश्वविद्यालय, लायडन, हॉलैंड।

यान, राष्ट्रीय संग्रहालय, राष्ट्रीय अकादमी बन तो जाती है, पर देश के भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों की दूरी कम होने के स्थान पर बढ़ती जाती है (Gautam १९७८; Gautam & Pott १९८३) । साथ में मिलकर काम करने के स्थान पर और 'भारतीयता' के आदर्श को संजोने की जगह सब "अपनी - अपनी खिचड़ी" पकाने लगते हैं और स्वतंत्रता फिर से घुटने लगती है । संचार-व्यवस्था जो कि राष्ट्र की धमनियां हैं, उनमें खून ठीक रूप से नहीं बहता। राष्ट्र को सुदृढ़ करने के स्थान पर उसका उपयोग केवल मुठ्ठी भर लोगों की सुविधा और उनकी राजकीय नीतियों की पुष्टि के प्रचार और प्रसार के लिये ही किया जाता है । संचार-व्यवस्था जिससे जन-जीवन निकट आता, राष्ट्रीय चरित्र विकसित होता, संस्कृति और सभ्यता के आदर्शों को बढ़ावा मिलता, ऐसे महत्वपूर्ण कार्य करने में या तो असफल रही या किसी तरह अपने लक्ष्य में विफल रही । संस्कृतियों की कृतियों के भाषांतर ठीक नहीं हुए और किसी तरह से यदि संस्कृतियों के बिंब (इमेज) स्पष्ट भी हुए तो उन पर अवांछनीय आकृतियों की छाया पड़ी और एक दूसरे के प्रति आदर और प्रेम के स्थान पर 'छोटा–बड़ा', 'ऊंच–नीच', 'भेद-भाव', आदि की गलतफहमियां जड़ पकड़ने लगीं ।

पश्चिमी देशों की संस्कृतियों के बीच 'योरोपीय भाईचारे' की धारणा और 'योरोपीय पुर्ननिर्माण' के संकल्प को पूरा करने में संचार साधनों का अनूठा योग रहा है । हर देश की अस्मिता स्वतः स्पष्ट हो गई है । आज काफी देशों के सांस्कृतिक कार्यक्रम घर बैठे टी० वी० से देखे जा सकते हैं । इस तरह से सांस्कृतिक अस्मिता ने आंतरिक भेद–भाव और वैमनस्य को भुलाकर सभी वर्गों की 'एथनिसिटी' को बढ़ने का अवसर दिया है । समाचार पत्र, नाटक, ओपेरा, रेडियो, टी० वी०, सिनेमा और वीडियो आज समाज के आवश्यक अंग बन गये हैं। इनकी अनिवार्यता एक दूसरे के प्रति जानकारी करने की इच्छा का प्रबल संकेत है । हॉलैण्ड में आज भारतवंशी अल्पसंख्यक वर्ग घर बैठे ही भारत के आदर्शों को वीडियो पर देखकर पिछले ११० वर्ष के सूरिनाम प्रवास की दूरी को मिनटों में दूर कर लेता है । जो कुछ भारत सिनेमा के माध्यम से देखता है और सुनता है उसे वे भारतवंशी भी अपना मान कर गर्व का अनुभव करते हैं (Gautam १९७९, १९८३) । २० वीं सदी के छठे और सातवें दशक में जितना तकनीकी विकास पश्चिमी देशों में हुआ है 'उस' चिप प्राद्योगिकी को इसी संचार व्यवस्था ने लोगों तक पहुंचाया है । मानसिक विकास के साथ सामाजिक समन्वय और कार्यक्षमता बढ़ी है; श्रव्य-दृश्य प्रचार से समाचार पत्रों का प्रसार घटा नहीं बल्कि बढ़ा ही है । आज टेलीकास्ट के द्वारा टी० वी० पट पर इच्छानुसार समाचार तक पढ़े जा सकते हैं । एक तरह से संचार माध्यमों के द्वारा इतिहास के बढ़ते चरणों की प्रक्रिया और परिवर्तन का प्रलेख तैयार कर लिया है । लोगों के व्यवहार क्यों भिन्न हो जाते हैं जब उनका सामना एक दूसरी संस्कृति से होता है ? समय और परिस्थिति के साथ परिवेश का प्रभाव कैसा होता है ? क्यों एक विशेष वर्ग एक राष्ट्र में होने के बाद भी अपनी पहचान पर जोर देता है और कैसे अन्य वर्गों के साथ मिलकर राष्ट्रीय विकास में सहयोग देता है, ऐसे बहुत से मौलिक प्रश्नों के उत्तरों को ढूंढ़ने में संचार साधनों ने नई सुविधायें प्रदान की हैं ।

भारतीय संदर्भ में मानवशास्त्र का सबसे बड़ा योगदान भारतीय संस्कृतियों को समझना होगा। आज समाज को समझने में उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन करने में मानवशास्त्र को अध्ययन प्रणाली की नयी तकनीकें खोजनी होंगी। अवलोकन, प्रतीकों और सामग्री का संग्रह, साक्षात्कार आदि के साथ–साथ संचार माध्यमों का भी उपयोग करना होगा। पश्चिमी देशों में सिनेमा और वीडियो का प्रचलन काफी बढ़ा है। क्षेत्रीय कार्य की स्थिति में जो बात कैमरा कर सकता है वह हम नहीं देख सकते। जो रिकार्डिंग वीडियो या टेपरिकार्डर कर सकते हैं वह कुछ सीमित समय में करना असंभव है। सभी राज्यों के, क्षेत्रों के और गांवों के विकास में ही आज हम भारत के लोकतांत्रिक गणतंत्र की कल्पना ही नहीं बल्कि वास्तविकता को देख सकते हैं। वृहत भारत की विभिन्न संस्कृतियों को उनकी विकसित प्रवृतियों में ही समझ पायेंगे। वर्गों की भिन्नता से। कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, चाहे वे खाद्य संग्रहक हों या किसान और या काफी निपुण टेक्नोक्रेट भारत में आज भी एक ओर खानाबदोश, फिरंदर जातियां हैं, तो दूसरी ओर आदिवासी, ग्रामीण और नागरीय वर्ग (Gautam १९६७, १९८३)। फिर देश के वन, उप-वन, रेगिस्तान, पर्वतों की श्रृंखलाओं से ढली जलवायु का प्रभाव भी अपना महत्व रखता है। मानवशास्त्र की सहायता से आज भी हम गांधी के 'सपनों के भारत' के निर्माण को संचार–माध्यम की समझ से किसी हद तक पूरा कर सकते हैं।[1] 'गरीबी और असमानता के विरुद्ध संघर्ष तभी संभव है जब हम एक साथ मिलकर' रहने का और समझने का 'प्रयास करें।[2] 'स्वराज्य' के विचार की गूंज आज हमसे सैंतीस वर्ष पीछे रह गयी। असम से पंजाब तक का करुण क्रंदन हम सुन रहे हैं। उतार चढ़ाव और चुनौतियों से संलग्न, देश की पंचवर्षीय योज-नाओं ने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों को सुधारने में प्रयत्न तो अवश्य किया पर भारतीय समाज की सरंचना में जो गांधी चाहते थे और जिसकी पुष्टि संविधान में है पूरा नहीं हो पाया। प्रगति तो हुई, पर जो चाहते थे वही नहीं हुआ। एक कारण यह भी है कि संचार माध्यमों को उचित महत्व नहीं दिया गया। गरीबी, जीवन–यापन स्तर, जन संख्या की बढ़ती समस्या का अभी तक हम कोई ठोस हल नहीं निकाल पाये हैं और ऊपर से शिक्षित बेरोजगारी अलग से बढ़ी है। जब तक योग्यता का व्यवहारिक उपयोग नहीं होगा हम स्वतंत्र भावनाओं को स्वतंत्र नहीं रह पाने देंगे। केवल नारेबाजी, संकुचित वातावरण, अनुशासन-हीनता, गुटबंदी और राजनीतिक भाषणों से मूल अधिकारों की सुरक्षा नहीं हो पायेगी जब

---

(१) स्वराज्य से पहले गांधी ने कहा था, 'भारत ने पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है ऐसा तब कहा जा सकेगा जब आम जनता यह अनुभव करने लगेगी कि उसे अपनी उन्नति करने की और अपने रास्ते पर चलने का आजादी है……मैं एक ऐसा भारत बनाऊंगा जिसमें गरीब से गरीब यह अनुभव करेंगे कि यह उनका देश है जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्व है जिसमें ऊंच नीच नहीं होगी, जिसमें सभी समुदाय पूरी तरह मिल जुलकर रहेंगे।

(२) स्वतंत्रता की रजत जयंती पर इंदिरा गांधी ने ऐसा कहा था (१९७२)।

कि जनता का एक बड़ा भाग न्यूनतम आवश्यकताएं भी पूरा नहीं कर पा रहा है। संचार-व्यवस्था का अभाग्य यही रहा कि इसका उपयोग केवल 'दरिद्र नारायण' की पहचान तक सीमित रहा। वायदे पर वायदे किये गये और 'मरीज की बीमारी घटने के बजाय बढ़ती चली गई।' भारत की बुनियादी जरूरतों की पहचान तो हुई पर बाधाओं से कोई मुक्ति नहीं मिली। 'विकसित बनाम विकासशील देश' के नाम पर उपलब्धियों और आकांक्षाओं को लेकर अमीर–गरीब के बीच की खाई और बढ़ी और संस्कृतियों के बीच का विश्वास नष्ट हो गया, चोरबाजारी और अहंवादी प्रवृतियाँ उग्र हुईं। केवल विडम्बनायें बनी रहीं जैसे जाति-संकीर्णता, भेदभाव, अराजकता, पतनोन्मुख प्रवृत्तियां, द्विविधा प्रेरित टकराव और दकियानूसी खोखली विचार श्रृंखला। बुद्धिजीवी चाहकर भी इन सबको नहीं मिटा पाया। दहेज प्रथा के प्रति जितना रोष दिखाया गया उतना ही ज्यादा वह जाति स्तर पर प्रबल हुई। राज्यनीतियां राष्ट्रनीतियों से हटकर संकीर्ण स्वार्थों का साधन बन गईं। कोई आपसी स्वस्थ प्रतियोगिता विकसित नहीं हुई, केवल संचार माध्यमों का उपयोग एक दूसरे को नकारने में लगा। विकास का सूत्र टूट गया और राज्यों में अराजकता भड़क उठी। राष्ट्र का पुर्ननिर्माण जैसे कहीं अटक गया। भारत के संदर्भ में संचार माध्यमों की सफलता और असफलता को आंकने के पहले हमें उनकी भारतीय भूमिका देखनी होगी। कैसे उनकी शुरूआत हुई और कैसे उनकी प्रगति हुई? कहाँ तक वह जन-समाज पर परिस्थितिजन्य प्रतिकूल या अनुकूल कैसा और क्या प्रभाव डाल पाई। मानवशास्त्र का योगदान संचार माध्यम की कार्य क्षमता बढ़ाने में, समाज को समझकर राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में किस प्रकार हो, इसका उल्लेख हम इस लेख के अंत में करेंगे।

भारतीय संचार माध्यम

समाचार पत्र

भारत की गद्य परम्परा काव्य की तुलना में काफी पिछड़ी रही है। केवल 'इन्द्रजीत' और 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' को छोड़कर गद्य लेखन का संकेत बहुत कम मिलता है। मुगल राज्य में औरंगजेब ने समाचार लेखन की स्वतंत्रता जरूर दी थी जो हस्तलिखित थी और भिन्न भिन्न राज्यों से लिखकर दिल्ली भेजी जाती थी। कर्नल जे०टॉड (१८२८) ने इन प्रतिलिपियों का संकलन रायल एशियाटिक सोसायटी के लिये किया था (Chalapati Rao १९७४)। भारत में समाचारपत्रों की छपाई १७८० में 'बंगाल गजट' से आरम्भ हुई थी। लेकिन भारतीय भाषाओं में समाचार पत्रों का जन्म राजनीतिक आवश्यकता थी जो विदेशी सत्ता की प्रभुता के विरुद्ध संघर्ष था। १८७८ में 'वर्नाक्यूलर एक्ट' के बनने से प्रेस पत्रों पर सरकार का नियंत्रण शुरू हो गया और जो १९४७ तक नये-नये अधिनियमों में बदलता गया। अंग्रेज सरकार का डर कुछ हद तक राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आंदोलनकर्ताओं की आवाजें थीं जिनमें 'भारतीयता' को जीवित रखने के लिये और राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ रखने का आह्वान था। तिलक का 'केसरी', अरविंद घोष का 'वंदे मातरम' और गांधी का 'हरिजन' जैसे पत्रों पर नियंत्रण करने के लिये ही अधिनियम बने थे। पर स्वतंत्रता की गूंज को अंग्रेज

नहीं दबा पाये। स्वतंत्रता के बाद १९४८ में छानबीन करके अनेक अवांछनीय प्रेस कानून रद्द कर दिये गये (Sarkar, १९६७)। १९५१ में संविधान में प्रेस और लेखन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिली फिर भी 'उचित प्रतिबन्ध' 'राष्ट्र की प्रभुसत्ता और अखंडता' के हित में लगा दिये गए। सातवें दशक में देश की सुरक्षा और अखंडता के नाम पर समाचारपत्रों की स्वतंत्रता पर जो कैंचियां चलीं थीं उसको संभवतः भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रेस कभी नहीं भूल पायेगा।

१९८० में भारत में १८१४० समाचारपत्र ८४ भाषाओं में प्रकाशित हो रहे थे और उनकी प्रसार संख्या ५१० लाख प्रतियां थी[1] (India, १९८२, १९८३)। जबकि १९४७ में ३००० ही समाचारपत्र थे। पश्चिमी योरोप, अमरीका और जापान में वितरण करीब दो समाचारपत्र प्रति घर रहा है। छठे दशक तक के आंकड़ों के अनुसार जापान में १.८२ समाचारपत्र प्रति परिवार का औसत था जबकि भारत में १४ समाचार पत्र प्रति हजार व्यक्ति थे (Sarkar, १९६७)। भारत के संदर्भ में समाचारपत्रों के प्रसार में सबसे बड़ी बाधा असाक्षरता रही है। १९८१ में भारत में साक्षरता ३६.२ प्रतिशत थी। दूसरी बाधा गरीबी थी। फिर भी पिछले सैंतीस वर्षों में समाचारपत्र जन समुदाय के काफी निकट आ चुके हैं। १९८१ में भारतीय प्रेस परिषद की स्थापना से आशा की जाती है कि भविष्य में इस माध्यम से निष्पक्ष समाचार, संस्कृतियों के प्रतिनिधि, जन समुदाय को आदर देते हुए विभिन्न क्षेत्रों से प्रकाशित होते रहेंगे। जन समुदाय का हित संपादकीय स्वतंत्रता और व्यवसायिक ईमानदारी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण को निष्पक्ष समाचार संग्रह और प्रकाशन द्वारा और आगे ले जायेंगे (Manekar, १९७३)।

रेडियो

भारत में रेडियो का स्वतंत्र प्रसारण वैसे तो १९२३ में शुरू हो गया था पर १९३६ में सरकार का अंग बनने के बाद इसका नाम 'आल इंडिया रेडियो' पड़ा। स्वतंत्रता के बाद इसे औपचारिक रूप से 'आकाशवाणी' कहा जाने लगा। १९४७ में भारत में कुल ८ केन्द्र थे और अब ८५ हैं। संचार माध्यम में रेडियो का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण साबित हुआ है। भारत की बृहद्ता को समझाने में, सांस्कृतियों का परिचय कराने में, नयी प्रतिभाओं को खोजने में, और भारतीयता की पहचान में इसने सैकड़ों मील दूर बसे लोगों को एक दूसरे के निकट ला खड़ा किया है। भारत के भूगोल और परिवर्तित गतिविधियों के बारे में इसके भाषांतर कार्यक्रमों ने गद्य–पद्य दोनों माध्यमों से भारतमाता का अनोखा चित्र प्रस्तुत किया है और परम्परा से जुड़े विभिन्न संस्कृतियों के आदर्शों को निखार दिया है। आज सब ही, पहले अपने को

---

(१) आज भारत में कुल संख्या १९००० प्रतियों से भी ज्यादा है सबसे अधिक वितरण संख्या १४० लाख हिन्दी भाषा के पत्रों की है, जबकि अंग्रेजी में ११० लाख और बाकी २६० लाख दूसरी भाषाओं से संबंधित है।

'भारतीय' मानते हैं, बाद में जाति और धर्म समुदाय का सदस्य। हाँ, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ट्रांसमीटर कमजोर होने के कारण रेडियो उतना सफल नहीं हुआ (Malik, १९७२)। भारत में आज रेडियो का प्रसारण ३४[1] आदिवासी भाषाओं में और २२ मुख्य भाषाओं में हो रहा है। युवक, वृद्ध, ग्रामीण, नागरीय, मजदूर, बुद्धिजीवी आदि सभी को इससे कुछ न कुछ मिला है (India, १९८३)। १९५० में प्रसार और सूचना मंत्री केसकर 'भारतीय विचारों का सही प्रचार' चाहते थे। कुछ हद तक इसमें सफलता अवश्य मिली है।

दूरदर्शन

१९५९ में दिल्ली में टी० वा० की शुरूआत परीक्षण केन्द्र से आरंभ हुई थी, पर इसका सार्वजनिक उपयोग १९६५ में हुआ। १९८०–८१ में सात मुख्य केन्द्रों के साथ ३ उपग्रह केन्द्र दिल्ली, हैदराबाद और कटक में थे। आज ११ केन्द्र हैं और ४१ ट्रांसमीटर हैं जो देश की १९ प्रतिशत जनसंख्या को अपने कार्यक्रम दिखा रहे हैं। आशा की जाती है कि १९८४ में १८३ केन्द्रों और उपकेन्द्रों से देश की ७० प्रतिशत जनसंख्या को भारतीय दृश्य समाचार, कार्यक्रम और संस्कृतियों के पहलुओं की झांकियां मिलती रहेंगी (India, १९८३)। दुर्भाग्य यही है कि भारत में टी० वी० का जो सदुपयोग होना चाहिए था वह नहीं हो रहा है। आज पश्चिमी देशों में टी० वी० और वीडियो रोज़मर्रा के जीवन का अंग बन गये हैं। घरों में परिवार के सभी सदस्यों को उनके मनचाहे कार्यक्रम मिलते रहते हैं। घरेलू अनौपचारिक शिक्षा में, स्कूल शिक्षा में, प्रौढ़ शिक्षा में इसका योगदान बहुत महत्वपूर्ण बन गया है। यदि कोई राष्ट्रीय महत्व का विषय विचारणाय है, तो उसे तत्काल ही टी० वी० और रेडियो के द्वारा पूरे देश में प्रसारित कर दिया जाता है। इंग्लैंड की फॉकलैंड लड़ाई की वार्ता रोज ही सुनी और देखी जाती थी। वियतनाम युद्ध के समाचार-दृश्य उसी दिन टी० वी० पट पर पूरे पश्चिमी देशों में दिखाकर समस्या की गंभीरता का एहसास करा दिया जाता था। भारत में अभी तक टी० वी० का समुचित उपयोग नहीं हो पा रहा है। हां, नाटक और टी० वी० के माध्यम स्तर ऊंचा उठाने की प्रतियोगिता अलबत्ता जरूर दिखाई देने लगी है और कार्यक्रमों में हम पिछड़ रहे हैं। समय पूरा करने के लिये कार्यक्रम नहीं हैं और फिर बिजली आपूर्ति की अस्थिरता से रुचि समाप्त हो जाती है। हाँ, बस बनी बनाई पुरानी फिल्मों का उपयोग जरूर हो जाता है। टी० वी० भारतीय उपलब्धि न बनकर, केवल गिने चुने लोगों का नगरीय फैशन बन गया है, और यहाँ तक कि चाहे घर में बिजली हो या नहीं, चाहे टी० वी० केन्द्र हो या नहीं, पर विवाह आदि पर दहेज में इसकी फरमाइश जरूरी हो गई है।

---

(१) भारत सरकार के आंकड़ों के अनुसार AIR आज २४६ आदिवासी भाषाओं में प्रसारण करता है और २५ अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं द्वारा ६० देशों की ज्ञान पिपासा बढ़ाता है।

नाटक

नाटक भारत की सांस्कृतिक आत्मा का सदैव से जीता जागता माध्यम रहा है। पौराणिक कथाओं का क्रम इसी के द्वारा जन समाज में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर खरा उतरा है। भिन्न-भिन्न बोलियों और भाषाओं का प्रयोग होने पर भी इसने राष्ट्रीय एकता को वास्तविकता में ढालने में सभी को भारतीय कहलाने की संज्ञा दी है। वैष्णव और भागवत प्रभाव ने राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों को भगवान की संज्ञा देकर उनके आदर्शों को जन-समुदाय में पहुंचाया है। नाटक कथाओं ने समाज में 'रामबाण' जैसा अमृत पहुंचाया है। कथानकों की परम्परा से ही सही जीवन का निष्कर्ष निकाला है (Awasthi, १९८३; Hein, १९७२)। 'रामायण, भागवत पुराण, कथा सरित-सागर' की कथायें या बाण भट्ट, भवभूति और कालिदास के नाटक सभी ने अपने-अपने परिवेश में परम्पराओं का पुनरुद्धार और सृजन किया है। बदली हैं केवल परिस्थितियां, पर भावनायें वही की वही रही हैं। भारतीय संदर्भ में नाटक प्रणाली दो प्रकार की रही है –

(अ) परम्परागत शास्त्रीय नाटक और

(ब) मौखिक कथाओं पर आधारित लोक नाटक।

दोनों ही प्रणालियों की टक्कर आज सिनेमा और दूरदर्शन से हो रही है। जहां नाटक पर प्रभाव भारतीयकरण का है वहाँ सिनेमा और टी. वी. पर पश्चिमीकरण का। वैसे दोनों ही माध्यम, आधुनिकता की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं और दोनों ही ने श्रव्य-दृश्य प्रचार का सहारा लिया है। जहां फिल्मों का प्रभाव कुछ ही देर का होता है वहां नाटक का स्थाई, क्योंकि वह संस्कृति और वर्ग की परम्पराओं से जुड़ा रहता है।

आधुनिक रूप में नाटक की रचना बंगाल में पंडित ताराकर्ता ने १८५७ में बंगाली में 'कुलीन कुल सर्वस्व' के नाम से की थी। पश्चिमी प्रणाली का प्रयोग वैसे तो १८२४ में माइकेल मधुसूदन दत्त कर चुके थे। १९ वीं सदी के छठे दशक में सामाजिक समस्या को लेकर 'विधवा विवाह' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'राजा हरिश्चन्द्र' आदर्श और यथार्थ के विरोध के प्रश्न थे (Guha Thakurta, १९३०; Mathur, १९६४)। स्वदेशी आंदोलन की नींव पड़ चुकी थी और साथ हां १८७१ में नेशनल थियेटर की। अंग्रेजी, रूसी, फ्रांसीसी साहित्यकारों की उपलब्धियों से भारतीय नाटक आंदोलन को नये आयाम मिले। २० वीं सदी के शुरू होने पर नई लहर उमड़ पड़ी। लोक व्यवहार की भाषा में 'आचार परमोधर्मः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणाओं ने कर्त्तव्य और भारतीयता को स्वदेशी आंदोलन का आवश्यक अंग मान लिया। जगह-जगह नाटकों के माध्यम से देश सेवा और राष्ट्र प्रेम के चरित्र को जागृत करने का प्रयास हुआ। मुंशी प्रेमचन्द्र ने अपनी रचनाओं से उत्तर भारत की आंचलिक संस्कृति को गांधी के अनुकूल बना प्रस्तुत किया। व्यक्ति की भावनाओं के भिन्न-भिन्न पहलुओं को, उसके व्यवसाय और उसके समाज–वर्ग की संरचना के संदर्भ में देखा।

लोक साहित्य के 'स्वांग', 'नौटंकी', और 'मांच' प्रणाली से रोमांटिक विषय तो चलते रहे पर अब इन 'फूल सिंह', 'स्याह पोश', 'रानी पिंगला', 'राजा भर्तृहरि' और 'इन्दर सभा' के स्थान पर समाज की घुटन की सामाजिक समस्याओं और उनके तीखे पहलुओं पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा (Awasthi, १९७१; Gargi, १९६६; Mathur, १९६४; Parmar, १९७५)।

रंगमंच के विकास में पूरे भारत के साहित्यकार निष्ठा के साथ नाटक, प्रहसन और एकांकी लिखने लगे। रेडियो के आ जाने से अब रेडियो नाटक भी आने लगे। उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहन राकेश, राम कुमार वर्मा, जगदीश चन्द्र माथुर, अमृत लाल नागर जैसे हिन्दी साहित्यकारों ने रेडियो माध्यम का उपयोग नाटक के लिये किया।

मध्यवर्गीय लोगों की समस्याएं, स्त्री-पुरुष के परिवर्तित संबंध, क्षेत्रीय समस्याएं आदि को नाटक के माध्यम से अभिव्यक्त ही नहीं किया बल्कि बोलचाल की भाषा को समाज में एक नया स्थान देकर भारतीयता के आदर्श को 'हमारे नाटक, हमारी समस्याओं' आदि के कथानकों में बांध दिया। इससे नाटक की प्रासंगिकता की परम्परा और आधुनिकता के सम्पर्क में आंका गया। नई फिल्मों की लहर जो बीसवीं सदी के सातवें दशक में सफलता लाई उसका श्रेय भी नाटककारों को ही है, जैसे गिरीश करनाड, विजय तेन्दुलकर, शंभू मित्रा, बादल सरकार आदि। नाटक का परम्परागत सबसे बड़ा योगदान 'अभिनेता और दर्शक' के बीच स्थाई संबंध बनाना रहा है जिसे लोक नाटकों ने बंगाल की 'जात्रा' उत्तर प्रदेश और राजस्थान की 'नौटंकी', बिहार के 'बिदेसिया', पंजाब, हरियाणा, हिमांचल प्रदेश के 'स्वांग' और 'मांच', तथा महाराष्ट्र के 'तमाशा' में भरसक दिखाया है।

भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रभाग ने भी नई विकास की योजनाओं और प्रयोजनाओं को, नये कथानकों में भारतीय परम्परा प्रणाली में रचा है और गांव-गांव में उन्हें दिखा कर एक ठोस कदम उठाया है। १९८० में पूरे भारत में कोई २०१११ कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे, जिनके कथानक मद्य निषेध, अस्पृश्यता निवारण, परिवार कल्याण, ग्रामीण स्वास्थ्य कल्याण, उद्योग और प्रौढ़ शिक्षा आदि थे। आज भारतीय, चाहे वे गावों में रहते हों, या नगरों में विकास योजनाओं से भली भांति परिचित हो गये हैं और इस सब जागृति का मुख्य श्रेय संचार माध्यमों को ही है। कम से कम इसी बहाने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की नींव सुदृढ़ हो रही है।

सिनेमा

१८९५ में पेरिस में पहली बार सिनेमा दर्शकों के सामने आया और साल भर के अन्दर ही ७ जुलाई १८९६ में वाटसन होटल, बम्बई में पहली बार फिल्म दिखाई गई। भारत की पहली फिल्म १८ मई १९१२ को 'पुण्डलीक' पर आर० जी० थौर्न ने बनाई थी। वैसे फिल्मों के उत्पादन को दादा साहेब फाल्के ने 'राजा हरिश्चन्द्र' बनाकर आगे बढ़ाया। तबसे अब तक

कोई १२००० फिल्में भारत की सत्ताइस भाषाओं में बनी हैं। ७५० फिल्में प्रति वर्ष बनाकर आज भारत ने विश्व में हालीवुड को भी मात कर दिया है और देश की नगरीय लोक संस्कृति का यह एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गया है। मनोरंजन, नाच-गानों के साथ कथानक भी समाज के सभी पहलुओं से संबंधित रहे हैं। भारत में आज कोई साढ़े ग्यारह हजार सिनेमाघरों में प्रतिदिन कोई १२५ लाख भारतीय सिनेमा देखने जाते हैं। 'फीचर' फिल्मों के अलावा छोटी डाकूमेंटरी फिल्में १७० प्रति वर्ष बन रही हैं, साथ में लगभग ५० अलग से सुरक्षा (Defence) और कृषि पर। फिर हर सप्ताह न्यूजरील १५ भाषाओं में बनाई जाती है। इस प्रकार करीब छह करोड़ भारतीय प्रति सप्ताह इन फिल्मों को देखते हैं (Vasudev & Lenglet १९८३; India १९८२)।

सिनेमा माध्यम की लोकप्रियता का कारण इसका संबंध नाटक के कथानकों से रहा है। भारत में १९३१ में पहली बार सवाक् फिल्म 'आलमआरा' बनी थी। प्रारंभ में सिनेमा को आकर्षक बनाने के लिये निर्माताओं ने भी भारतीय परम्परा का सहारा लेकर धार्मिक कथानकों को ही अपनाया था। उदाहरण के लिये १९१३ से १९३४ तक की फिल्मों में २० प्रतिशत फिल्में धार्मिक और पौराणिक कथाओं पर थीं। १९१३ और १९२३ के बीच में बनी फिल्में लगभग ७० प्रतिशत धार्मिक ही थीं जैसे 'राजा हरिश्चन्द्र' (१९१३), 'लंका दहन' (१९१७), 'श्रीकृष्ण जन्म' (१९१९), 'कालिया दहन' (१९२०), 'सती अनुसुइया' (१९२१) और 'रामायण' (१९२३) आदि। यही स्थिति सवाक फिल्मों के समय हुई। प्रारम्भिक वर्षों में कोई ९० प्रतिशत फिल्मों के कथानक पौराणिक कथाओं पर थे, जैसे 'अयोध्या का राजा' (१९३२) हिन्दी में, 'श्याम सुन्दर' (१९३२) मराठी में, 'सीता कल्यानम्' (१९३३) तमिल में, 'दक्ष यज्ञ' (१९३४) बंगाली में ऐसी ही फिल्में थीं। फिल्म निर्माता इस नये उद्योग में कोई नुकसान नहीं चाहते थे, अतः उन्हीं कथानकों को चुना गया जो लोक प्रिय बन सकते। इसका सबसे बड़ा उदाहरण 'जय संतोषी मां' (१९७५) का है जब भारत में घर–घर में एकाएक 'संतोषी माँ' की भावना घर कर गई। फिल्मों के माध्यम से भारतीयता का एक बार फिर से पुनरूज्जीवन हुआ है जिसमें संस्कृतियों के धार्मिक, सामाजिक पहलुओं को फिर से स्वराज्य–भोगी भारतीयों के सामने रखा गया। समाज और संस्कृति के वर्गों की समस्याओं से परिचय कराया गया, जैसे पश्चिमीकरण के प्रभाव पर 'इंदिरा एम. ए.' (१९३४), सामाजिक प्रतिबंध और तय किये विवाह पर 'देवदास' (१९३५), जाति प्रथा के बंधन और छुआछूत पर 'अछूत कन्या' (१९३६), विधवा विवाह समस्या पर 'बाल योगिनी' (१९३६), मजदूरों के अधिकारों पर 'प्रेसीडेंट' (१९३२), खेती और सहकारिता पर 'धरती मां' (१९३७), अधेड़ विवाह पर 'दुनिया न माने', सांस्कृतिक और सामाजिक भेदभाव पर 'अधिकार' (१९३८), परम्परा और मान्यताओं के भूल्य पर 'आदमी' और राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण के लिये 'सिकंदर' (१९४०) आदि। भारत के स्वराज्य आंदोलन का भा सिनेमा पर प्रभाव पड़ा।

स्वतंत्रता के बाद स्वराज्य के स्वप्न पर ख्वाजा ए. अब्बास ने 'नया संसार' बनाई। 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' में 'धरती के लाल' की भूमिका बन चुकी थी। बंगाल के

अकाल पर 'मुन्ना' और भारतीयता के आदर्श पर उदय शंकर भट्ट ने 'कल्पना' बनाई। अब जन समुदाय की रुचि सिनेमा में बढ़ने लगी। फिल्मों का स्तर सुधारने के लिये १९५२ से अन्तर्राष्ट्रीय फिल्मोत्सव आरम्भ होने लगे (India, १९८२)। इस दशक में अब ध्यान जरा सामाजिक समस्याओं पर ज्यादा बढ़ा और फिल्मों में 'नई लहर' की भूमिका रची गई। राज-कपूर की 'आवारा' ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पायी। बंगाल के किसानों पर 'दो बीघा जमीन' (१९५५) और भारत माता के आदर्श पर 'मदर इंडिया' (१९५७) ने तहलका मचा दिया। नई लहर की समाजवादी प्रवृतियों का आभास सत्यजीत राय के तीन चित्रों 'पाथेर पांचाली' (१९५५), 'अपराजित' (१९५७) और 'अपूर्व संसार' (१९५७ से हुआ (Wood १९७२; Barnouw & Krishnaswamy, १९७३, Malik, १९७६)। छठे दशक पर चीन और पाकिस्तान के युद्ध का प्रभाव काफी गहरा पड़ा। 'लघुमानव' की अवधारणा साहित्य में आ ही। चुका थी 'नई कहानी' के विकास में परिस्थिति में फंसे 'मानव' को लेकर, कथानक सामाजिक समस्याओं में ज्यादा उलझ गये। फ्रांस में सार्त्र के अस्तित्ववाद का भी कथानकों पर प्रभाव दिखाई देने लगा। नाटककारों में तेंदुलकर ने मराठी में, बादल सरकार ने बंगाली में, हबीब तनवीर ने उर्दू में, गिरीश करनाड ने कन्नड़ में और मोहन राकेश ने हिन्दी में नई दिशाऐं दिखाईं। प्रेरणा पाकर सत्यजित के साथ ही ऋत्विक घटक ने बंगाली में 'मेघे ढाका तारा' (१९६०) और 'सुवर्नरेखा' (१९६७) बना डाली। सातवें दशक में नये सिनेमा की नींव सुदृढ़ हुई। मृणाल सेन की 'भुवन शोम' (१९६९) और 'कलकत्ता' (१९७९) : श्याम बेनेगल की 'निशांत' (१९७५), 'मंथन (१९७६) और 'जुनून' (१९७८); सत्यू की 'गरम हवा' (१९७४); बसू चटर्जी की 'सारा आकाश', मणि कौल की 'आषाढ़ का एक दिन' (१९७२) फिल्मों ने सामाजिक समस्याओं के पहलुओं को एक बिलकुल नये अंदाज से आंका। आदिवासी समाज को लेकर भी गोविंद निहलानी ने 'आक्रोश' (१९८०) और मृणाल सेन ने 'मृगया' बनायी। इन फिल्मों मे गुजरात के आदिवासियों की समस्या और संथाली जीवन का यथार्थ दिखाया गया। निहलानी की 'अर्ध सत्य' ने पुलिस के पूर्ण सत्य को उजागर किया।

डाक्यूमेंटरी फिल्मों ने भी लघु फिल्में बनाकर भारत के अतीत को अभिव्यक्त किया। सांस्कृतिक विरासत से परिचय "खजुराहो", "कोणार्क", "राधा कृष्ण", "अकबर" से करा डाला। क्षेत्रीय संस्कृतियों, हस्तकलाओं, चित्रकारों और विकास पर फिल्में बनीं। सुखदेव का प्रयोग "इंडिया ६७", बिल्मोरिया की "बिहार के किसान", श्याम बेनेगल की "बच्चों का मासूमियत", मणि कौल की "कठपुतलियाँ", पटवर्धन की "आपात काल" और मुले की "पुलिस के जुल्म" पर बनी फिल्मों ने पूरे भारत को भारत के सामाजिक–सांस्कृतिक परिर्वतन से परिचित करवाया। इतना सब होने पर भी आज टी० वी० और सिनेमा का माध्यम जन समाज तक पूरी तरह से नहीं पहुंच पायी है। बहुत कुछ फिल्में तो महज मुनाफे के लिये निर्माता बना रहे हैं। हाँ फिल्म के माध्यम ने भारत से दूर विदेशों में बसे एक करोड़ भारत-वंशियों को आज भी भारत की संस्कृति से जुड़ाये रखा है। भारत की गतिविधि का भास उन्हें फिल्में ही कराती हैं। पर कहीं कहीं यही फिल्में उन्हें यथार्थ से दूर उन आदर्शों पर ले जाती हैं जो

शायद भारत में नहीं रहे हैं। इसका पता उन्हें उनकी भारत यात्रा में लगे 'साँस्कृतिक सदमे' से मिलता है। फिर भी भारत के संबंधों को बनाये रखने में सिनेमा माध्यम का बेजोड़ योगदान रहा है (Gautam १९७९, १९८१, १९८३)।

मानवशास्त्र और संचार माध्यम

संस्कृतियों को समझने की इच्छा और पिपासा जितनी पश्चिमी देशों में दीखती है, उतनी भारत में नहीं। ई० एम० फॉस्टर की 'ए पैसेज टु इन्डिया' (१९२४) ने भारत के बारे में जितना पश्चिम को बताया है, उसका फल आज हमें पॉल स्काट के बहुचर्चित टी० वी० कथानक 'दि ज्वेल इन दि क्राउन' (१९६६) से लोगों के घरों में टा० वी० पट पर अंग्रेजी राज के आखिरी दिनों की झांकियों में देख सकते हैं। इस सबका श्रेय "फिल्म" को देना होगा जिसमें नाचते, गाते, हंसते, चलते–फिरते सजीव चित्रों के द्वारा इतिहास के पृष्ठों को बाँधा जा सका है और आज वीडियों के आ जाने से घर घर में वीडिओ फिल्मों के संग्रह बन गए हैं। मानव ने अपने बनाये हुए दर्पण में अपने प्रतिरूप को सुरक्षित रखना सीख लिया है। यथार्थता को समझना ही संस्कृतियों और क्षेत्रों की समस्याओं को समझना है। मानवशास्त्र ने मानव समाज को समझने के लिए तरह तरह के अध्ययन किये हैं और इतिहास में मानव विकास को समझा है। फिर भी विश्व में बहुत सी नस्लें और जातियाँ लुप्त हो रही हैं और सरकारें केवल राष्ट्रीय प्रतीकों की बातें कर रही हैं। लेवी स्ट्रॉस (१९६६) ने कहा है कि आज मानव समाज इतनी तेज़ी से लुप्त हो रहा है कि यदि हमने उसकी सुरक्षा में कुछ नहीं किया तो यह मानव दर्पण सदा के लिये मिट जायेगा।[1] इसी गंभीर विषय पर संकेत तो मानवशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, वियेना (१९५२) में ही दे दिया गया था पर इसकी पुष्टि फिलाडेलफिया (१९५७) के मानवशास्त्रीय सम्मेलन में 'अर्जेंट एंथ्रोपोलॉजी' पर एक विशेष अन्तर्राष्ट्रीय आयोग गठित कर की गई (Hohenwart–Geslachstein, १९७९)। भारत में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। मानवशास्त्र के द्वारा आज भी संस्कृतियों की भिन्नता और एकता को समझा जा सकता है (Gautam, १९६९)। किन्तु संचार माध्यम को समझने की दिशा में काम कुछ कम ही हुआ है। हाँ सिनेमैटोग्राफिक डॉकूमेंटेशन पर जरूर कुछ ध्यान दिया गया है। एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया ने १९४९ ही में अपना फिल्म यूनिट स्थापित की और १९५४ से १९६७ के बीच में २३ फिल्में बनाई (Chattopadyoy, १९७०)। क्योंकि फिल्म उत्पादन आदि काफी महंगा पड़ता था, मानवशास्त्र विभागों में इस दिशा में न तो कोई शोध

(1) For native cultures are disintigrating faster than radio active bodies: and the Moon, Mars and Venus will still be at the same distance from the Earth when that mirror which other civilizations still hold up to us will have so receded from our eyes that, however costly and elaborate the instruments at our disposal, we may never again be able to recognize and study this image of ourselves (Levi–Strauss, 1966).

हुआ और न अध्यापन ही । तीन खंडों में छपी पुस्तक A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology (१९७२) में कहीं भी संचार माध्यम पर कोई चर्चा तक नहीं की गई है । पश्चिमी योरोप और अमरीका में संस्कृतियों के documentation में मानवशास्त्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा है (Collier, १९७७) । आज भारत के संदर्भ में संस्कृतियों का मेल और 'भारतीयता' की इच्छा तभी विकसित हो सकती है जब हम भारत और उसके विभिन्न सामाजिक वर्गों को अपना समझें । इस मनोवृत्ति को ढालने में संचार माध्यमों का उपयोग किया जा सकता है जिससे राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण की भावनायें पनपेंगी ।

संचार माध्यमों का योगदान संस्कृतियों के बीच दरारें या राजनीतिक दाँव-पेच लगाना नहीं है, बल्कि सही तरीके से यथार्थ को प्रस्तुत करना है । वह यथार्थ जिसमें भारत की संस्कृतियां जीवित हैं और अपनी भिन्नता को अपनी अस्मिता से व्यक्त करती हैं । संचार व्यवस्था के मुख्य ध्येय दो ही रहेंगे, चाहे वह आदर्श से संबंधित हो चाहे वास्तविकता से ।

(i) मनोरंजन और अवकाश के समय का उपयोग ।

(ii) समाज की गंभीर समस्याओं और पहलुओं से परिचय ।

फिर इन दोनों उद्देश्यों को परंपरा और परिवर्तन की प्रक्रियाओं में देखना होगा । सामाजिक आस्थाएँ बदल रही हैं, पर समाज की संरंचना अब भी जीवित है । देखना यह होगा कि राष्ट्र निर्माण में संचार माध्यमों से किस तरह हम 'नये भारत की खोज' कर सकते हैं और उसे परंपरा से जोड़ कर 'भारतीयता' का बाना पहना सकते हैं ।

संचार माध्यमों को राष्ट्र पुर्ननिर्माण में ठीक प्रकार ढालने में मानवशास्त्र निम्नरूप से सहायक सिद्ध हो सकता है--

(i) बृहत भारत की संस्कृतियों और समाज के वर्गों की विभिन्नता की पहचान और उन्हें 'भारतीयता' की एकता में बाँधने का प्रयत्न ।

(ii) मानवशास्त्र के अध्ययन से पूरे भारत का संस्कृतियों की सूची बनाना और यह बताना कि क्यों एक वर्ग अपनी सांस्कृतिक अस्मिता या पहचान की सुरक्षा में संलग्न रहता है ।

(iii) सांस्कृतिक सीमाओं में बसे लोगों को कैसे अपने परिवेश के बारे में जागरूक बनाया जा सकता है और साथ में भारत गणराज्य की राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति जिम्मेदार बनाया जा सकता है ?

(iv) संचार–व्यवस्था के सभी रूपों का क्या योगदान हो सकता है ? कैसे ग्रामीण, नगरीय और आदिवासी संस्कृतियों को एक दूसरे के निकट लाया जा सकता है । वह प्रक्रिया क्या है, जहाँ आधुनिकीकरण के उपकरणों की सहायता से आदिवासी ग्राम्य या नागरीय न बनकर सच्चे भारतीय नागरिक बन सकें । यहाँ

आदिवासी नाटक, ग्रामीण लोक नाटक और नागरीय थियेटर (रंगमंच) के साथ रेडियो, समाचारपत्र, टी० वी०, सिनेमा आदि आधुनिक उपकरणों के मिले-जुले सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी। इन सभी माध्यमों को अपने अपने परिवेश और क्षेत्र में संस्कृतियों की संरचनाओं के अनुकूल काम करना होगा। परंपराओं को आज के भारत से जोड़ना होगा।

(v) 'अपने पड़ोसी को पहचानो' के अर्थ में दूसरी अन्य संस्कृतियों के परिवेश के बारे में जानकारी हासिल करनी होगी। यहाँ माध्यम संस्कृतियों के भाषांतर करने का प्रयास करेगा, जैसे तमिल से हिन्दी में हिन्दी से संथाली–मुंडा में। विभिन्नता का ज्ञान होने पर ही वर्ग अपनी पहचान सुरक्षित रख पायेगा। यहाँ रेडियो, दूरदर्शन, समाचारपत्र और सिनेमा का सम्यक् उपयोग हो सकता है।

(vi) एक दूसरे के प्रति सजग होकर ही एक दूसरे की सुरक्षा करनी होगी। चरित्र निर्माण का आधार परस्पर आदर और प्रेम होगा।

संविधान में वर्णित मूल अधिकारों की रक्षा के साथ समानता के अधिकार की भावना पुष्ट होगी और संस्कृतियों की तुलना 'ऊंच–नीच' में, या 'गंवार सुसंस्कृत' में न करके, 'राष्ट्र एकता में एक हैं' में की जायेगी। वर्गों की अपनी सामाजिक संरचना पर कोई प्रहार नहीं होगा। 'वे जैसे चाहे रहें' यही मूल अधिकारों का सार है। वफादारी दो रहेंगी–वर्ग और संस्कृति के प्रति और राष्ट्र के प्रति भी। तभी भारतीयकरण की शुरुआत में संचार माध्यमों का योग-दान बन पायेगा।

(vii) यहाँ व्यावहारिक मानवशास्त्र यह बता सकेगा कि राष्ट्र की एकता के लिए जिस समाजवाद को भारत ने अपनाया है उसका अर्थ सभी वर्गों का विकास है, चाहे वे आदिवासी हों, हरिजन हों, ग्रामीण हों, नागरीय हों, किसी भी धर्म और परंपरा के मानने वाले क्यों न हों। भारत एक धर्म निरपेक्ष गण-राज्य है और राष्ट्र विकास के लिये 'संस्कृतिकरण', 'ईस्लामीकरण', 'बौद्ध-करण', 'ईसाईकरण' आदि प्रक्रियाओं पर जोर नहीं देना होगा। यदि 'संथाली-करण' या 'आदिवासीकरण' से सांस्कृतिक एकता की पहचान से राष्ट्र विकास के पुनर्निर्माण में सहायता मिल सकती है तो हमें चाहिये कि लोगों को 'संस्कृतिकरण' के प्रभाव से बचायें और उन्हें 'राष्ट्रीय भारतीयकरण' की दिशा दिखायें (Srinivas, १९५२; Bose, १९७२; Gautam, १९७८)।

पर यहां हमें दो मुख्य बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। एक तो सामंतवादी प्रवृतियों का, और दूसरा, हिन्दू-मुस्लिम आदर्शों का। सामंतवादी आदर्श में ऊंचनीच या बड़े-छोटे की भावनायें प्रबल हैं। आज भारत में राजेरजवाड़े तो चले गये, पर नये नेता उन्हीं का चोंगा

पहन कर उन्हीं आदर्शों को अपनाने लगे हैं। "जी हुजूरी", "चमचागीरी" जैसी संज्ञायें उसी के फल हैं और जो समानता या व्यक्ति की स्वतंत्रता के विपरीत हैं। आज केन्द्र से लेकर आंचल तक सभी लोग, चाहे वह नेता हो, मिनिस्टर हों या विकास की परियोजना में संलग्न अफसर हो, अपने को किसी राजा से कम नहीं मानते और जनसाधारण को 'परजा' और छोटा ही समझते हैं। संचार माध्यम इस मनोवृति पर प्रहार कर समानता, स्वतंत्रता की धारणा को पुष्ट कर राष्ट्रीय चरित्र बनाने का प्रभावी साधन बन सकते हैं।

जाति प्रथा और धार्मिक संकीर्णता एक दूसरा सामाजिक अभिशाप है। उदाहरण के लिये एक ओर तो हिंदू समाज, हिंदू आदर्श की एकता पर ज़ोर देता है, पर दूसरी ओर 'ऊंच-नीच' की संज्ञाओं से समाज में दरारें डालता है। जिस समाज संरचना में व्यक्ति का ऊंचनीच से छुटकारा नहीं होगा, वहाँ कैसे निष्पक्ष स्वतंत्र विकास संभव है। यही विडम्बना है, जिसे राष्ट्र भक्ति, देश प्रेम से दूर रखना होगा। भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख दोनों ही व्यक्ति के विचारों के दो जुड़े हुए पहलू हैं। दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। बिना भौतिक सुख के जीवित लोक संसार निष्फल है और बिना आध्यात्मिक सुख के जीवन का मूल्य असार्थक है। जावन के बड़े आदर्श जहाँ समाज एक परिवार है को ध्यान में रखकर ही हम संचार माध्यम का ठीक उपयोग कर पायेंगे। मानवशास्त्र द्वारा संचार माध्यम से विभिन्न वर्गों की संरचनाओं पर प्रकाश डाला जा सकता है, और लोग क्यों किसी विशेष नियम का पालन करते हैं आदि प्रश्नों को समझाकर राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने के लिये सरकार ओर अन्य अभिकरणों और समूहों को उपयुक्त सुझाव दिए जा सकते हैं। इस तरह से चार करोड़ से भी ज्यादा संख्या वाले आदिवासी वर्गों की भाषा से, परंपरायें, धार्मिक विश्वास, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं को अपने आप अपने परिवेश में विकसित होने की स्वतंत्रता देकर उन आपसी तनावों से बचा जा सकता है जो राष्ट्र की उन्नति में बाधा डाल रहे हैं। भविष्य के सिंहावलोकन में जीवन का मूल्य और पड़ोसियों के साथ मिल जुल कर रहने की सार्थकता को ये संचार माध्यम समझा सकेंगे और लोगों को दिशा–विहीनता नैराश्य और भ्रांत सामाजिक धारणाओं से बचा कर राष्ट्रीय चरित्र निर्माण करने में सहायक होंगे। वैयक्तिक हित के साथ सामाजिक, नैतिक और राष्ट्रीय हित और कर्तव्य निष्ठा से परोपकारी भावनाओं के अंकुर फूटेंगे। संचार माध्यम इस दिशा में लोक-नाटक, नाटक, टी० वी० और सिनेमा के द्वारा नये कथानकों का सृजन करेंगे। पर उसके लिये हमें वास्तविकता को अच्छी तरह से समझना होगा। आदिवासियों और ग्रामीणों को अधनंगे, बेवकूफ, गंवार और जंगली न कहकर, प्रकृति–प्रेमी, स्वच्छंद, संस्कृति प्रेमी और स्वतंत्र मानना होगा और उन्हें समुचित सम्मान देना होगा और देश के निर्माण में सक्रिय साझीदार बनाना होगा। वास्तविकता सामाजिक अनुभव की जननी है और उससे विभिन्न पहलू उजागर होते हैं। यदि व्यापक दृष्टि से संचार माध्यम का उपयोग राष्ट्र चरित्र निर्माण में होगा तो संस्कृतियों के प्रतिरूप खरे उतरेंगे और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में समाज के अनेक वर्ग, भिन्न होते हुए भी मिलकर एक दूसरे के दुख–सुख और विकास में हाथ बटायेंगे क्योंकि राष्ट्र तो उनका ही है। "सबै भूमि गोपाल की जामें का भेद" कहावत स्वतः जीवंत हो उठेगी।

सहायक ग्रन्थ एवं लेख-सूची

Awasthi, S. 1971 'Round Table on the contemporary Relevance of traditional theatre' in *Sangeet Natak* Vol 21.

,, 1983 *Drama : The Gift of Gods, Cultural Performance and communication*, Tokyo.

Barnouw, B. & S. Kishnaswamy 1963 *Indian Film*, New york, London.

Bose, N. K. 1972 *Anthropology and some Indian Problems*, Calcutta.

Chalapati Rao, M. C. 1974 *The Press*, New Delhi.

Chattopadhyay, S. K. 1970 'Cinematography in Anthropological Survey of India' in S. Sinha (ed) *Research Programme on Cultural Anthropologry and Allied Disciplines*, Calcutta.

Collier, J. Jr. 1977 *Visual Anthropology* : *Photos as a Research Method*, New York.

Forester, E. M. 1924 *A Passage to India*, Aylesbury, Bucks.

Gautam, M. K. 1969 The Ethnographical Museum an anthropological Bridge between Research and Education' in *University Museum Yearbook*, Oslo.

,, 1977 *In Search of an Identity : a case of the Santal of northern India*, Leiden.

,, 1978 'A Kaleidoscope of Cultures : Some ethical problems in context to tradition, modernity and social change', Paper presented to Xth ICAES, New Delhi.

,, 1978 'Are we doing justice' to the tribal studies in India?' in Moser & Gautam (eds) *Aspects of Tribal Life in South Asia* I : *Strategy and Survival*, Berne.

,, 1979 '*In Search for an ethnic identity among the Surinamese Hindustanis in the Netherlands* in Galsoricau

and Thorner (eds) *Asie du Sud Traditions et Changements*, Paris.

" 1981 'Collision or Respect between two Great Traditions : Problems of Ethnicity, root culture and loyalty in nation building among the Hindustanis of the Netherlands' Paper read in 10th World Congress of Sociology, Mexico.

" 1983 'From Local Protest to tribal Nationalism : the Emergence of a new ethnicity as the new strategy of Tribal Identity of Jharkhandis in Chota Nagpur, in Ballhatchet & Taylor (eds) *Changing South Asia*, Hong Kong.

" 1983 'Itinerant Camping Life to settled Basti Alliances : The Mechanism of ethnic maintenance and Social organization of the Kanjars in North India' in *The E. A.* Vol 36 : I ,Lucknow.

" 1983 'Language as the most powerful factor in maintaining the ethnic identity :The cultural role of Hindi and Sarnamis among the Surinamese Hindustani Cultural minority in Surinam & the Netherlands' Paper presented in 8th ECMSA, Tallberg, Sweden.

Gautam, M. K. & P. H. Pott 1983 *Anthropology and the Functions of Ethnographic museums in third world Countries : a case study of a multi ethnic society in South Asia*, Leiden.

Gargi, B. 1966 *Folk Theatre of India*, Seattle, London.

Guha-Thakurta, P. 1930 *The Bengali Drama*, its origin & Developments, London.

Gandhi, Indira 1972 Sandesa, in *Yojana* 15-16

India Ref: Book 1982 New Delhi.

1983 New Delhi.

Hein, N. 1972 *The Miracle plays of mathura*, New Haven, London.

Hohenwart–Gerlachstein, 1972 On the History of the Committee and the Commission on urgent Anthropological Research from 1952–1978 in *RE* Newsletter No. 3.

Levi–Strauss, C. 1966 'Anthropology : Its achievements and future in *C A* Vol 7 : 2.

Mathur, J. C. 1964 *Drama in Rural India*, Bombay.

Malik, A. 1972 *India watching, the Media Game*, N. Delhi.

,, ,, 1976 'The Cinema in India' in Moraes & Howe (eds) *India*, Delhi.

Mankekar, D. R. 1973 *The Prses under Pressure*, N. Delhi.

Parmar, S. 1975 *Traditional Folk Media in India*, Delhi.

Sarkar, C. 1967 *The Changing Press*, Bombay.

Scott, P. 1966 *The Jewel in the crown*, London.

Srinivas, M. N. 1952 *Political social organisation* of *Coorgs in South India.*

Srinivas, M. N. & Others 1972–1974 *A Survey of Reesarch in sociology and social anthropology*, N. Delhi 3 Vols.

Vasudev, A. & B. Lenglet 1983 *Indian Cinema Superbazaar*, N. Delhi.

Wood, R. 1972 *The Apu Trilogy*, London.

———

सामाजिक परिवर्तन में पत्रकारिता की भूमिका

चन्द्रोदय दीक्षित

सामाजिक परिवर्तन की वर्तमान प्रक्रिया में पत्रकारिता की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। पत्रकारिता को लोकतंत्र में चौथा वर्ग अथवा 'फोर्थ इस्टेट' के नाम से पुकारा जाता है। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के पहले सामाजिक व्यवस्था के दो प्रधान वर्ग माने जाते थे। शासक और उसके समर्थक सामन्तवर्गीय अभिजात वर्ग और दूसरा वर्ग चर्च के धर्माधिकारियों का वर्ग था। फ्रांसीसी राज्य क्रांति के समय जन वर्ग नामक तृतीय वर्ग अथवा 'थर्ड इस्टेट' को मान्यता मिली। इस 'थर्ड इस्टेट' (तृतीय वर्ग) में सम्पन्न व्यवसायी, उद्यमकर्त्ता, किसान और कारीगर सभी की गणना थी। फ्रांसीसी राज्य क्रांति के बाद तृतीय वर्ग के लोगों को स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांत के अनुकूल बालिग मताधिकार का अधिकार दिया गया और बालिग मताधिकार के आधार पर लोकतांत्रिक संस्थाओं के गठन में इस वर्ग का प्रभाव बढ़ा। लोकतांत्रिक व्यवस्था में निर्वाचन प्रक्रिया सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस प्रक्रिया के लिए जनमत जाग्रत करने की जिम्मेदारी पत्रकारिता पर आती है। इसी आधार पर लोकतंत्र की सफलता के लिए पत्रकारिता को फोर्थ इस्टेट अथवा चतुर्थ वर्ग माना जाता है।

भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में भारतीय नेताओं ने पत्रकारिता द्वारा जन जागरण की ज्योति जलाई थी। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष, लाला लाजपत राय, मोती लाल नेहरू, मोतीलाल घोष, मदन मोहन मालवीय आदि नेताओं ने पत्रकारिता के द्वारा जन जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने भी पत्रकारिता के महत्व को स्वीकार किया था और भारत में 'स्टेट्स मैन', 'टाइम्स आफ इंडिया', 'पायोनियर', 'मिलिटरी गजट', 'मद्रास मेल' आदि समाचार पत्रों ने भारत में अंग्रेजी राज्य के समर्थकों और अंग्रेजों तथा अर्ध अंग्रेजों के हितों के संरक्षण के लिए निरंतर प्रयास किया। जहाँ तक भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों का सम्बन्ध है, वे चाहे बंगाली भाषा के पत्र हों, अथवा मराठी भाषा के पत्र, हिन्दी के समाचारपत्र हों अथवा उर्दू के अखबार, सभी प्रकार के भारतीय पत्रों ने अपने ढंग से स्वाधीनता आन्दोलन का सम-

---

चन्द्रोदय दीक्षित, भूतपूर्व संपादक, स्वतंत्र भारत, लखनऊ।

र्थन किया और उन्होंने देश की राष्ट्रीय एकता, अखंडता और सामाजिक सद्भाव, बन्धुत्व और स्वतंत्रता की आकांक्षा को अभिव्यक्ति प्रदान की। इस दृष्टि से हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में समाचारपत्रों और पत्रकारिता ने ऐतिहासिक योगदान किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश में जो लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित की गयी है उसमें भी समाचारपत्रों द्वारा जन जागरण और विशेष रूप से जनमत को संगठित करने और उसे अभिव्यक्ति देने का कर्तव्य निबाहना है। इस दृष्टि से हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में भी उसे योगदान देना चाहिए। इस समय देश में प्रायः सभी प्रकार की विचारधाराओं के दलों में यह राष्ट्रीय सहमति स्वीकार कर ली गयी है कि देश की सामाजिक व्यवस्था में हमें जो भी परिवर्तन अभिप्रेत हैं, उनको शांतिमय और वैध उपायों द्वारा ही लाया जाना चाहिए। यह कहना पूर्णतः संगत होगा कि देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था जिसने समाजवादी, धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने का संकल्प लिया है, उसके इस संकल्प में यह बात निहित है कि हम अपने यहाँ शोषणहीन, वर्गहीन समानता के आधार पर नयी व्यवस्था विकसित करने की अभिलाषा रखते हैं। इस अभिलाषा को पूरा करने में भी पत्रकारिता (पत्रकारों और समाचार पत्रों) को केवल जनमत जाग्रत करने का ही नहीं वरन् अपने लक्ष्यों के अनुरूप जनता के मनोभावों में भी आवश्यक परिवर्तन लाने की गंभीर जिम्मेदारी है।

अब हमें अपने देश की वर्तमान स्थिति, लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थिति और लोकतंत्र की मर्यादाओं के परिपालन की स्थिति पर विचार करना चाहिए।

हमारे समाज में अनेक प्रकार के अंतर्विरोध हैं। सामाजिक व्यवस्था में पूंजीवादी और सामंतवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का ही प्रभुत्व है। संविधान के मौलिक अधिकारों में संपत्ति का अधिकार प्रमुख अधिकार था जिसे अब राज्य कानून द्वारा सीमित कर सकता है। उत्पादन के साधनों पर भी निजी स्वामित्व की व्यवस्था है। कृषि क्षेत्र में निजी स्वामित्व के अधीन भूमि व्यवस्था में छोटे-छोटे किसानों के स्वामित्व के अधिकार को संरक्षण मिलता है लेकिन पिछले ३५—४० वर्षों के अनुभव से कहा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन में सामन्तवादी अवशेष और महाजनी शिकंजा मजबूत है जो छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों का शोषण करता है। यह भी स्पष्ट है कि भूमि संबंधों में सुधार के जो भी कानून बने हैं वे कागजों में ही सीमित रहे हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन के साधनों और उत्पादन करने वाले किसानों के संबंधों में अब तक सामन्तवादी नागपाश की जकड़न मौजूद है। गरीबी और बेकारी दूर करने के नाम पर जो साधन सरकार की ओर से उपलब्ध कराये जाते हैं उनका सारांश निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा ही हड़प लिया जाता है। ऐसी स्थिति में संविधान द्वारा प्रदत्त नागरिक स्वतंत्रताओं के अधिकारों के बावजूद शोषित जनता के हितों की रक्षा के लिए उनकी मूकवाणी को अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिलता।

औद्योगिक क्षेत्रों में और विशेष रूप से शहरों में आर्थिक संबंध स्पष्ट रूप से पूंजीवादी

हैं। आज समाचार पत्रों के अधिकांश प्रकाशन पूंजीवादी मालिकों के हाथ में हैं ऐसी स्थिति में समाचार पत्रों और पत्रकारिता की भूमिका अपने आदर्श के अनुरूप कायम करने के स्थान पर समाज के निहित स्वार्थी शोषक वर्ग की चाटुकारिता मात्र करती दिखायी देती है। इस बात को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि जो व्यक्ति समाचारपत्रों का प्रकाशन करने में करोड़ों रुपयों की पूंजी लगाता है, वह उस साधन का उपयोग अपने हितों की सुरक्षा के लिए अवश्य ही करेगा। बड़े संस्थानों की ओर से प्रकाशित समाचारपत्रों में श्रेष्ठ पत्रकारों को ऊंची-ऊंची तनख्वाहों पर रखा जाता है। इस प्रकार वे लोग भी जन साधारण के नाम की चाहे जितनी दुहाई दें, वे स्वयं पूंजीवाद द्वारा पोषित वर्ग में पहुंच जाते हैं। इस श्रेणी में आने वाले समाचार पत्र और पत्रकार न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लक्ष्य की ओर समाज को आगे बढ़ने से रोकते ही हैं। इतना ही नहीं, समाचार पत्र संस्थानों के मालिक अपने अन्य पूंजीवादी वर्ग हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से जनता के बीच में भ्रामक विचारों और समाचारों को फैलाने में संकोच नहीं करते हैं।

शोषणहीन समाज और सामाजिक न्याय के आधार पर न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लक्ष्य का उद्देश्य समाज को स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व के आधार पर समृद्ध बनाना है। ऐसे समाज में सभी मनुष्यों और व्यक्तियों की शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास और विकास के समान अवसर दिलाने की बात कही जाती है। लेकिन आज के समाज में जो असमानता, विषमता और शोषण की प्रक्रिया मौजूद है, उसका लाभ उठाकर सामन्तवादी अवशेष और एकाधिकारी पूंजीवादी घरानों की सम्पत्ति और क्षमता बढ़ती जा रही है। ऐसे ही तत्वों के हाथ में जब समाचार पत्र और पत्रकारिता अपने चतुर्थ जन वर्ग–'फोर्थ इस्टेट' के नाम पर आदर्श स्वरूप की बात करती है तो वह आदर्श का विटप परिहास ही प्रतीत होता है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था का एक दूसरा अंतर्विरोध यह है कि हमने अपने संविधान में भारतवर्ष के सभी निवासियों को सार्वभौम सत्ता सम्पन्न नागरिक माना है। लोकतांत्रिक संस्थाओं और मर्यादाओं के लिए बालिग मताधिकार प्रणाली को अपनाया है। ऐसी स्थिति में देश की प्रायः सभी राजनीतिक पार्टियों की ओर से जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए ऐसे कार्यक्रमों को चुनाव घोषणा पत्रों में शामिल किया जाता है जिनके द्वारा आर्थिक, सामाजिक विषमता को समाप्त करने की घोषणा की जाती है। दूसरी ओर हमारी प्रशासन व्यवस्था, सैनिक व्यवस्था और आर्थिक सम्बन्धों में ऐसे तत्वों का ही बाहुल्य है जो सामाजिक–आर्थिक शोषण के लाभार्थी हैं। इस प्रकार के तत्व ही समाचारपत्रों में और पत्रकारिता के पेशे में अनुकरणीय पदों पर विराजमान हैं। फिर उनसे सामाजिक परिवर्तन में सहायक बनने की अपेक्षा कैसे की जा सकती है।

इस प्रकार हमारे देश में न्यायपूर्ण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के लिए शांतिमय तरीकों से परिवर्तन की बात कहना उन निहित स्वार्थी तत्वों के पक्ष में है जो समाज के ऊपर अपनी प्रभुता बनाये हुये हैं और वे स्वयं ऐसे शब्दजाल और भ्रामक प्रचार का सहारा लेते हैं जिससे

जन आक्रोश शांतिमय तरीकों को छोड़कर सामाजिक क्रांति के द्वारा अपने हितों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष का रास्ता न अपना ले।

इस समय हमारे देश में बड़े-बड़े समाचारपत्र संस्थानों की ओर से श्रृंखलाबद्ध समाचार-पत्रों का प्रकाशन किया जाता है। इनमें करोड़ों की पूंजी लगती है। संवाद समितियों और संचार के माध्यम भी कमोबेश प्रचार माध्यम बन गये हैं जिनका उपयोग एकाधिकारी पूंजी-वाद, निहित स्वार्थों की पक्षधर सामाजिक व्यवस्था बड़े सजग ढंग से करती है। इस संबंध में एक ही बात कहना पर्याप्त होगा कि आज अधिकांश पत्र पत्रिकाओं में अपराध, नृशंस हत्या अपहरण, बलात्कार के समाचारों पर बड़ी सुर्खियां दी जाती हैं, लेकिन सामाजिक न्याय के लिए दिन रात शोषण की चक्की में पिसने वाली शोषित, उत्पीड़ित जनता के संघर्ष और हितों की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। ऐसी स्थिति में पत्रकारिता को सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सहायक नहीं पाया जाता है वरन वह निहित स्वार्थी तत्वों की पोषक बनकर चाटुकारिता को ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान लेती है।

———

पर्यावरण रहन–सहन और लोग

अनिल अग्रवाल, रवि चोपड़ा और कल्पना शर्मा

पर्यावरण का अर्थ केवल जमीन, हवा या पानी भर नहीं है। कुल मिलाकर पर्यावरण यानी सभी संसाधन, जिन पर हम सब की जिंदगी टिकी है, पल रही है और, बढ़ रही है। इसलिए पर्यावरण का ह्रास इस बात से भी बहुत गहरे ढंग से जुड़ा है कि समाज इन संसाधनों का उपयोग किस ढंग से कर रहा है। भारत जैसे घनी आबादी वाले और निपट गरीब देश में पर्यावरण के हर एक अंग पर कोई न कोई वर्ग, जाति या सांस्कृतिक इकाई अपने निर्वाह के लिए निर्भर है। यदि उस स्रोत को समाज का कोई अधिक शक्तिशाली समूह किसी और वजह से नष्ट करने लगता है या अपने लिए छीन लेता है तो उससे वंचित दुर्बल समूहों को निश्चित ही तकलीफ उठानी पड़ती है। इसलिए बढ़ती सामाजिक-आर्थिक असमानता और पर्यावरण का ह्रास बहुत हद तक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

बांसों के व्यापारिक उपयोग ने तमिलनाडु और कर्णाटक राज्यों में बांस की टोकरी बनाकर गुज़ारा करने वाले बसोड़ परिवारों पर कहर ढा दिया है। सरकार की वन-नीति का आदिवासियों के जीवन और संस्कृति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। मिटते जा रहे चरागाहों ने देश की घुमंतू जातियों को मिटा दिया है, मछली पकड़ने के आधुनिक यंत्रों और जालों के कारण छोटे और परंपरागत मछुआरे बुरी हालत में फंस चले हैं। देश के बदलते पर्यावरण तथा संसाधनों के उपयोग की पद्धति के कारण अन्य तरह-तरह की वनस्पतियों और वन्य प्राणियों की तरह ये सभी संस्कृतियां और धंधे भी धीरे–धीरे लुप्त होने की स्थिति में पहुंच रहे हैं। ज्यों–ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं, भारत की विविधता में एकता वाली बात···एकता भी, विविधता भी···क्षीण होता जा रही है।

आदिवासी

उद्योग, व्यापार, विज्ञान, सिंचाई, विद्युत-परियोजनाओं और बड़ी सरकारों वाले प्रत्यक्ष भारत के बिलकुल समानांतर एक अप्रत्यक्ष सभ्यता भी इस देश में है। वह है आदि-वासी भारत। पर्यावरण की दृष्टि से हानिकारक विकास योजनाएं भारतीयों के जीवन की

अनिल अग्रवाल, रवि चोपड़ा और कल्पना शर्मा, तीनों लेखक भारत में पर्यावरण रक्षा के आंदोलन में सक्रिय हैं।

मुख्य धारा में थोड़ी अस्त-व्यस्तता पैदा करके रह जाती होंगी, परंतु आदिवासियों की संस्कृति और समाज-व्यवस्था के लिए तो वे मृत्यु-समान हैं।

देश भर में बसे हुए ४ करोड़ ४० लाख आदिवासियों की स्थिति को ज़रा ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि इस बात में ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है। एक समय ये 'असभ्य' लोग (जिन्हें यह नाम आधुनिक शब्दावली ने दिया है) समूचे भारत में फैले हुए थे। आज वे एकांत कोनों में जी रहे हैं। इनके लगभग ४०० समुदाय हैं, जिन्हें अनुसूचित जाति का नाम दिया गया है। उनकी संख्या भारत की कुल आबादी का लगभग ७ प्रतिशत है। इनमें से हर एक समुदाय की भाषा, नस्ल, धर्म, समाज रचना और आर्थिक स्थिति अलग–अलग है।

समानताएं

इन विभिन्न आदिवासी समुदायों में कई समानताएं भी हैं। अधिकांश आदिवासी दुर्गम क्षेत्रों में ही बसे हैं–या तो पहाड़ों पर या घने जंगलों में। उनके बीच रेलवे या सड़क जैसे संचार साधनों की सुविधा नहीं है। अक्सर वे सीमा प्रदेशों में रहते हैं और इसलिए उनका संबंध दो–दो राज्यों से जुड़ा होता है। यह संबंध शोषण का ही होता है। अड़ोस–पड़ोस के दोनों क्षेत्रों के लोग उन्हें अपने शोषण का शिकार बनाते हैं।

पिछले दौर में चलाए गए कई प्रकार के विकास-कार्यक्रमों से आदिवासी इलाकों की शाँति टूटने लगी है। तेज औद्योगिक वृद्धि, खनिज द्रव्यों का खदान, नगरीकरण, सड़क निर्माण आदि के कारण भारत बहुत आगे बढ़ा होगा, अपनी सीमाएं फैला सका होगा, लेकिन उनके कारण प्रदूषण बढ़ा है, वनों का नाश हुआ है और देश का पर्यावरण-संतुलन बिगड़ा है। भारत के आदिवासी जो कि पर्यावरण के इस परिवर्तन को बिलकुल बरदाश्त नहीं कर पाते हैं, इस प्रगति के लिए बड़ा भारी मूल्य चुका रहे हैं।

चेंचू, इरुला, कुरुम्बा और कादर जैसे कुछ अल्पसंख्यक आदिवासी शिकारी और अन्न संग्रह करने वाली जातियों के हैं जो नल्लमलै, नीलगिरी और अण्णामलै पर्वतमालाओं के वन प्रदेशों में बसते हैं। ये छोटे-छोटे समुदाय हैं, प्रत्येक में कुल एक हजार लोग ही हैं जो जंगलों में जंगली खुराक की तलाश करते हुए गुजारा करते हैं। परंतु भारत के प्रायद्वीपीय और उत्तर-पूर्वी इलाके के बड़ी संख्या के आदिवासी पहाड़ी ढलानों में बिलकुल आदिकालीन तरीके की खेती–बाड़ी करते हैं। इसे झूम खेती या जलाऊ खेती कहा जाता है। इस प्रकार की खेती के लिए ज्यादा कुछ नहीं, बस एक कुल्हाड़ी और बदन में ताकत भर की जरूरत है। कुछ आदिवासी समतल भूमि मिलने पर हल से स्थायी खेती भी करते हैं। वे खेती की दो पद्धतियों के संधिकाल में हैं।

इनकी आर्थिक स्थिति अनिश्चित है। इन्हें अनिश्चित और अविश्वसनीय बरसात पर निर्भर रहना पड़ता है, इसलिए अपनी खुराक जुटाने के लिए प्राय: जंगलों की ही शरण जाना पड़ता है। फसल के पहले की थोड़ी-सी अवधि में, खासकर बरसात के दिनों में, जंगलों में इन्हें

काफी जंगली खाद्य वस्तुएं मिल जाती हैं जिनसे इनकी खाद्य सामग्री की पूर्ति हो जाती है। गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से समृद्ध उन विविध खाद्य पदार्थों से इनकी एकरस खुराक में विविधता भी आ जाता है और पोषण की दृष्टि से बढ़िया संतुलन भी रहता है। अतिरिक्त जंगली खाद्य वस्तुओं को ये लोग सुखाकर रख लेते हैं जिन्हें बाद में जरूरत के समय खाते हैं।

जंगली आहार

कई प्रकार के कंद, बांस के नरम अंकुर, कुकुरमुत्ते और हरे साग पहली बारिश के साथ ही उग आते हैं। उन्हें हा यह लोग खाते हैं और इकट्ठा करके आगे के लिए रख लेते हैं। हर आदिवासी रोजाना कोई ६०० ग्राम कंद खाता है। इससे उसे शरीर चलाने के लिए पर्याप्त ३००० कैलोरी ऊर्जा और कोई ३० ग्राम प्रोटीन मिलता है। इन जंगली कंदों से उतनी ही मात्रा के आलू की तुलना में दुगुना प्रोटीन मिलता है। बांस की कोमल कोपलों और कुकुरमुत्तों से भी उन्हें काफी प्रोटीन मिलता है। बांस की कोंपलों से औसतन ३५ प्रतिशत विटामिन बी–६ और १७ प्रतिशत बी विटामिन मिलता है। केवल चावल खाने-वालों में बी काम्प्लेक्स की जो कमी प्राय: रहा करती है, उसकी पूर्ति इन पदार्थों से हो जाती है। अतिरिक्त बाँस कोपलों को तोड़कर सुखाकर रख लिया जाता है और आवश्यकतानुसार काम में लाया जाता है। बारिश के दिनों में मिलनेवाले नाना प्रकार के सागों से काफी लौह तत्व मिलता है जिसके अभाव में रक्ताल्पता की शिकायत हुआ करती है, विटामिन ए मिलता है जिसके अभाव में प्राय: बचपन में ही अंधापन आ जाता है।

गरमी के मौसम में आदिवासी जंगलों में उपलब्ध कई तरह के फलों का संग्रह कर लेते हैं। मार्च महीने में परिवार के सभी लोग महुआ बीनने लग जाते हैं। उन्हें धूप में सुखाकर, फिर उबालकर खाते हैं। महुआ से उन्हें ऊर्जा, चूना, विटामिन बी–६ और नियासिन जैसे प्रमुख पोषक तत्व मिलते हैं। ज्वार या चावल की तुलना में उतनी ही मात्रा में सूखे महुए से विटामिन बी-६ और नियासिन कहीं अधिक प्राप्त होते हैं। वे महुए से हल्की शराब भी बना लेते हैं।

भारत–प्रायद्वीप के आदिवासियों के लिए जंगला आम एक प्रमुख आहार है। जंगलों में उनकी बहुतायत है। आम की गुठलियों में भी काफी गूदा होता है जिसे सुखाकर पीस लेते हैं और वह रोटी में काम आता है। इस आटे में काफी प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और चूने के तत्व होते हैं।

आहार के अलावा आदिवासियों को जंगलों से रहने के लिए घर बनाने का सामान, ईंधन और चारे जैसी जरूरा चीजें भी मिलती हैं। साथ हा वे गौण वन–उपजों···जैसे गोंद, शहद, महुए का फूल, बीड़ी की पत्ती आदि···का संग्रह करते हैं और बेचकर कुछ नकद कमा लेते हैं। इसलिए वनों के हक से उन्हें वंचित करने या वनों का नाश करने से उन लोगों का समूचा जीवन ही अस्त-व्यस्त हो जाता है।

वनों से संबंध

मध्य भारत के आदिवासी आदिकाल से वनों से जुड़े हुए हैं। हर एक समुदाय का अपना-अपना भौगोलिक रचनावाला भूखंड है जो वनों से घिरा हुआ है और जिसे वह अपना मानता है। हर एक कबीले में प्रत्येक गांव या बस्ती का अपना अलग जंगली इलाका होता है, उसकी अपनी सीमा भी होती है। १९ वीं सदी के मध्य तक आदिवासी एकांत में शांति से रहते रहे, लेकिन फिर अंग्रेजों ने अपनी हुकूमत फैलायी और ये सारे इलाके केंद्रीय प्रशासन के अंतर्गत आ गये। अंग्रेज प्रशासन के संरक्षण में अनेक गैर-आदिवासी लोग वहाँ जा बसे और उन्होंने आदिवासियों के वन प्रदेश पर अपना कब्जा जमा लिया। १९ वीं सदी में वनवासियों के जीवन में बाहरी हस्तक्षेप इस हद तक दुखदायी हो उठा था कि स्वभाव से शांतिप्रिय आदिवासी भी शासकों के खिलाफ विद्रोह के लिए उठ खड़े हुए थे। इसी का परिणाम था बिहार में संथालों का विद्रोह (१८५५–५६), खान देश में भील विद्रोह और आंध्र के पूर्व गोदावरी जिले के कोंडा रेड्डियों का १८७९ में 'रम्पा' विद्रोह।

मध्य भारत के विपरीत उत्तरपूर्वी पर्वतीय प्रदेशों में अंग्रेजों ने संरक्षण की, उनके जीवन में हस्तक्षेप न करने की, नीति अपनायी जिसे देशी सरकार ने बरकरार रखा। इससे वहां के आदिवासी जमीन पर अपना परंपरागत स्वामित्व कायम रख सके हैं।

२० वीं सदी के आरंभ से अदिवासियों को एक नई मुसीबत का सामना करना पड़ा। यह वनों के आर्थिक दोहन के कारण पैदा हुई थी। वन–संपदा को बटोरने के लिए ब्रिटिश सरकार ने बड़े-बड़े वनखंडों को 'आरक्षित' करके उन्हें राज्यतंत्र के अधीन बनाया। अब यह वनों पर अपने पारंपरिक हकों की मांग करने वाले आदिवासियों और वन–संपदा का लाभ उठाने के अपने अधिकार का दावा करने वाली सरकारों के बीच एक स्थायी खींच-तान का मामला बन गया है।

गत ३० वर्षों में सरकार ने मध्य भारत के पर्वतीय ढलानों में परंपरागत पद्धति की झूम खेती करने से आदिवासियों को रोकने की कोशिश की है। कई नीतियां बनाई गई हैं, कहीं कुछ क्षेत्रों में इजाजत दी है, कहीं कुछ पाबंदी लगाई है और कहीं पूरी तरह निषेध लागू किया है। कभी-कभी एक ही राज्य में अलग–अलग नीतियां देखने को मिल जाएंगी। सरकार झूम की खेती को वनों के विनाश का कारण बताकर उस पर प्रतिबंध लगाने की नीति का बचाव करती है।

झूम खेती

बदलाव की खेती को आंध्र प्रदेश में 'पोडु' मध्य प्रदेश में 'बेवार' और पूर्वोत्तर भारत में 'झूम' कहते हैं। यह आदिवासियों की सदियों पुरानी पारंपरिक कृषि पद्धति है। इसमें जंगल का एक छोटा हिस्सा काट देते हैं। सूखने पर उसे जलाकर पोषक तत्वों से समृद्ध उस राख

में बीज बोते हैं। कुछ वर्षों बाद उस हिस्से को छोड़ देते हैं। वहां फिर से अच्छा जंगल पनप जाता है।

इस प्रकार की खेती आदिवासियों को आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनाती है बशर्ते उसमें दखल न दिया जाए। हर परिवार दो साल के लिए पर्याप्त अनाज उसमें पैदा कर लेता है और अन्य वस्तुओं की पूर्ति के लिए महिलाएं जंगल से कंद और फल आदि बीनकर ले आती हैं। अतिरिक्त अनाज को भविष्य के लिए, अकाल पड़ने पर, बीमारी में या ऐसी विपदा में उपयोग करने के लिए सुरक्षित रखा जाता है।

विशेषज्ञ अक्सर कहते रहते हैं कि खेती की यह पद्धति वन संरक्षण के लिए घातक है और इसलिए इस पर प्रतिबंध लगाना चाहिए । इसके विपरीत अनेक बड़े–बड़े प्राकृतिक वन जहां पोडु खेती की जाती रही है, बाकायदा हरे–भरे खड़े हैं, जबकि जहां भी हल–बैल की पद्धति की खेती की गयी, वहां के जंगल खत्म हो गये हैं। बड़े पैमाने पर व्यापारिक दोहन के कारण भी वनों का व्यापक विनाश हुआ है।

आंध्र प्रदेश के अदिलाबाद जिले के उतनूर तालुके में सन् १९५० में पोडु खेती पर प्रतिबंध लगाया गया था। इससे वहां के कोलम और नाइकोड लोगों की हालत बहुत खराब हो गई है क्योंकि उनका परंपरागत आर्थिक ढांचा टूट गया है। परंतु पश्चिमी घाट के खम्मम्, पश्चिम गोदावरी, पूर्व गोदावरी, विशाखापत्तनम् और श्रीकाकुलम् जिलों में अभी भी आदिवासियों की अर्थनीति पोडु खेती पर ही निर्भर है। यों कुछ आदिवासी जो कि दो पद्धतियों के संधिकाल में हैं, अब हल–बैल की खेती भी साथ–साथ करने लगे हैं।

वनों का व्यापारीकरण

१९७० के बाद कागज उद्योग, रेयान और प्लाइवुड उद्योगों की बढ़ती मांग के कारण वनों के व्यापारिक दोहन को काफी बढ़ाया गया। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने वन–विभागों से आय बढ़ाने पर जोर दिया तो १८ राज्यों ने बड़े पैमाने पर व्यापारिक प्रजातियों के पेड़ लगाने के लिए वन विकास निगम बनाए। ये निगम स्वतंत्र और संघीय स्वरूप के हैं, इसलिए राज्यों के बजट का विषय नहीं हैं और न वन विभाग की कार्य योजना के अंतर्गत हैं। मुख्यतः उद्योगों के हित के लिए ही बने इन निगमों के कारण प्राकृतिक वनों के संरक्षण को बहुत बड़ा आघात सहना पड़ा है। कई जगह लोग इन्हें 'वन विनाश निगम' कहने लगे हैं।

इन निगमों ने एक बिलकुल नई कार्ययोजना तैयार की है। वन–प्रबंध की नई इकाई अब 'इंडस्ट्रियल कैचमेंट' कहलाती है। ऐसा क्षेत्र दो–तीन जिलों को भी घेर सकता है और एक ऐसी इकाई किसी खास उद्योग की मांगों को पूरा करने के लिए नामांकित कर दी जाती है। लगाई गयी पूंजी का प्रतिफल जल्दी मिलने लगे, इस ख्याल से इंडस्ट्रियल कैचमेंट में अत्यंत उत्पादक वन ही लिए जाते हैं। उम्दा किस्म के विशाल वनों को बिलकुल साफ कर दिया गया है। निगमों ने भारी लाभ कमाने के लिए इन जंगलों की लकड़ी बेच दी है और

इस तरह खाली किये गये इलाकों में सागौन, सफेदा और चीड़ जैसे व्यापक पेड़ लगाये गए हैं। फलों के पेड़, खासकर आम के पेड़ काट दिए गए हैं क्योंकि उनकी लकड़ी प्लाईउड उद्योगों के लिए उपयोगी है। आम की लकड़ी आंध्र प्रदेश में प्लाईवुड उद्योगों को ७४ रुपये घनफुट के हिसाब से बेची गयी है और वे विशाल भव्य पेड़ तेजी से जंगलों से गायब होते जा रहे हैं। शायद देश को उस किस्म के जंगली आमों से हमेशा के लिए हाथ धोना पड़ेगा।

इस तरह इन निगमों की स्थापना के कारण, वनों के संरक्षण की दृष्टि से जो थोड़ी बहुत कार्ययोजना बनाई जाती थी, उस पर भी पानी फिर गया है। इन निगमों की गतिविधियों के कारण विशाल प्राकृतिक वन क्षेत्रों की जगह व्यापारिक वन लेते जा रहे हैं। इससे आदिवासियों की जीवन पद्धति और उनकी संस्कृति टूट रही है। इसने अनेक आदिवासी समूहों में असंतोष के बीज बो दिये हैं।

उद्योगीकरण

वन-विनाश के अलावा आर्थिक विकास की अन्य कई योजनाओं ने भी आदिवासियों के पर्यावरण को बिगाड़ा है। उनमें से एक है उद्योगीकरण। हमारे वन क्षेत्र खनिज संपदा के मामले में बहुत समृद्ध हैं। अनेक राज्यों में उद्योगों की स्थापना, जल–विद्युत परियोजनाओं और खान उद्योगों के कारण बड़े पैमाने पर आदिवासी विस्थापित हो गए हैं।

उदाहरण के लिए बिहार के रांची और सिंहभूम जिलों के आदिवासी भारी उद्योगों की स्थापना के कारण अपनी जमीन से उखड़ गए हैं। उन आदिवासीयों की जरूरतों को पूरा करने के लिए या उनको फिर से बसाने के लिए कोई वैकल्पिक योजना नहीं बनाई गई। उनकी जमीन का मुआवजा उन्हें जरूर दिया गया है, लेकिन भला नकदी पैसा हाथ में कितने दिन टिकता है ? जंगलों से और कृषि भूमि से वंचित होकर ज्यादातर आदिवासी नए साहबों के घरों में नौकरी करने या इन बड़े कारखानों में अकुशल मजदूर बनने को मजबूर हो गए हैं। ऐसा जगहों में जब तक कारखाने का निर्माण चलता है तब तक तो उद्योग-वाले उनको काम पर लगाए रखते हैं पर उद्योग शुरू हो जाने के बाद तकनीकी ज्ञान न होने के कारण आदिवासियों को हट जाना पड़ता है।

बिहार, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश की खानों में जो अकुशल मजदूर हैं वे सब स्थानीय आदिवासी हो हैं जो उन खानों के विस्तार के साथ वहां के जंगलों और जमीनों से वंचित हो गये हैं। उन आदिवासियों का जीवन और काम दोनों बहुत हा करुणाजनक हैं।

बस्तर में बेलाडीला की लोहे की खानों के कारण तेजी से बिगड़ते जा रहे पर्यावरण के बीच घिर चुके आदिवासियों से दुखदायी शायद ही कोई और उदाहरण हो। इंद्रावती नदी की सहायक नदी शंखिनी का पानी लोहे की धुलावन से एकदम लाल हो गया है।

बेलाडीला खान के जनरल मैनेजर श्री पी० एल० जाडिया के अनुसार इस प्रदूषण से

कोई १५ गांव प्रभावित हुए हैं। यहाँ पीने का पानी दुलर्भ हो गया है। बस्तर के कलेक्टर श्री एच० मिश्र प्रदूषित गावों की इस संख्या को ठीक नहीं मानते। कुछ लोगों के अंदाज से ऐसे गाँव ५० हैं।

इन खानों को चलाने वाली संस्था द नेशनल मिनरल डेवलपमेंट कारपोरेशन ने किरिनडुल खुदाई के पास एक बांध बनाने की कोशिश की थी ताकि पानी के साथ बहकर आने वाले धातु के अंश वहां रुक जाएं और आगे साफ पानी जाए। लेकिन श्री जडिया का कहना है कि गांववालों ने तीर कमान लेकर हमारे सर्वेयरों को डराया और इसलिए पिछले सात सालों से हम यहां कुछ भी नहीं कर पाए हैं।

यहां के पानी के नमूने भूपाल स्थित राज्य जल प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के पास भेजे गये हैं। इस बीच गांववालों के पीने के पानी के लिए कुछ हैंड पंप लगवाए गए हैं। कुछ कुएं खुदवाए गए हैं, लेकिन वह बांध, जिसका अंदाजन खर्च ११६ लाख रुपए है, अभी भी नहीं बन पाया है।

आदिवासियों पर विकास योजनाओं के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए गठित योजना आयोग के एक अध्ययन दल ने कई राज्यों के अध्ययन के बाद सुझाव दिया है कि आदिवासियों पर उद्योगीकरण के प्रतिकूल परिणामों को कुछ कम करने की दृष्टि से हर एक विस्थापित आदिवासी को जमीन के बदले जमीन और घर के बदले घर देना चाहिए। किसी आदिवासी क्षेत्र में कोई उद्योग आरंभ करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि उसमें कितने कुशल मजदूरों की ज़रूरत पड़ेगी। उसी हिसाब से स्थानीय आदिवासियों को ठीक प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम बनाना चाहिए। अन्यथा गैर-आदिवासी बाहर से आकर वहाँ बस जायेंगे और अपने ही क्षेत्र में आदिवासी अल्पसंख्यक बन कर रह जाएंगे।

निराश्रितों का पुनर्वास

बाहर से आकर बसनेवालों को दी जानेवाली जंगलों की जमीन से भा आदिवासी बहुत परेशानी में पड़ जाते हैं। उत्तरपूर्वी क्षेत्र में खासकर असम में, पूर्व पाकिस्तान से आए शरणार्थियों और आव्रजित लोगों को बसाने के लिए ऐसी काफी जगह दी गयी है। इसी तरह उड़ीसा और मध्य प्रदेश दण्डकारण्य में भी पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों को बसाया गया है जिससे स्थानीय कोया अदिवासी उखड़ गए हैं।

आदिवासियों के उस योजना आयोग अध्ययन दल ने यह भी देखा है कि राज्य सरकार आदिवासियों का अपेक्षा शरणार्थियों को भरपूर आर्थिक सहायता दे रही है। उदाहरण के लिए दण्डकारण्य में बसे हर शरणार्थी परिवार को ३७०० रुपये दिए गए हैं जबकि आदिवासी परिवार को केवल १७०० रुपए। इसके अलावा आदिवासियों को चिकित्सा-सुविधाएं भी नहीं हैं।

उत्तरपूर्व से लेकर दक्षिण तक सभी आदिवासी क्षेत्रों में, जहाँ-तहाँ विकास योजनाओं

और उद्योगीकरण के कारण गैर-आदिवासियों तथा अधिकारियों के झुंड आ बसे हैं। उनके मन में आदिवासी सभ्यता और उनके विशिष्ट स्वभाव के प्रति न संवेदना है, न आदर ही। उनके कारण यदि सबसे ज्यादा कष्ट किसी को झेलना पड़ा है तो वह है आदिवासी स्त्री। गैर-आदिवासियों ने, हर भेश में उनका शोषण किया है, उनको बर्बाद किया है। इन सबसे जो घाव अदिवासियों के मन पर बने हैं, वे उतने ही गहरे हैं, जितने उन्हें उनके भव्य और पवित्र वनों से उखाड़ने के कारण बने थे। गत ३० वर्षों में आदिवासी समूहों के बीच जो विभिन्न राजनैतिक आंदोलन उभरते रहे हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं कि भारत की 'मुख्यधारा' से वे किस हद तक हताश हो गये हैं।

आदिवासी संस्कृति में एक अनुद्घाटित भव्य संपदा है जो तथाकथित 'आधुनिक' समाज के लिए लाभदायक हो सकती है। प्रकृति के प्रति, विशेष रूप से वन्य प्राणियों के प्रति उनके दृष्टिकोण और दर्शन में एक प्रज्ञा है जिसकी आज हमें बहुत ज्यादा जरूरत है। क्योंकि अब हमें आधुनिकीकरण के द्वारा पर्यावरण को पहुंचायी गयी क्षति का भान होने लगा है।

लेकिन पर्यावरण की इस समझबूझ का लाभ उठाने के बजाय भारत की मुख्यधारा भारत के आदिवासियों से कटती जा रही है और उन्हें आर्थिक परेशानियों में धकेलती जा रही है।

रहन-सहन

१९८१ की जनगणना के अनुसार लगभग ५० करोड़ लोग, याने कुल विश्व की आबादी का दसवाँ भाग···भारत के गांवों में रहते हैं। १९७१-८१ की अवधि में ग्रामीण जनसंख्या वृद्धि की दर शहरी दर की तुलना में काफी कम रही है। भारत के छोटे–बड़े शहरों की भी वृद्धि नहीं हुई। लेकिन ग्रामीण भाग की समस्याएं बढ़ी हैं। ७६ प्रतिशत लोग गांवों में हैं। उनके विकास के लिए धन का प्राविधान कम है, इसलिए गांवों में मकान, जल–आपूर्ति और सफाई जैसी समस्याएं बढ़ती ही गई हैं।

ग्रामीण जनसंख्या का एक बड़ा भाग छोटे–छोटे समूहों में बसा हुआ है, जहां ५०० से भी कम लोग रहते हैं, इसलिए उन सबको उपर्युक्त सुविधाएं प्राप्त कराना केंद्रित नौकर-शाही के लिए कठिन होता है। देहात के लोगों को अपने श्रम और साधनों से अपना काम खुद कर लेने के लिए प्रेरित करना भी सरकारी तंत्र के लिए मुश्किल होता है।

गरीबी इतनी अधिक है कि गांव के लोग इन सुविधाओं को खुद जुटा पाने की स्थिति में नहीं हैं। १९७७-७८ में एक अनुमान के अनुसार ४७.८५ प्रतिशत ग्रामीण साल भर में ७४२ रुपए से ज्यादा कमा नहीं सके थे। याने वे सब गरीबी की रेखा से नीचे जीने को मजबूर थे।

गांव के घर

ग्रामीण भारत के मकानों की स्थिति सचमुच भयानक है। मैसूर के इंस्टीट्यूट आफ

डेवलपमेंट स्टडीज़ द्वारा कोई १५ साल पहले किए गए एक सर्वे में कहा गया था कि गांवों में आधे मकानों की तुरंत मरम्मत कराना जरूरी है। मिट्टी और घास के बने इन अधिकांश घरों की उम्र ५० साल से ज्यादा हो चुकी है। काम चलाऊ अच्छे दर्जे के मकान बहुत ही कम हैं और वे निश्चित रूप से अमीर जमींदारों या संपन्न घरानों के ही हैं।

अधिकांश ग्रामीण तो बिलकुल खराब हालत में जीते हैं। उनके घर बरसात में चूते हैं, छप्पर कामचलाऊ हैं, दीमक लगे हैं। गांव के जमीन-मालिकों की दया पर छोटे दड़बों में लोग ठुसे रहते हैं। सेंट्रल बिल्डिंग रिसर्च इंस्टीटूयुट के एक वरिष्ठ वैज्ञानिक के अनुसार यह कल्पना करना भी कठिन है कि इन सबको मकान कैसे दिए जाएं। उसी इंस्टीट्यूट के १९७७ के अनुमान के अनुसार उस वर्ष सभी गांवों में मकानों की सुविधा जुटाने के लिए कोई एक करोड़ २१ लाख मकानों की जरूरत थी। न्यूनतम औसत लागत ३००० रुपए प्रति मकान मानें तो भी कुल ३६३० करोड़ रुपयों का, यानी बहुत बड़ी रकम का प्राविधान सरकार को करना पड़ेगा। यह राशि छठी पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण आवास के लिए रखी गई राशि से १० गुने से भी ज्यादा है। भारत के योजनाकार स्वीकार करते हैं कि भारत के शहरी तथा ग्रामीण आवास की पूरी व्यवस्था निकट भविष्य में कर सकने के कोई आसार नहीं हैं।

बड़ी बाधाएं

आगामी बीस वर्ष तक निरंतर पूंजीनिवेश और मकान निर्माण का सिलसिला जारी रखा जाए तो देश की आवास-सुविधा पूरी की जा सकती है। छठी पंचवर्षीय योजना के मसविदे में स्वीकार किया गया है कि मकान निर्माण के मामले में, खासकर ग्रामीण आवास के मामले में सरकार की भूमिका बहुत सीमित है, क्योंकि सार्वजनिक संसाधनों के रास्ते में बड़ी बाधाएं हैं। पांचवीं योजना (१९७४-७९) की अवधि में सरकार ने ग्रामीण आवास समस्या को हल करने के लिए कुछ गंभीर उपाय जरूर किए थे। न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति के कार्यक्रमों में, ग्रामीण भूमिहीन श्रमिकों को मकान की भूमि दिलाने और मकान बनाने में सहायता देने के काम को उच्च प्राथमिकता दी गई थी। योजनाकारों का अनुमान है कि १९८५ तक मकान की आवश्यकतावाले ग्रामीण परिवारों की संख्या १ करोड़ ४५ लाख के करीब होने वाली है।

छठी योजना के आरंभ के साथ ही, अब तक ग्रामीण भूमिहीनों को ७७ लाख भूखंड वितरित किए जा चुके हैं। ६८ लाख अन्य परिवारों को भूमि देना अभी बाकी है। भूमि प्राप्त करने वालों में से केवल ५ लाख ६० हजार परिवारों को मकान बनाने के लिए सहायता मिल सकी है। इस तरह अब भी १ करोड़ ३९ लाख परिवारों को मकान बनाने के लिए सहायता मिलनी शेष है।

छठी योजना में सोचा गया है कि योजना काल के अंत तक देश के समस्त भूमिहीन परिवारों को मकान के लिए भूमि दी जाए और लगभग २५ प्रतिशत अधिकृत परिवारों को अर्थात ३६ लाख ५० हजार परिवारों को, १९८५ तक मकान बनाने के लिए सहायता उप-

लब्ध करायी जाए। योजना में सिफारिश की गयी है कि सरकार १९९० तक देश के सभी भूमिहीन श्रमिक परिवारों को मकान की सुविधा देने के लक्ष्य बनाए। इन सुविधाओं में मकान के लिए भूमि देने के अलावा घर बनाने के लिए बांस वगैरह देना, ३०-४० घरों के बीच एक पक्का नलकूप और एक जोड़ सड़क भी शामिल है। इसमें सारा श्रम वे लोग करेंगे जिन्हें यह सुविधा मिलती है। छठी योजना में प्रत्येक भूखंड के सुधार के लिए प्रति परिवार २५० रुपयों और निर्माण सहायता के लिए ५०० रुपयों का प्राविधान किया गया है। इस प्रकार कुल धनराशि लगभग ३५४ करोड़ तक पहुंचती है।

इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए स्वयं योजनाकारों का सुझाव है कि तहसील, तालुका और प्रखंड स्तर के संगठन खड़े किए जाएं जो वाजिब परिवारों को मकान निर्माण की सहायता राशि वितरण करने का काम करें। मकानों की योजना बनाने में ऐसे हर टोले तक जाने-आने की सुविधा, गंदे पानी की निकास नाली, जिसके अभाव में बीमारियों की आफत फैलती है, तथा अन्य सभी सुविधाएं प्राप्त कराने में इन संगठनों को गांव वालों की मदद करनी चाहिए। छप्पर के खपरैल और नालियों की ईंट जैसी चीजें वहीं के कुम्हारों से बनवा लेनी चाहिए। योजनाकारों का यह भी सुझाव है कि मकान के नक्शे आदि में भी उन लोगों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए जिनके लिए वे बनते हैं।

केंद्रीकृत नौकरशाही की मंदगति और इन कार्यक्रमों के प्रति ग्रामीण संपन्न वर्ग का विरोध देखते हुए इन योजनाओं का सफल होना आसान नहीं है। एक ओर भूमिहीन परिवारों की संख्या तेजी से बढ़ रही है और दूसरी ओर कृषि के योग्य भूमि घटती जा रही है ? इस कारण भूमिहीन परिवारों के लिए मिट्टी, घास, लकड़ी जैसी चीजों को प्राप्त करना मुश्किल होता जा रहा है। मिट्टी भी भूस्वामियों की इजाजत से मिलती है, और लकड़ी तो महंगी और दुर्लभ हो चली है। पास के जंगलों से भी इन चीजों को लेना कठिन हो गया है, क्योंकि वे आरक्षित हो गए हैं और उनका उपयोग दूर-दूर के शहरी बाजार के लिए होता है।

बांस

उदाहरण के लिए बांस को ही लें। पूरे पश्चिमी घाट के देहातों में लोग परंपरा से अपने मकानों के लिए बांस काम में लेते थे। बांस की खपच्चियों और चटाइयों की दीवारें बनती थीं, बड़े बांस के खम्भे बनते थे, और छत की कड़ियां भी बांस की होती थीं। दरवाजे और खिड़कियां चटाई की होती थीं। बांस खूब मिलता था। बांस की एक झोपड़ी बनाने में देर नहीं लगती थी, मेहनत भी बहुत कम पड़ती थी।

जब तक बांस कागज उद्योग के कच्चे माल के रूप में काम नहीं आता था, तब तक पश्चिमी घाट में बांस की कोई कमी नहीं थी। कर्नाटक की सालाना माँग अंदाजन १ लाख २५ हजार टन बांस की है जब कि पैदावार १ लाख ६० हजार टन की है। लेकिन अब इस कुल पैदावार का लगभग ८० प्रतिशत बांस कागज उद्योग में लगता है और इस तरह जगह-जगह से बांस गायब होने लगता है।

पहले बांस लोगों को मुफ्त मिलता था, इसलिए उनके घर मुफ्त में बन जाते थे। अब बांस १२०० रु० टन बिकता है। लेकिन बांस का नामोनिशान मिटाने पर तुले कागज उद्योग को यह बांस १५ रुपये प्रति टन की रियायती दर से मिलता जा रहा है।

केवल कर्नाटक और केरल ने ग्रामीण आवास कार्यक्रम पर काफी ध्यान देने का प्रयास किया है। फिर भी इन दोनों राज्यों में यह कार्यक्रम ज्यादातर ग्रामीणों तक पहुंचने में सफल नहीं हो सका है।

एक बार महात्मा गांधी ने कहा था—"भारत के लिए अधिक उत्पादन की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अधिक लोगों द्वारा उत्पादन की है।" मकान निर्माण के मामले में, यही बात यों कही जा सकती है कि भारत के लिए मकानों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अधिक लोगों द्वारा मकान बनाए जाने की है और इसका अर्थ यही है कि मकान परंपरागत ढंग से, स्थानीय चीजों की मदद से बनाए जाएं।

मिट्टी के घर

यों छठी योजना में सस्ती और स्थानीय चीजों द्वारा मकान बनाने पर जोर दिया गया है और इन चीजों के कारण होने वाले ऊर्जा के संरक्षण पर भी विशेष ध्यान दिया गया है तो भी योजनाकार और वास्तुकार आम तौर पर उनकी अवहेलना ही करते हैं। जैसे मिट्टी भारत भर में मकान बनाने के काम आने वाली चीज है, भारत के लगभग आधे से अधिक मकान मिट्टी के बने हुए हैं। शहरों में भी झोपड़ी वाले अपनी झोपड़ी में मिट्टी ही काम में लाते हैं। लेकिन योजनाकारों, वास्तुकारों और इंजीनियरों की नजर में मिट्टी बड़ी तुच्छ है। उसे वे असुरक्षित, अस्वास्थ्यकर और अस्थायी मानते हैं। इसलिये सरकारी योजनायें ईंट और सीमेंट के ही आधार पर बनती हैं।

भारतीय शोधकर्ताओं ने मिट्टी के मकान बनाने की सुधरी तकनीक खोजने का गंभीर प्रयास किया ही नहीं। २१वीं सदी में भारत की मकान-निर्माण की आवश्यकताओं की पूर्ति ईंट और सीमेंट द्वारा करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज सीमेंट इतना दुर्लभ हो गया है कि वह बड़े पैमाने पर काले धन का और राजनैतिक भ्रष्टाचार का साधन बन गया है। उसका उपयोग शहरों तक और वहां भी अमीरों तक सीमित हो गया है। इसके अलावा सीमेंट और ईंट दोनों के उत्पादन में बहुत ऊर्जा लगती है। सीमेंट के उत्पादन खर्च का लगभग आधा और ईंट के उत्पादन लागत का आधे से ज्यादा खर्च ऊर्जा का मूल्य है। अनुमान लगाया गया है कि ईंट बनाने में तथा अन्य घरेलू उद्योगों में सालाना लगभग दो करोड़ टन ईंधन जलाया जाता है। इससे वन विनाश की समस्या खड़ी हो रही है। ऊर्जा स्रोतों के दाम बढ़ते जाने से आधुनिक भवन निर्माण साधनों का भी मंहगा होना अनिवार्य है। वह लोगों की क्रय-शक्ति से कहीं अधिक मंहगा हो जाता है। देश की गरीब आबादी इन चीजों से बनने वाले आधुनिक मकान के बारे में सोच भी नहीं सकती।

अमीर लोग सीमेंट के मकान अपनाते जा रहे हैं। इसे एक नई प्रतिष्ठा मिल गई है। इसलिए गरीब लोग भी पुराने मिट्टी के मकान में रहना पसन्द नहीं करते। अरविंद आश्रम के एक साथी ने पांडिचेरी के पास समूचा एक गांव दुरमुट मिट्टी से बनाया। लेकिन यह देखकर वह दंग रह गया कि वहां रहने वालों को उन नए मकानों की ठीक देखभाल करने की जरा भी परवाह नहीं है। चाहे जितना उम्दा क्यों न हो, मिट्टी के मकान में गरीबी और फटेहाली की ही गंध आती है। जो भी थोड़ी सामर्थ्य रखता है, वह ईंट और सीमेंट का मकान बनाने की ही सोचता है।

बीच के रास्ते

महंगाई के कारण पक्के मकान गांव के अधिकांश संपन्न लोगों के लिए भी बूते के बाहर की चीज है, इसलिए लोग निर्माण के कई साधनों के स्तर घटा कर मकान को सस्ता बनाने का उपाय खोज लेते हैं। कम से कम सीमेंट का गारा काम में लेते हैं। नींव की चौड़ाई घटा देते हैं। दीवार की मोटाई भी कम कर देते हैं।

लखनऊ के प्लानिंग रिसर्च एंड एक्शन इंस्टिट्यूट के एक सर्वे में देखा गया कि इस प्रकार के तरीके गांवों के मकानों में बड़े पैमाने पर अपनाए जा रहे हैं। ऐसे सस्ते पक्के मकानों की दीवारें और छत कुछ ही वर्षों में टूटने लगती हैं और फर्श व प्लास्टर भी उखड़ जाते हैं। ४-५ वर्षों में ही मकान जर्जर दिखायी देने लगते हैं। दीवारें पतली होने के कारण घर गरमियों में बेहद गरम और जाड़ों में बेहद ठंडे हो जाते हैं, पंखों और हीटरों का उपयोग अनिवार्य हो जाता है।

चूंकि इस तरह के सस्ते पक्के मकान ही गांव वालों के बस के हैं, ऐसे मकान बड़ी संख्या में बनते जा रहे हैं। जहां हरित क्रांति हुई है, खेती से आमदनी काफी बढी है, वहां भी इस तरह के मकान बन रहे हैं। सरकार से बराबर कम लागत के मकानों का स्तर सुधारने की बात कही जा रही है, लेकिन लगता तो यही है कि इसका लाभ निश्चित ही मुट्ठी भर संपन्न लोगों तक सीमित रहने वाला है। हाउसिंग एंड अरबन डेवलपमेंट कारपोरेशन (हुडको) के कार्यक्रमों की जांच करने के लिए बनी एक पार्लियामेंटरी कमेटी ने पाया है कि परंपरागत सामग्रियों के अच्छे उपयोग की योजना बनाने के बजाय कई राज्य सरकारों ने ग्रामीण आवास के निर्माण की अधिकतम लागत ४००० रुपए को अपर्याप्त बताया है और उस पर पुनर्विचार का आग्रह किया है।

पर्यावरण के संदर्भ में

यह भी आश्चर्यजनक है कि किसी भी वास्तुकार ने तथाकथित आधुनिक निर्माण की तकनीकों और मकानों की रचनाओं का पर्यावरण के प्रभाव के संदर्भ में विचार किया ही नहीं है। उदाहरण के लिए भारत में खुले आंगन वाले मकान, विशेषतः शहरों में और अब धीरे-

धीरे गांवों में भी गायब होते जा रहे हैं । खुले आंगन के कारण घर की हवा शुद्ध रहती थी और गरमियों में घर ठंडे रहते थे । नई तरह के मकान गरमियों में खूब गरम और जाड़ों में खूब ठंडे हो जाते हैं और उष्ण कटिबंध के भूभाग में ऐसे मकानों में रहना मुश्किल हो जाता है । इस कारण बिजली के पंखे, वातानुकूलन और हीटर आदि कृत्रिम और गैर जरूरी चीजों का उपयोग अनिवार्य हो रहा है ।

एक प्रमुख हिंदी दैनिक 'नई दुनिया' ने बड़े दुख के साथ लिखा है कि आधुनिक लिबास की तरह आधुनिक मकान भी एक फैशन बन गया है । "केवल आहार एक ऐसा मामला रह गया है जिसमें हमने अभी तक भारतीयता कायम रखी है । हमारे सिविल इंजीनियरों के सारे अध्ययन का एक विषय यही है कि इस्पात से सीमेंट को कैसे मजबूत बनाया जाय । लेकिन बांस के उपयोग से मिट्टी की दीवारें मजबूत बन सकती हैं, यह ऐसा विषय है जिसे केवल ग्रामीण लोग ही जानते हैं । यदि एस्किमों लोग आर्कटिक टुंड्रा में बर्फ से ऐसे मकान बना सकते हैं, जो उनको गरम रख सकते हैं तो हम ऐसे मकान क्यों नहीं बना सकते जो हमारे मौसम के अनुकूल हों ?"

एक मात्र उत्तर यही हो सकता है : पाश्चात्य तकनीकों और जीवन शैला का अंधानुकरण और अपने बहुसंख्यक लोगों की परिस्थितियों की घातक उपेक्षा ही इसका कारण है ।

ग्रामीण जल-आपूर्ति

१९७९ में हमारे देश में पिछले सौ वर्षों का सबसे भंयकर अकाल पड़ा था । पहले से ही पेयजल की कमी वाले गांवों के लिए तो यह बहुत ही कष्टदायक रहा । बड़ी संख्या में कुंए, तालाब और अन्य जलस्रोत सूख गए । सूखे ने महिलाओं को पानी भरने के लिए पहले से भी ज्यादा दूर तक जाने को मजबूर कर दिया । एक समाचार था : "मध्य प्रदेश के सूखा ग्रस्त इलाके के युवकों को शादी के लिए कन्याओं का मिलना मुश्किल हो गया है । लड़कियों के माता-पिता को डर है कि वहाँ ब्याहने से उनकी बेटियों को पानी भरने के लिए बहुत दूर जाना पड़ेगा । वहाँ की समस्या का नाम ही 'सूखा ग्रस्त विवाह' पड़ गया है ।"

फरवरी १९८० में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आयुक्त ने एक और चिरपरिचित समस्या की ओर ध्यान खींचा था । ग्रामीण हरिजनों के लिए सुरक्षित पेयजल का कोई प्रबंध नहीं है । सवर्ण लोग उन्हें सार्वजनिक कुंए से पानी भरने नहीं देते तब हरिजनों को पानी के लिए बहुत दूर जाना पड़ता है या गंदे पानी का सहारा लेना पड़ता है, जिसे सवर्ण छूते भी नहीं ।

अंतर्राष्ट्रीय पेयजल आपूर्ति व स्वच्छता दशक के अंतर्गत १९९० तक समूची ग्रामीण जनता को स्वच्छ पेयजल की आपूर्ति का लक्ष्य पूरा करना है फिर भी भारत ने ऐसा कोई निश्चय जाहिर नहीं किया है कि वह लक्ष्य कब तक पूरा किया जाएगा ।

सरकार ने चौथी पंचवर्षीय योजना के समय से ग्रामीण जल-आपूर्ति के कार्यक्रम पर जोर देना शुरू किया था। राज्य सरकारों का दावा है कि १९७९--८० के अंत तक कुल २ लाख ८४ हजार गाँवों में किसी न किसी प्रकार की जल आपूर्ति सुविधा पहुंचा दी गई है।

१९७१–७२ में देश में कोई १ लाख ५३ हजार गांव समस्यावाले गांव बताए गये थे। उनमें से ९० हजार गांव अभावग्रस्त और कठिन गांव माने गए थे। इन गांवों में आस-पास १.६ किलोमीटर तक भी पेयजल आपूर्ति की गारंटी नहीं थी। ६० हजार गांव स्वास्थ्य समस्या के शिकार होते रहते हैं। इन गांवों के पानी में खार, लोहा और फ्लोराइड या अन्य विषैले तत्व ज्यादा हैं। लगभग १ लाख ८५ हजार गावों में, जिनकी कुल आबादी १६ करोड़ है, कुओं की सुविधा उपलब्ध है।

१९७२—७३ तक ९५ हजार समस्या गांवों को स्वच्छ पेयजल की सुविधा दी गयी। अब भी ५७ हजार समस्या गांव हैं जिनमें पानी की व्यवस्था करनी है। लेकिन विभिन्न राज्य सरकारों ने हाल में बताया है कि पिछला सर्वेक्षण अधूरा है क्योंकि एक तो वह समस्या का सही और पूरा चित्र प्रस्तुत नहीं करता और कुछ इसलिए भी कि हाल के वर्षों में जो सूखा पड़ा उस कारण जल अभाव वाला बहुत बड़ा नया क्षेत्र भी जुड़ गया है। राज्य सरकारों से प्राप्त ताजे आंकड़ों से पता चलता है कि इस वक्त लगभग १ लाख ९० हजार समस्या गांव मौजूद हैं। समय के साथ यह समस्या और गांवों में भी फैल रही है। कई रिपोर्टों से पता चलता है कि औद्योगिक प्रदूषण के कारण नदी, तालाब, कुएं जैसे जलस्रोत बड़ी तेजी से बर्बाद होते जा रहे हैं।

सरकारी योजनाएं

सरकार छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान सभी १ लाख ९० हजार समस्या-गांवों को निपटाना चाहती है। योजना में ग्रामीण जल आपूर्ति की मद में कुल २१३५ करोड़ रुपये रखे गये हैं। यह पांचवी योजना में निर्धारित ४२९ करोड़ रुपए की तुलना में बहुत बड़ी राशि है। ख्याल यह है कि प्रत्येक समस्या–गांव में कोई न कोई एक पेयजल साधन अवश्य प्राप्त करा दिया जाए। फिर भी पहाड़ी और रेगिस्तानी इलाके के दुर्गम गांवों तक सरकार आसानी से नहीं पहुंच सकेगी, इसलिए इस काम में कुछ देर लग सकती है। योजनाकारों ने अनुसूचित जातियों और कमजोर वर्गों को पानी की पूरी सुविधा देने के ख्याल से स्वच्छ पानी के स्रोतों को खोजने के कार्यक्रम पर विशेष ध्यान देने का भी सुझाव दिया है। योजना आयोग द्वारा किया गया एक ताजा मूल्यांकन बताता है कि पिछले दिनों न्यूनतम जरूरतोंवाले कार्यक्रम के अन्तर्गत उपलब्ध जल-आपूर्ति सुविधाओं का वाजिब लाभ इन समुदायों को नहीं मिला है।

चूंकि विभिन्न राज्य सरकारों के काम करने के तरीके अलग-अलग हैं इसलिए हैंड पम्प कुएं या नलों से पानी देने की प्रत्येक सुविधा का लागत मूल्य हर राज्य में कम–ज्यादा हो जाता है। उदाहरण के लिए कर्नाटक में यह खर्च १६०० रुपये है तो नागालैंड में २ लाख १६ हजार

है। पंजाब में, जहां केवल नलों द्वारा पानी देने की योजना अमल में लाई जा रही है, उसका खर्च ४ लाख २६ हजार आता है।

इस काम के लिए उपलब्ध सीमित धनराशि का उपयोग पूरी तरह न्यायसंगत रूप में करना होगा, वरना सरकार द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी वह अपर्याप्त होगा। 'इकोनामिक टाइम्स' ने हाल में पंजाब की ग्रामीण जल-आपूर्ति योजना के एक सर्वे की रिपोर्ट प्रकाशित की है। न्यूनतम आवश्यकता वाले कार्यक्रम के अधीन बनाई गई २५० योजनाओं में से नियत अवधि में केवल ६५ योजनाएं अमल में लाई गईं। ३१ योजनाएं ५—१० साल के विलम्ब से पूरी की गयीं और ७५ योजनाओं में २ से ५ साल तक की देरी हुई। नकद राशि का दुरुपयोग, सामान की चोरी, अपर्याप्त प्रारम्भिक जांच, जिसके कारण काफी धनराशि खर्च कर चुकने के बाद योजनाओं को बन्द कर देना पड़ा—ऐसी भूलें आम देखने में आईं।

देखभाल की कमी

ज्यादातर राज्यों में वर्तमान जल आपूर्ति व्यवस्था की देखभाल ठीक से नहीं हो पाती। योजना आयोग ने वर्तमान जल आपूर्ति योजनाओं की असफलताओं के कारणों का जिक्र करते हुए कहा है कि उसमें स्थानीय लोगों का योगदान न था, कर्मचारियों की कमी थी और अच्छी देखभाल के लिये आवश्यक धनराशि का अभाव था। १९७६ के एक मूल्यांकन में कहा गया है कि लगभग ७० प्रतिशत हैंड पंप निश्चित अवधि में चालू नहीं हुए। अब सरकार के ध्यान में यह बात पक्की तरह से आ गई है कि ग्राम समाज का और स्थानीय संस्थाओं का सक्रिय सहयोग लिए बिना छोटी ग्रामीण जल आपूर्ति योजना सफल नहीं हो सकती। कोई भी सरकार देश भर की जल आपूर्ति योजना की देखभाल अकेले नहीं कर सकती।

तमिलनाडु में इस देखभाल के काम के लिये एक त्रिस्तरीय व्यवस्था सफलता के साथ चलाई गई है। उसमें थोड़ा बहुत हेर-फेर करके दूसरे राज्यों ने भी उसे अपनाया है। इसमें सबसे निचले स्तर में एक अवैतनिक ग्रामीण स्वयंसेवक होता है। उसे कुछ मामूली किस्म की खराबियों को रोकने का प्रशिक्षण दिया जाता है। वह हर सप्ताह पंपों की जाँच करता है और बाहर के सभी पेंच, बोल्ट आदि चालू पुर्जों को दुरुस्त रखता है। जब भी किसी बड़ी दुरुस्ती की जरूरत पड़ती है वह दूसरे स्तर के कार्यकर्त्ता को याने प्रखंड के मुख्यालय में बैठे मेकैनिक को एक पोस्टकार्ड लिख देता है। तीसरा स्तर प्रखंड के दल को मदद करता है। उसमें सभी साधन सरंजाम तैयार रहते हैं। इस प्रकार ५०० पंपों की देखभाल की त्रिस्तरीय व्यवस्था पर सालाना १ लाख ५२ हजार रुपये खर्च होते हैं।

इस व्यवस्था की सफलता दो बातों पर निर्भर है—गांव के समाज का सहभाग और उत्तम तकनीक। इंडिया मार्क ११ के मजबूत हैंड पंपों के कारण देख भाल की जरूरत घट गयी है। यह नया पंप पुराने ढले–ढलाये लोहे के पंपों का स्थान ले रहा है।

पुराने पंप सैकड़ों ग्रामीणों द्वारा बार - बार उपयोग में लाये जाने का बोझ बर्दाश्त नहीं कर पाते थे ।

लाभ किसको मिलता है ?

लेकिन कई विशेषज्ञ इस बात का भरोसा नहीं करते कि राजनीतिज्ञों, संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेषज्ञों, अन्तर्राष्ट्रीय सलाहकारों, पानी के इंजीनियरों और लोगों के कल्याण में साथ देने वालों को आकर्षित करने वाली यह 'सबको पानी देने वाली योजना', सचमुच सफल हो जाएगी ।

जल आपूर्ति का मामला अन्य आर्थिक और सामाजिक विकास के कामों से बिलकुल अलग अपने आप में एक अकेला टेक्नीकल कार्यक्रम है या नहीं—इस पर बहस हो सकती है । पर खास ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिये कि गांव के किस वर्ग को साफ पानी की सबसे ज्यादा जरूरत है । गांवों को दो भागों में बांटा जा सकता है । पहला उन गांवों का समूह है, जहां पूरे साल पानी का कोई प्रबन्ध नहीं है और महिलाओं को पानी भरने के लिये ८ से १६ कि०मी० तक चलना पड़ता हैं । उन गांवों में पानी पहुंचाने के लाभ का मूल्यांकन उन महिलाओं के कठोर श्रम में होने वाली कमी से किया जाए । भले ही इस मौके पर इस लाभ से जुड़े स्वास्थ्य वाले मुद्दे छोड़ दिए जाएं । ऐसे गांव बड़ी खुशी से जल आपूर्ति योजना को खड़ी करने में और उसकी देखभाल में सहयोग दे सकते हैं ।

दूसरे भाग में ऐसे गांव हैं जहां साल भर जल आपूर्ति का कोई न कोई साधन उपलब्ध है बरसात के दिनों में पास की कोई नदी, झरना या पोखर, सूखे मौसम में कुआं आदि। यों विश्व स्वास्थ्य संगठन के हिसाब से यह पानी प्रदूषित माना जायेगा, लेकिन ये स्रोत सदियों से उनके काम आ रहे हैं । उन गांवों में आम तौर पर स्वच्छ पानी की व्यवस्था की कोई मांग नहीं है । जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या सरकारी लोग वहां हैंड पंप लगाते हैं तो बिगड़ते ही लोग अपने पुराने स्रोतों की शरण चले जाते हैं । अगर उनसे पूछा जाता है कि उस पैसे का क्या उपयोग किया जाए तो वे सोचते और अपनी जरूरत के अनुरूप प्राथमिकता तय करते। हो सकता है वे स्वच्छ पेयजल की अपेक्षा पहले खेतों की सिंचाई का प्रबन्ध करना पसन्द करते ।

ग्रामीण सफाई

ग्रामीण जल-आपूर्ति की समस्या कठिन है । पर गांवों की स्वच्छता की समस्या तो लगभग दुःसाध्य ही है । गत दो दशकों में हमारी सरकार ने ग्राम-सफाई कार्यक्रम को लगभग छोड़ ही दिया था । १९५२ की प्रथम पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण जल आपूर्ति तथा सफाई के मद में ग्राम विकास योजना के कुल बजट का ८३ प्रतिशत निर्धारित किया गया था । सफाई में केवल पाखानों के निर्माण की बात थी । लेकिन तीसरी योजना में चूंकि पिछले परिणामों के

कारण सारा भ्रमजाल टूट चुका था ग्रामों के लिए नियत सारी धनराशि ग्रामीण जल-आपूर्ति के लिये ही खर्च की गई ।

ग्राम-सफाई की सुविधाओं का कभी सही सर्वेक्षण किया ही नहीं गया है । सरकारी अनुमान के अनुसार केवल लगभग दो प्रतिशत गांव वालों को पर्याप्त सफाई सुविधा उपलब्ध है । लेकिन कुछ लोग मानते हैं कि वास्तविक संख्या इससे भी कम लगभग एक प्रतिशत ही है । ग्राम सफाई की समस्या की जटिलता को देखते हुए छठी पंचवर्षीय योजना में माना गया है कि १९९० तक की संयुक्त राष्ट्र संघ की सौ प्रतिशत सफाई सुविधा पहुंचाने के लक्ष्य की तुलना में बस कोई २५ प्रतिशत ग्रामीणों को पर्याप्त सफाई सुविधा दी जा सकेगी । इसके पहले जिस प्रकार का काम हुआ है, उसको देखते हुए यह लक्ष्य भी ज्यादा मालूम होता है । योजनाकार स्वीकार करते हैं कि इस काम में ग्राम स्तर पर स्वैच्छिक सेवा के लिए लोगों को बड़े पैमाने पर प्रेरित किया जा सके तो और भी ज्यादा काम किया जा सकता है ।

छठी पंचवर्षीय योजना की अवधि में सभी राज्यों में कुछ अग्रगामी योजनायें चलाने तक ही इजाजत दी गई है ताकि लोगों का रुख देखकर तय किया जा सके कि वे किस प्रकार के पाखाने पसंद करते है और उन्हें किस प्रकार की सफाई सुविधा चाहिए ।

गौण प्राथमिकता

गांव के लोग सफाई को उच्च प्राथमिकता नहीं देते । इसके कई कारण हैं । वे मानते हैं कि स्वास्थ्य और सम्पत्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं जिनके पास अपनी भूमि है वे आम तौर पर स्वस्थ रहते हैं । लेकिन वे आसानी से यह स्वीकार नहीं करते कि शौचालय का उपयोग करने से वे स्वस्थ बन सकते हैं । निजी स्तर पर सफाई के प्रति इस निषेधात्मक वृत्ति का समर्थन वैज्ञानिक भी माना जा सकता है । पर्यावरणीय स्वच्छता के प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब उन्हें परिवार के सभी लोग और समूचा समाज अपना लेता है । यदि एक परिवार शौचालय का उपयोग करने लगता है तो कोई जरूरी नहीं कि इस अकेले परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य सुधरता चला जायेगा ।

ग्राम सफाई के इस कार्यक्रम की आम विफलता के कारण कई जगह सफाई कार्यकर्त्ताओं ने कम आय वाले लोगों को शौचालय आदि की बात समझाना ही छोड़ दिया और वे केवल सम्पन्न परिवारों पर ध्यान देने लगे हैं ।

सामाजिक आयाम

ग्राम सफाई कार्यक्रम की विफलता के पीछे एक और सामाजिक आयाम का भी हाथ है, यह अभी सबकी समझ में नहीं आया है । समाज में पुरुषों का प्रभुत्व । भारतीय समाज में शौच आदि के मामले में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों पर बड़ी सख्त पाबंदियां हैं । अधिकांश

गांवों में जिन घरों में शौचालय नहीं होते, उन घरों की महिलाओं को रोज बड़े सवेरे मुंह अंधेरे शौच के लिये खेतों में जाना पड़ता है; ताकि वे किसी को दिखाई न दें—दिन निकलने से पहले या पुरुषों के उठने से पहले या शाम हो जाने के बाद ।

भारत और बंगला देश में किये गये एक सर्वेक्षण से पता चला है कि ग्रामीण परिवारों में अग्रगामी योजनाओं द्वारा जो शोचालय बनाए गए थे उनका उपयोग मुख्यतः घर की महिलाएं करती हैं । इन घरों में शौचालय बनवाने के पीछे साफ-सफाई का उतना ध्यान नहीं था जितना समाज में व्याप्त परदा प्रथा का था । उदाहरण के लिए पूर्वी उत्तर प्रदेश के देहातों में मीलों तक ऐसा एक पेड़ भी नजर नहीं आता जिसकी आड़ ली जा सके । घरों में शौचालय लगाने का खर्च घर के मुखिया याने आदमी की ही जेब से जाएगा और पाखानों में उनकी निजी रुचि नहीं होती इसलिये अक्सर वे उसके खिलाफ निर्णय लेते हैं । महिलाओं के ख्याल से बनाए गए सफाई कार्यक्रम इसलिए कभी अमल में नहीं आ पाये हैं ।

विशेषज्ञों को ऐसे उपाय खोजने होंगे जो ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रमों को ग्राम सफाई और ग्राम आरोग्य शिक्षण संबंधी कार्यक्रमों के साथ जोड़ सकें । यों ऐसे कुछ सुझाव आए भी हैं, लेकिन उन पर अमल शायद ही हो पाया है ।

तमिलनाडु के तिरनेलवेली जिले में एक रोचक प्रयोग किया जा रहा है । इसी जिले से ग्रामीण हैंड पंप देखभाल योजना आरंभ हुई थी । जिले के १० प्रखंडों में हैंड पंप की देखभाल करने वाले कार्यकर्त्ता को स्वास्थ्य सेवक का भी प्रशिक्षण दिया जाता है । उसके पास दवाओं की एक पेटा होती है जिसमें मामूली घावों का मलहम और मलेरिया पीड़ितों में बांटने के लिए क्लोरोक्वीन जैसी गोलियां होती हैं । वह टीके वगैरह लगाने में भी मदद करता है । लोगों को खाद के गढ़े और स्वच्छ शौचालय बनाने की बात समझाता है और घर-बगिया लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है । अभी तक इस योजना का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं किया गया है । फिर भी इसमें सफलता की काफी गुंजाइश दिखती है ।

आखिर सफाई और व्यक्तिगत आरोग्य लोगों के दृष्टिकोण पर निर्भर है । यदि पूरी लगन के साथ लगातार प्रयत्न किया जाता रहे तो पुराना दृष्टिकोण बदला जा सकता है और नया बनाया भी जा सकता है । आम लोगों की बात तो दूर इस देश के नेताओं तक ने साफ-सफाई को कभी भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक मुद्दा नहीं माना । गंदगी का जिक्र होने पर आम तौर पर ऐसे लोग अपना रोष और खीज व्यक्त कर देते हैं । महात्मा गांधी ही एक ऐसे नेता थे जिनकी राजनीति और व्यवहार की जड़ें भारतीय संस्कृति में गहरी समाई हुई थीं । चूंकि वे सफाई की समस्याओं पर विशेष ध्यान देते थे, इसीलिए उपन्यासकार वी० एस० नाइपाल के शब्दों में, भारत के अन्य नेताओं के विपरीत, वास्तव में वे 'औपनिवेशिक' मानस के नेता थे ।

लोकवार्ता एवं संरचना--एक विचार

नारायण प्रसाद श्रीवास्तव

विगत कुछ वर्षों से संरचनात्मक अध्ययन (Structuralism) का कला एवं समाज-विज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। इस तत्व का प्रयोग दोनों क्षेत्र में समान रूप से होने लगा है। विद्वानों ने साहित्य, मानव-विज्ञान आदि में संरचना सम्बन्धी तात्विक आलोचनाएं की हैं तथा उनका विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। उसी भाँति लोकवार्ता (Folklore) के क्षेत्र में भी पाश्चात्य विद्वानों ने संरचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। लेवी स्ट्रॉस (Levi-Strauss) इस क्षेत्र में सर्वाधिक चर्चित विद्वान माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रॉप् (Propp) ने सुमेरियन मिथ, अमेरिकन इंडियन टेल्स, अफ्रिकन टेल्स एवं सिसीलियन पपेट (Sicilian Puppet plays) आदि पर संरचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर इस अध्ययन पद्धति को अग्रसरित किया। प्रॉप् का एक और महत्वपूर्ण कार्य 'मार्फोलॉजिकल स्ट्डी ऑफ फोकलोर (Morphological Study of Folklore) भी इस दिशा में उल्लेखनीय है। एलेन डन्डेस (Dundes, 1975) ने संरचना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है "First, it should be understood that structuralism, the Study of the interrelationships or organisation of the component parts of an item of Folklore, is not limited to narrative analysis. Because of Levi-Strauss's concern with myth,.........structural analysis is sometimes wrongly thought to be limited to folk narrative materials...........structuralism can be applied to any genre of folklore."[1] इस प्रकार उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट होता है कि लोकवार्ता के सभी अंगों एवं उपांगों यथा कहावतें, पहेलियाँ एवं अंध-विश्वासों आदि पर भी संरचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लोकवार्ता के लघु अंग एवं बृहत्-अंग पर भी संरचनात्मक अध्ययन किये जा सकते हैं। संरचनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि इसके बृहत् माध्यम से हम एक महाकाव्य को भी कुछ मुख्य इकाइयों (Units) में रख कर उसकी संरचनात्मक विवेचना कर सकते हैं।

डॉ० नारायण प्रसाद श्रीवास्तव, रिसर्च एसोशियेट (फोक लोर), भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण, कलकत्ता, भारत सरकार।

संरचनात्मक अध्ययन के लिये लोकवार्ता (Folklore) के किसी अंग एवं उपांग के अध्ययन की समस्या नहीं है अपितु उसे परिभाषित कर तथा उसकी न्यूनतम संरचनात्मक इकाई को उजागर करना और यह समझने की आवश्यकता है कि वह इकाई किस प्रकार पारम्परिक प्रतिमानों (Pattern) से मिल जाती है। लोकवार्ता के सम्बन्ध में जो व्याख्यायें विद्वानों द्वारा दी जाती हैं उन्हें किस प्रकार आप जाँच करेंगे, इसकी समस्या सदैव रही है। एक व्याख्या से दूसरी व्याख्या इतनी भिन्न होती है कि उसमें कौन सा सही है अथवा उस परम्परा से उसका कितना मेल है—कहना कठिन हो जाता है। लेकिन ये संरचनात्मक अध्ययन हमें कम-से-कम सैद्धांतिक (Theory) रूप में कुछ वस्तुनिष्ठता (Objectivity) प्रदान करते हैं। यह बात भी सही है कि न्यूनतम इकाई की व्याख्या के लिये हमें आत्मपरखता का सहारा लेना पड़ता है।

अब यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि क्या लोकवार्ता सम्बन्धी न्यूनतम इकाइयों की विषय-वस्तु वास्तविक संरचना प्रस्तुत करती है ? अथवा वे न्यूनतम इकाइयाँ कुछ भी नहीं हैं। यह एक संकल्पना है जिसे शोधकर्ता ने स्वयं निर्मित किया है। इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि शोधकर्ता यह कह सकता है कि लोक कथा में एक संरचना है। उस पर विस्तृत रूप से कार्य करने वाले दूसरे विद्वान अपनी-अपनी अलग अवधारणाओं के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि अमुक लोककथा में संरचना के अध्ययन के निमित्त निम्न-लिखित न्यूनतम इकाई सामने आती है जिस पर उस कथा की संरचना आधारित होती है। इस परिप्रेक्ष्य में एक प्रश्न और सामने उपस्थित होता है और वह यह कि क्या लोक वार्ताकार (Folklorist) लोकवार्ता के अंगों में संरचना के अस्तित्व का आविष्कार अथवा चित्रण करते हैं अथवा संरचना के प्रारूप (Scheme) का सृजन करते (Create) हैं। बहुत से पाश्चात्य संरचना विश्लेषणकर्ता यह अनुभव करते हैं कि न तो वे उन उपकरणों का आविष्कार करते हैं और न सृजन ही अपितु उसके प्रतिमान को विश्लेषित करते हैं। वस्तुतः लोकवार्ता के अंगों में संरचना के उपकरण स्वयं विद्यमान हैं केवल उन्हें उजागर करके सामने लाने का कार्य लोकवार्ताकार करता है। इसी विचार के समर्थक लेवी स्ट्रास हैं जिन्होंने लिखा है "This Code......has neither been invented nor brought in from without. It is inherent in mythotogy itself, where we simply discover its presence."[2] लोकवार्ता के उपकरणों में संरचना तो है ही इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। लेकिन संरचना के अध्येता जिस संरचना का उल्लेख कर उसकी छानबीन करते हैं वह उनकी स्वयं की निर्मित संरचना है जिसकी बार-बार परीक्षण करने की आवश्यकता पड़ती है। परीक्षण की आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि उन्होंने उसमें अवस्थित प्रतिमान (Pattern) को जिस रूप में देखा व परखा है बाद के कार्यकर्त्ताओं से उसका साम्य नहीं भी हो सकता है।

इसी के साथ एक और दूसरा अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि संरचना क्या जानने योग्य है ? यह एक सैद्धांतिक प्रश्न है। संरचना-विश्लेषक यह दावा करते हैं कि वे धर्मगाथाओं, परी कथाओं एवं अन्य लोकवार्ता के अंगों में अवस्थित संरचना प्रतिमानों को इंगित कर सकते हैं। वे संक्षेप में यह कह सकते हैं कि अमुक लोकवार्ता में अमुक संरचनात्मक प्रतिमान अवस्थित है

तथा उसे वे निकाल कर दिखा सकते हैं। कथावाचक क्या कथा में अन्तर्निहित संरचनात्मक प्रतिमान को जानते हैं ? क्या वे इस बात से अवगत रहते हैं ? इस सम्बन्ध में लेवीस्ट्रास का विचार है कि वे न कह सकते हैं और न अवगत ही रहते हैं। यह बात उसी प्रकार की है कि किसी भाषा में कोई बिना उसका व्याकरण जाने बगैर फर्राटे के साथ ठीक रूप से उस भाषा को बोल लेता है। अगर उससे उसके व्याकरण के संबंध में कुछ पूछा जाय तो वह बताने में असमर्थ हो जायेगा। ठीक उसी रूप में कथावाचक अबाध गति से कथा सुना देता है लेकिन कथा में अन्तर्निहित संरचनात्मक प्रतिमान के सम्बन्ध से वह परिचित नहीं है और न उसके सम्बन्ध में वह कुछ कह सकता है। आदिम जनजातियों के चिंतन तथाकथित सभ्य समाज के चिन्तन से भिन्न हो सकता है इसलिये कथाओं में अन्तर्निहित अर्थ व चिन्तन को उसी पट-भूमि में देखा जाना चाहिये ताकि उनके मन व मस्तिष्क के वास्तविक चिन्तन-स्वरूपों का अवलोकन किया जा सके। संरचनात्मक अध्ययन करने वाले की जिम्मेदारी इसीलिये बढ़ जाती है कि वह उसी परिप्रेक्ष्य में संरचना प्रतिमान को प्रदर्शित कर उसका परीक्षण करेगा।

संरचना का तात्विक विवेचन करते समय संरचना की सार्वभौमिकता पर भी विचार करना आवश्यक है। क्या उसमें सार्वभौमिकता (Universalism) विद्यमान है ? अथवा वह किसी एक विशेष संस्कृति-क्षेत्र की है अथवा किसी एकाकी संस्कृति की ? अथवा उसमें प्राप्त संरचना किसी अन्य विशेष लोकवार्ता के अंगों से अनूठी एवं अनुपम है–आदि विषयक बातों पर विचार अपेक्षित है। तभी संरचनात्मक अध्ययन सार्थक सिद्ध हो सकता है। यदि लोकवार्ताकार किसी संस्कृति की एक कथा का संरचनात्मक अध्ययन करता है तथा वह संरचनात्मक प्रतिमान को निकालने में सफल होता है तो उसके माध्यम से वह समस्त कथाओं की संरचना को सामने ला सकता है। संरचनात्मक अध्ययन के लिये अनेक कथाओं की आवश्यकता नहीं है बल्कि एक ही कथा के आधार पर अध्ययन संभव हो सकता है। क्योंकि लोकवार्ताकार एक कथा को अपना प्रतिनिधि नमूना मान लेता है तथा उसी को सामने रख कर अन्य कथाओं के प्रतिमानों को स्पष्ट कर सकता है। यदि लोकवार्ताकार संरचनात्मक प्रतिमान को वर्णित करने में सफल होता है तो उससे उस संस्कृति की प्रवृत्ति को समझने में तथा उस संस्कृति के लोगों के पारस्परिक व्यवहार को भी समझने में सहायता मिलती है यदि लोकवार्ता के संरचनात्मक प्रतिमान के द्वारा एक व्यक्ति के लोक आलोकन (world view) अथवा दूसरे की लोक-आलोकन का पता चलता है तो इसी प्रकार मानव जाति के सम्बन्ध में अच्छी जान-कारी प्राप्त हो सकती है।

इस संदर्भ में लेवीस्ट्रॉस एवं प्रॉप की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने पर यह पता चलता है कि लेवीस्ट्रॉस ने लोक आलोकन के संरचनात्मक प्रतिमान पर विशेष जोर दिया है। प्रॉप का कार्य सर्वथा इससे भिन्न था। उनका कार्य मानव-विज्ञानीय दृष्टिकोण पर आधारित न होकर साहित्यिक था जो संरचनात्मक प्रतिमान पर आधारित था। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि लेवीस्ट्रॉस एवं प्रॉप दोनों एक ही प्रकार के संरचनात्मक प्रतिमानों पर आश्रित नहीं थे। प्रॉप रूसी परी-कथाओं की आनुक्रमिक (Sequential) एवं निरंतरित संरचना में

रुचि रखते थे जब कि लेवीस्ट्रॉस ठीक इसके विपरीत अनिरंतरित संरचनात्मक प्रतिमान पर जोर देते थे। लेवीस्ट्रॉस वस्तुतः धर्मगाथाओं की आनुक्रमिक संरचना से सम्पूर्ण रूप से परिचित थे। वे इसे विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं देते थे। लेवीस्ट्रॉस का लक्ष्य महान् भाषा विज्ञानी चोमस्की (Chomski) की गहन संरचना (deep Structure) की खोज के समानान्तर माना जा सकता है। अपने एक महत्वपूर्ण लेख "दी स्ट्रक्चरल स्टडी ऑफ मिथ" में लेवी स्ट्रॉस ने लिखा है "The Myth will be treated as would be an orchestra score perversely presented as a unilinear series and where our task is to re-establish the correct disposition."[3]

प्रसिद्ध लोक वार्ताकार एलेन डन्डेस (Alan Dundes) ने इस सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रगट करते हुए लिखा है कि मेरे विचार से लेवीस्ट्रॉस ने धर्मगाथाओं के संरचना का, कि वह किस प्रकार वर्णित किया गया है, विश्लेषण नहीं किया है बल्कि उन्होंने धर्मगाथाओं में विश्व को किस भाँति वर्णित किया गया है उसे विश्लेषित करने का प्रयास किया है। यह पूर्ण रूप से वैध साहसिक बौद्धिक कार्य कहा जा सकता है। इनका यह कार्य प्रॉप (Propp) के कार्यों से अलग था। (Elan Dundes (ed) Essay in Folkloristics, 1978. P. 190)। यहाँ यह भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि धर्मगाथाओं का यद्यपि लेवीस्ट्रॉस ने काफी विश्लेषण किया है, लेकिन वे वास्तव में लोक वार्ताकार नहीं थे और न अन्यान्य मानव-वैज्ञानिकों जैसे विद्वान थे जिन्होंने अपनी शोध की सीमा धर्मगाथाओं के विश्लेषण पर निर्धारित की हो। लेकिन यह संदेह नहीं किया जा सकता कि उन्होंने संरचना के प्रतिमान पर जिस दर्शन (Philosophy) का सूत्रपात किया वह बौद्धिक जगत के लिये एक क्रांतिकारी कदम था। चाहे जो कुछ भी हो कोई लेवीस्ट्रॉस के प्रतिमानों को मान कर चले तथा कोई प्रॉप की विधियों का कायल हो, लेकिन इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि इन दोनों ज्ञानियों ने संरचना के प्रतिमानों को प्रतिपादित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

लोकवार्ता के संरचनात्मक अध्ययन में विरोधाभासी घटनाओं का भी अपना अलग महत्व है। इस प्रकार विरोधाभासी घटनाओं के सैकड़ों उदाहरण लोकवार्ता की सामग्रियों में उपलब्ध होते हैं। अलिक (Olirk, Axel, 1975)[4] ने लिखा है विरोधाभासी घटनाओं के सम्मिलन से महाकाव्य की रचना होती है। नायक/खलनायक एवं प्रवंचक/सीधा-सादा व्यक्ति आदि व्यक्तिगत चरित्र के उदाहरण माने जा सकते हैं। जिस कथा में एक नायक होगा उसके साथ ही साथ खलनायक की भूमिका आ जाती है। एक व्यक्ति धूर्त है तो दूसरा सीधा-सादा है। इस प्रकार विरोधी प्रकृति के चरित्रों के संयोजन से महाकाव्यों की रचना में सहायता मिलती है। किसी-किसी कथा में एक ही व्यक्ति में दो विरोधाभासी प्रकृति के चरित्रों के संयोजन से महाकाव्यों की रचना में सहायता मिलती है। किसी-किसी कथा में एक ही व्यक्ति में दो विरोधाभासी गुण वर्तमान रहते हैं। यथा एक तरफ सम्पूर्ण मानव/दूसरी तरफ सम्पूर्ण पशु। कोई मानव कभी सम्पूर्ण पशु के रूप में अवतरित होता है। इस प्रकार की घटनाओं की हमारी धर्मगाथाओं में कमी नहीं है। विश्व की लोकवार्ता में भी ऐसे हजारों उदाहरण खोजने को

मिल जायेंगे। इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि विरोधाभासी चरित्र के सम्मिलन एवं संयोजन के कारण संरचनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। विरोधाभास के और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं–यथा जीवन/मृत्यु, अच्छा/बुरा, सत्य/असत्य, प्रेम/घृणा, निर्दोष/दोषी, स्त्री/पुरुष, मानव/देवता, बृहत/लघु, शिशु/वयस्क इत्यादि। तनाव की न्यूनता से आनन्द की प्राप्ति हो सकती है तो यह कहा जा सकता है कि लोकवार्ता व्यक्तियों के तनाव को विरोधाभासी चरित्रों को दिखा कर कम कर देती है इसलिये उनके लिये लोकवार्ता आनन्ददायक हो जाती है। लोक कथाओं में विरोधाभासी या असंभव घटनायें रहती हैं यथा 'चलनी में पानी भर कर लाना' इस प्रकार की समस्याओं को कथा की नायिका अथवा नायक सहज ही में हल कर देता है। विरोधाभासी संरचना के द्वारा लोकवार्ता के विभिन्न क्रियात्मक प्रकरण को समझने में सहायता मिलती है। नायक को बाघिन का दूध लाने के लिये कहा जाय तब कथा के श्रोतागण तनाव से भर जायेंगे। उनके मन में यह भावना जगेगी कि उनका नायक अब यह असंभव कार्य कैसे करेगा ? लेकिन लोकवार्ता उनके इस भय एवं तनाव के लिये कोई-न-कोई उपाय खोज ही निकालेगी। कोई अमानवीय शक्ति आकर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उनकी सहायता कर देगी और वे अपने कार्य में सफल हो जायेंगे। साथ ही साथ श्रोताओं को मानसिक तनाव का भी अंत हो जायेगा। इस प्रकार की विरोधाभासी घटनाओं से लोकवार्ता का साहित्य भरा पड़ा है। दो विपरीत बातों के परिवर्तन से उससे सम्बन्धित क्रियाओं का पता चलता है। अंत्येष्टि से अर्थ निकलता है कि जीवन मृत्यु में परिवर्तित हुआ है। विवाहोत्सव से अर्थ अविवाहित से विवाहित होने की प्रक्रिया से है। इसके साथ दो विपरीत परिवारों (यथा दुल्हा एवं दुल्हन) का सम्मिलन होता है। बच्चा जन्म देने का अर्थ होता है किसी जोड़े को माता-पिता का स्थान प्राप्त होना। इस प्रकार जीवन की विकट समस्याओं एवं परिवर्तनों एवं विरोधी प्रवृत्तियों के अध्ययन से उस संस्कृति की संरचना का सहज ही आभास हो सकता है। उसको विश्लेषित करने के लिये जो बातें कही जायेंगी वही संरचनात्मक विश्लेषण के प्रमुख अंग होंगे। संरचनात्मक विश्लेषण स्वयं किसी अंत का द्योतक नहीं है अपितु यह अंत तक पहुंचने का साधन है जिससे किसी विशेष समाज के व्यक्तियों की प्रकृति को समझा जा सकता है। संरचनात्मक विश्लेषण के कुछ ऐसे उपादान देखने को मिलते हैं जिनमें सार्वभौमिकता रहती है तथा कुछ उपादान ऐसे भी हैं जिनमें सार्वभौमिकता नहीं रहती है। संरचनात्मक विश्लेषण वस्तुपरक (Objective) एवं उसकी व्याख्या व विश्लेषण आत्मपरक (Subjective) होता है। संरचनात्मक विश्लेषण का महत्व बिना व्याख्या के नहीं हो सकता। इसके अभाव में वह तुच्छ एवं निर्जीव होता है। इसलिये संरचनात्मक विश्लेषण के लिये व्याख्या का विशेष महत्व है। हम लोकवार्ता का जितना संरचनात्मक विश्लेषण करेंगे उतना ही अधिक लोकवार्ता एवं लोक-मानस की गहराई में प्रवेश करेंगे तथा उसके मर्म को समझने में सफल होंगे। लोकवार्ता की सामग्री का संग्रह एवं उनका वर्गीकरण ही पर्याप्त नहीं है। संरचनात्मक विश्लेषण भी बिना व्याख्या (interpretation) के पर्याप्त नहीं है। प्रायः ऐसा सुना जाता है कि लोकवार्ता संस्कृति का दर्पण है। यह कहना ही पर्याप्त नहीं है

कि लोकवार्ता के माध्यम से किसी संस्कृति का रूप स्पष्ट होता है बल्कि लोकवार्ताकार को यह भी देखना है कि वास्तव में लोकवार्ता से क्या झलकता है ? ऐसा कहा जा सकता है कि संरचनात्मक विश्लेषण के द्वारा ही लोकवार्ता में स्पष्ट धारणाओं के दिग्दर्शन किये जा सकते हैं। उन धारणाओं को पाने के लिये उसके संरूपों में गहराई के साथ प्रवेश करना पड़ेगा। अगर लोकवार्ता के माध्यम से किसी संस्कृति के प्रतिमानों को उजागर करना है तो लोकवार्ता के अंगों (Genre) का संरचनात्मक अध्ययन करना पड़ेगा तथा उनकी व्याख्या प्रस्तुत करनी पड़ेगी। संरचनात्मक विश्लेषण लोकवार्ता के क्षेत्र में वह उपयोगी रीति-विधान है जिसके माध्यम से लोकवार्ता की सामग्रियों का तुलनात्मक एवं संरचनात्मक व्याख्याओं द्वारा समाज के एक स्पष्ट रूप का अध्ययन किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. Dundes, Alan 1975 On the Structure of Proverb-Proverbium 25
2. Levi-Strauss 1969 The Ram and the Cooked, New York
3. Levi-Strauss 1956 Study of Myth-Journal of American Folklore
4. Olirk, Axel 1965 Epic Laws of Folk-narrative-Alan Dundes (ed) The Study of Folklore Engiewoodchiffs.

——०——

फिल्मों का प्रभाव और लोक शिक्षा में उसकी भूमिका

रघुराज गुप्त

सिनेमा या फिल्म, जिसे गाँव वाला कभी बाइसकोप कहता था, आधुनिक विज्ञान और समकालीन औद्योगिक-व्यापारिक समाज में जनसाधारण के मनोरंजन और दिल बहलाव का सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावी साधन बन गया है। जनसाधारण एवं समाज का शायद ही ऐसा कोई वर्ग हो जो सिनेमा के खिचाव और प्रभाव से बच पाया हो। आधुनिक मनोरंजन विधा सिनेमा अधिकाधिक लोकप्रिय हो रही है; पारंपरिक लोक मनोरंजन विधाओं का ह्रास हो रहा है, उनमें लोगों की रुचि घट रही है।

बीसवीं सदी के प्रथम दशक में सिनेमा भारत में आया। पहले मूक फिल्म के रूप में, और लगभग १९३५ ई० से टाकी या सवाक सिनेमा की शक्ल में। शीघ्र ही पर्दे पर चलते-फिरते, बोलते-गाते सजीव चल-चित्र का करिश्मा जनता के कौतूहल, और ताज्जुब, तफरीह और तालीम का साधन बना। फिल्म के आगमन से पहले एक समृद्ध संस्कृति और परंपरा का देश होने के नाते भारत में लोक रंगमंच, कथा कीर्तन, नौटंकी, यात्रा, कत्थक, मुजरा, मुशायरा ही जन मनोरंजन के मुख्य साधन थे। पर धीरे-धीरे सिनेमा के सम्मोहन ने अन्य उन्नत और पिछड़े सभी देशों की भाँति भारतीय जनता पर भी अपना जादू कर दिया है। और आज कम से कम शहर का गरीब से गरीब झोपड़ी-झुग्गी वाला, रिक्शा-तांगा चालक, पीर-बावर्ची-भिश्ती खर, महरी-महरा, घरेलू टहलुए, छात्र-छात्राएं, विश्वविद्यालय के सम्मानित प्राध्यापक, वकील,डॉक्टर, राजनीतिज्ञ और सामाजिक सेवक, गरीब-अमीर, शहरी और गांव वाले सभी तो फिल्मों पर फिदा हैं। दो से दस रुपये रोज की मजूरी करने वाला, जो उसे कई बार नहीं भी मिलती, अपना पेट काटकर, जब कभी मौका मिले, छात्र भी अपनी पढ़ाई छोड़कर, चाहे उसे अपना पांच-सात रुपये का सारा जेब खर्च ही क्यों न स्वाहा करना पड़े, जैसे-तैसे सिनेमा गृह में घुस कर, वहां अपने प्रिय हीरो नायक नायिकाओं को देख सुन अपने को धन्य मानता है। सिनेमा के प्रति आधुनिक भारतीय मानव, कम से कम उसके शहरियों की भावना, श्रद्धा और आस्था किसी भी देव मंदिर और उसके देवताओं से कम नहीं है, ज्यादा भले ही हो। शिक्षित अशिक्षित, निर्धन और पैसे वाले, फटेहाल और सफेद-पोशों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है जो 'सिनेमा पंथ'

रघुराज गुप्त, मानवशास्त्री, प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट, लखनऊ।

के अनुयायी हैं। बिना धर्म, जाति, नस्ल, शिक्षा, आय के भेदभाव के, सभी सिनेमा स्नेही हैं। इस प्रकार सिनेमा ने एक जाति प्रधान, ऊंच-नीच, पीड़ित समाज के सभी वर्गों को एक पटरी और एक पंगत में बैठा दिया है।

आज से पचास साल पहले जो आकर्षण मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरजा का था, लगता है वह स्थान सिनेमा ने ले लिया है। सिने जगत के सितारे भोले भाले युवा वर्ग में किसी भी माने में राम और कृष्ण, सीता और राधा से कम महत्व नहीं रखते। पर ऐसा नहीं है कि सिनेमा दर्शक-धावक नास्तिक हो गए हों, या सिनेमा नास्तिकता बढ़ाता है। 'जय संतोषी मां' की अपूर्व सफलता तथा टी०एन० रामाराव के पौराणिक चल-चित्रों तथा अन्यान्य धार्मिक फिल्मों (किशोर साहू और निरूपा राय की) ने देवी देवताओं में, धर्म में उसके चमत्कारिक पहलू में अंधश्रद्धा बढ़ाई ही है, घटाई नहीं। वस्तुतः भारतीय फिल्मों ने धर्म और सेक्स का शोषण कर जनमानस में अपनी लोकप्रियता और सफलता सुनिश्चित की है। धर्म और देवी देवताओं, शास्त्रों और कुरान-बाइबिल में आस्था बढ़ाई ही है। देखने में तो यह आ रहा है कि जहां एक ओर लौकिक-भौतिक सिनेमा का नशा बढ़ा है,वहीं साथ-साथ धर्म-भजन-कीर्तन पूजा-पाठ और हनुमान जी की मनौती का चलन भी। कोई भी आते-जाते देख सकता है कि किस तरह एक श्रद्धालु हनुमान भक्त जहां हर मंगलवार को मंदिर में मत्था टेकता है, वहीं उतनी ही आस्था से प्रत्येक रविवार या अन्य किसी भी दिन सिनेमा हाल में जा अपने प्रिय हीरो हीरोइन का दर्शन लाभ करता है। इस प्रकार धर्म परलोक और सिनेमा इहलोक की नैतिकता की नैया को पार लगाने का साधन बन गया है। धर्म और सिनेमा का यह समन्वय और संगम भी आज की शहरी भारतीय सभ्यता का एक रोचक पक्ष है। जहां एक ओर ध्वनि विस्तारक यंत्र अपने पूरे जोर से अखंड रामायण, गुरु वाणी या सीरतुलनवी के जलसे या मस्जिद की नमाज़ का प्रसारण कर मुहल्ले को सोने नहीं देते, उतने ही या उससे भी ज्यादा जोश खरोश से पंचम स्वर में शादी-ब्याहों पर सिनेमा संगीत भक्ति संगीत को धर पछाड़ता है।

आधुनिक उच्च शिक्षित सेक्युलर प्रगतिशील युवक और युवतियां घर-बाहर, जब कभी आपस में मिलते हैं उनकी चर्चा का प्रिय विषय अब मौसम न होकर, फिल्में और उनके महान हीरो होते हैं या फिर भाग्य रेखाओं या जन्म कुंडली के बारह गृहों के चमत्कार, जिनकी निर्भ्रांतता पर उनका प्रायः समान सा विश्वास है। इस तरह लौकिक-पारलौकिक, धर्म और काम (सेक्स), अर्थ (धन) और मोक्ष (स्वर्ग) का अद्‌भुत सम्मिश्रण, घालमेल, खिचड़ी या चाइनीज चाउमीन का अच्छा खासा समन्वय किया है हमारी नई पीढ़ी ने। परंतु इसमें भी पुरानी पीढ़ी बहुत पीछे नहीं रही है। शहरी शिक्षित, राजसेवा निवृत, बूढ्ढ़े-बुढ़िया, भले ही हर हफ्ते सिनेमा द्वार न जाते हों, पर यदि वे मध्यम वर्ग के भद्रलोक हैं, वे अपनी होनहार संतान के साथ हर हिंदी फिल्म और फिल्मी संगीत और नाचगान, छोरा-छोरी की इश्किया उछलकूद, जिसमें वे कभी गलबहियां भर, कभी पेड़ की डाल पर चढ़, कभी नाना प्रकार की योगासन मुद्राओं में मटक-मटक, तरह-तरह से हँसते-रोते, नाचते-गाते हैं, घर के टी०वी० पर ही अपने सुपुत्र-सुपुत्रियों,

पुत्र वधुओं, नाते-नातियों के साथ साप्ताहिक फिल्म व 'चित्रहार' के कार्यक्रम को देखना नहीं भूलते। और फिर वे इस सिनेमा संगीत लहरी में ऐसे खो जाते हैं, जैसे साक्षात साकार भगवान विष्णु के दर्शन पा गये हों। ऐसा जबर्दस्त है सिनेमा का सम्मोहन। भले ही विनोबा भावे जैसे सनकी संत सिनेमा को 'सिन-मां'—पाप की मां कहें। पर यही आधुनिक मम्मी अब जनता जनार्दन और देश के कर्णधारों और भावी भाग्य विधाताओं को पुरातन, पूज्य मां से अधिक प्यारी है।

इसलिए चाहे कुछ पोंगे परंपरावादी भारतीय फिल्मों और उनके बढ़ते प्रभाव से व्याकुल-विचलित और चिंतित क्यों न हों, आधुनिक भारत में सिनेमा के स्वर्णिम स्वप्न को संजोने से किसी को नहीं रोका जा सकता। और फिर लोकतंत्र में रोका भी कैसे जा सकता है? क्या फिल्म देखना, बनाना और बेचना, उस पर टीका टिप्पणी करना भारतीय नागरिक के मूलभूत संवैधानिक मानवीय अधिकार नहीं हैं?

सिनेमा की दृश्य-श्रव्य सामग्री में अश्लीलता, राजद्रोह, सांप्रदायिक या जातीय घृणा, अत्यधिक हिंसा और क्रूरता पर नियंत्रण करने के लिए भारत की केंद्रीय सरकार का एक सेंसर बोर्ड है। वह कैसे काम करता है, सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए पास की गई विभिन्न फिल्मों को देखकर इसका सहज अनुमान किया जा सकता है। प्रेम, मारपीट और मुक्केबाजी भारतीय सिनेमा दर्शक के सर्वाधिक प्रिय दृश्य हैं। इन्हीं के दोहन पर भारतीय फिल्म निर्माता, अभिनेता, वितरक व सिनेमा घर के मालिक की सारी कामयाबी मुनहसिर है। फिल्म में जितनी ज्यादा से ज्यादा प्रेमलीला, श्रृंगार रस, चूमा-चाटी, क्रूरता-हिंसा-प्रतिशोध-कत्ल होंगे, उतनी ही वह 'बाक्स आफिस' यानी खिड़की पर टिकट बिक्री में सफल होगी। इसलिए सफल फिल्म निर्माता इसका ध्यान रखता है कि उसकी फिल्म यथासंभव मसालेदार, थोड़ी अश्लील, रंगीन, खून खराबी से भरपूर भी बने और साथ ही सेंसर परीक्षा में भी पार हो जाए। यूं तो सेंसर बोर्ड के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत बने हुए हैं, पर उनका पालन भी प्रायः ऐसे ही होता है जैसे आज विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की परीक्षा प्रणाली और उनके परिणाम, जहां इसका निर्णायक महत्व है कि फिल्म निर्माता या अभिनेता कौन है, उनके सेंसर मंडली के सदस्यों व परीक्षकों से कैसे निजी संबंध हैं।

भारतीय सेंसर सुनिश्चित करता है कि फिल्में राजद्रोह, संघ या राज्य सरकारों के प्रति असंतोष या विद्रोह की भावना पैदा न करें। इसकी रक्षा में वह बहुत सचेष्ट है। इसलिए क्रांतिकारी या विद्यमान राजनीतिक भ्रष्टाचार या दलितों पर हो रहे अत्याचार पर फिल्म बनाना और उसे पास कराना टेढ़ी खीर है। 'किस्सा कुर्सी का' और 'आंधी' फिल्म के अंशों पर विवाद इसके अच्छे उदाहरण हैं। कुछ अपवाद भी हैं, जैसे गोविन्द निहलानी की हाल में बनी, बहुचर्चित, पुरस्कृत फिल्म 'आक्रोश' और 'अर्ध-सत्य', श्याम बेनेगल की 'अंकुर' और बंगाल सरकार के सहयोग से बनी 'बर्गादार' ऐसी फिल्में पास होकर भी भारतीय दर्शक की बाक्स आफिस परीक्षा में प्रायः फेल ही हो जाती हैं। उन्हें देखने वाले नहीं मिलते।

कहा जा सकता है कि भारतीय चित्र निर्माता मूलतः कलाकार न होकर, चट पैसे वाला बनने का स्वप्नद्रष्टा, पूँजीवादी प्रेरणा ग्रसित, कांचन-लोभी व्यापारी हैं। वे भी क्या करें। पारंपरिक लोक मनोरंजन के साधनों की भांति सिनेमा की आधुनिक मनोरंजन विधा पूंजी-सघन, (कैपिटल इंटेसिव) बड़े पैमाने की आर्थिक उत्पादन क्रिया है। पुरातन रंगमंच, रामलीला, नौटंकी आदि को श्रम-सघन मनोरंजन वस्तु छोटे पैमाने का लघु उद्योग कहा जा सकता है। आधुनिकता और उद्योगीकरण की दौड़ में श्रम-सघन लघु मनोरंजन नहीं टिक सकते। उनकी भी वही दुर्दशा होती है जो आज हमारे ग्रामीण हस्तशिल्पकारों या शहरी दस्तकारों की हो रही है, जिनकी दैनिक औसत आय आज एक मिट्टी खोदने वाले अदक्ष मजदूर से भी कम है।

फिल्म उद्योग की मनोरंजन सामग्री ने परंपरागत शिल्प और घरानों के रियाज़ पर आधारित लोक रंजन की सामग्री को, यदि नष्ट नहीं किया तो असहाय, निकृष्ट और दीनहीन तो बना ही दिया है। जनता की रुचि-सुरुचि-कुरुचि ही मनोरंजन, वस्तुओं, सेवाओं की मांग के बाजार का नियंत्रण करती है। फिल्मों की वह भी विशेष प्रकार की फिल्मों की मांग है, तैयार बाजार है, बेचैन ग्राहक हैं, जो सौ रुपये का टिकट खरीदकर भी 'ब्लू-फिल्मों' की टक्कर के रंगीन, रति-चित्र देखने को बेताब हैं। उसके सामने शुभलक्ष्मी का भक्ति संगीत, रवीन्द्र संगीत, क्या ऐसी-तैसी कराएगा ?

फिल्मों की अनिवार्यता

सिनेमा के दिनों-दिन बढ़ते प्रभाव और भारतीय परम्परा पर उसके पतित प्रभाव पर आंसू बहा कर या बम्बई फिल्म निर्माताओं और फिल्मी प्रभुओं या 'मुगलों' की धन-लिप्सा को उनकी कुरुचि या क्रूरता-प्रियता को दोष देकर आधुनिक भारत में सिनेमा के सौंदर्यशास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र एवं मानवशास्त्र और उसके संघात को नहीं समझा जा सकता। सिनेमा कोई दैनिक व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन, संस्कृति के मूल्यों और विश्वदृष्टि से पृथक, स्वायत्त, स्वतंत्र, सामाजिक संस्था नहीं है, वह अन्य आधुनिक सामाजिक संस्थाओं—राजतंत्र, परिवार, धर्म, आर्थिक धन्धे, रोजगार, आय, बचत, विनियोग, उत्पादन प्रणाली, शिक्षा व्यवस्था, जीवनशैली, फैशन, रीतिरिवाज इत्यादि से घनिष्ठतया अन्योन्याश्रित रूप में जुड़ा हुआ है और परस्पर-प्रभावित एवं निर्भर घटना-तथ्य है। अतः उसे इनसे अलग-अलग एकाकी नहीं देखा—समझा जा सकता।

पाश्चात्य देशों, विशेषकर अमरीका में फिल्म मनोरंजन विस्फोट का सर्वाधिक प्रभाव हुआ है और वहां की समसामयिक संस्कृति पर उसके क्या प्रभाव पड़े, या पड़ रहे हैं, इसके अनेक गंभार अध्ययन उपलब्ध हैं। समाजशास्त्र में तो एक ज्ञान शाखा 'फिल्म या सिनेमा का समाजशास्त्र' के नाम से ही फूट निकली है।

सिनेमा के एक अध्येता ने तो अमरीकी बच्चों के जीवन—शिक्षा संस्कारों के बारे में एक

सटीक मुहावरा दिया 'मूवीमेड चिल्ड्रेन' (सिनेमा सृजित संतान) । इस मुहावरे में सिनेमा की अपार शक्ति, उसका अहर्निश प्रभाव स्पष्ट है । पाश्चात्य और पूर्वी देशों के अनेक गंभीर शिक्षा-शास्त्री नई पीढ़ी के व्यक्तित्व पर सिनेमा के इस बढ़ते और निर्णायक प्रभाव से बहुत चिंतित हैं । इसलिए नहीं, कि वे सिनेमा के मनोरंजन माध्यम के विरुद्ध हैं, बल्कि वे उसके व्यापारिक–पूंजीवादी पक्ष से व्यग्र हैं जिसने सिनेमा को बच्चों, युवाओं और नागरिकों के लिए धूम्रपान, सुरापान, हशीश जैसी अस्वास्थ्यकर नशा या लत बना दिया है । जनता के जीवन के मानवीय, कलात्मक, सौंदर्य बोध को पतित और कुंठित कर दिया है । भारत जैसे देशों में, जहाँ शिक्षा स्वयं ही सब स्तरों पर अत्यंत पतित और विकृत अवस्था को प्राप्त हो चुकी है, यह खतरा और भी सच है । विद्यमान शिक्षा प्रणाली, शिक्षक, शिक्षण संस्थाएं, ज्ञानार्जन में विद्यार्थियों की अभिरुचि उत्पन्न करने और उसे पल्लवित–पुष्पित करने में पंगु हो गई है । ऐसी सामाजिक विघटन की स्थिति में भटके छात्रों, बच्चों, युवाओं नागरिकों के लिए सिनेमा ही एकमात्र शिक्षा संस्कार - जीवन मूल्य, सामाजिक आदर्शों का प्रभावी वाहक और शिक्षक बन जाए तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं । संवेदनशील सर्जक कलाकारों द्वारा इस नये माध्यम को सद्‌शिक्षा, संस्कार रचना में प्रयुक्त किया जा सकता था । सिनेमा एक दुधारी और तेज तलवार है जिसका सदुपयोग–दुरुपयोग दोनों ही संभव हैं ।

उन समाजों में जहां साक्षरता का अभाव है जैसे भारत में, जहां अभी भी ७० प्रतिशत जनता निपट निरक्षर है, वहां सिनेमा के व्यवसायिक दुरुपयोग के खतरे और भी बढ़ जाते हैं । पुस्तक, पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने में अक्षम जनसाधारण के लिए सिनेमा ही एकमात्र रोचक शिक्षक मनोरंजन दाता बन जाता है, जिससे वे अधिकांश जीवन दर्शन सीखेंगे । गनीमत यह है कि भारत की ऐसी तीन चौथाई जनता गांवों में है, और बहुत गरीब है । आधी जनता की गरीबी इतनी ज्यादा है कि वे सिनेमा के लिए चार–आठ आने भी खर्च नहीं कर सकते । यह दुर्दांत गरीबी ही उन्हें फिलहाल सिनेमा की चपेट में आने से बचाए हुए है । पर जैसे ही पेट भरने लायक होंगे, वे सिनेमा के सम्मोहन से खिंचे हुए सिनेमागृहों में बैठे नजर आएंगे और फिर उनकी शिक्षा–दीक्षा भी वहीं होगी । कटु यथार्थ से पलायन सिनेमा का सबसे बड़ा सम्मोहन है जिसके द्वारा दुखी अभावग्रस्त कुंठित व्यक्ति कुछ घंटों के लिए मन ही मन में सुखी, अमीर और प्रफुल्लित हो जाता है ।

फिल्म दर्शक : संख्यात्मक एवं गुणात्मक पक्ष

भारत में फिल्मों के प्रभाव, विस्तार के अध्ययन में निम्न आंकड़े सहायक होंगे ।

भारत में फिल्म उद्योग की प्रगति (१९८०)

पूंजी विनियोग (अनुमानित)	७०० करोड़ रु०
फीचर फिल्मों का वार्षिक उत्पादन	७४२
चालू स्टूडियो	६६

सिनेमा गृहों की संख्या	१०,७८२
फिल्म निर्माता संख्या (अनुमानित)	१,०००
फिल्म वितरक	१,०००
फिल्म व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों की संख्या	२,००,०००
फिल्म प्रोसेसिंग लेबोरेटरियां	२६
दस लाख आबादी पर सिनेमा की संख्या	१२.८
फिल्मों के औसत दैनिक दर्शक	९५ लाख
विदेशी फिल्में दिखाने वाले सिनेमा गृहों की संख्या	१००

फिल्म निर्माण की प्रगति

वर्ष	ब्लेक–व्हाइट	रंगीन	कुल
१९७१	२८९	१२८	४१७
१९७६	२६७	२४०	५०७
१९८०	१०७	६३५	७४२
१९८३ (अनुमानित)	१००	७००	८००

फिल्म उत्पादन की दृष्टि से भारत दुनिया का सबसे बड़े फिल्म उत्पादकों में है। यहां साल में लगभग ८०० फीचर फिल्म तैयार हो रही हैं। फिल्म उद्योग में १९८० में लगभग ७०० करोड़ रुपये की पूंजी लगी थी जिसमें से ६४० करोड़ रु० सिनेमा गृहों के निर्माण में खर्च हुये थे। फिल्म उद्योग की कुल वार्षिक आय ५५० करोड़ रुपये तथा फिल्म निर्यात से १६ करोड़ रुपये की आय हुई। फिल्म उद्योग से दो लाख लोगों को रोजगार मिल रहा है और करीब पौने दो लाख लोग सिनेमागृहों में काम कर रहे हैं।

देश में रोजाना ९५ लाख लोग सिनेमा देख रहे हैं। इन्हें देखने वाली जनसंख्या लगभग २० प्रतिशत मानी जा सकती है और ये अधिकांश शहरी हैं। शेष ८० प्रतिशत जनता अभी सिनेमा के प्रभाव से अछूती है। पर जिस रफ्तार से सिनेमा हाल बन और बढ़ रहे हैं, जिसकी वार्षिक वृद्धि दर १० प्रतिशत है जबकि जनसंख्या की लगभग २.४ प्रतिशत, इससे स्पष्ट है कि भारतीय जन समुदाय का अधिकाधिक अंश सिनेमा प्रभाव क्षेत्र में आता जा रहा है।

सिनेमा दर्शकों के धर्म, जाति, भाषा, शहरी-ग्रामीण दर्शक, शिक्षा स्तर, आयु एवं आय वर्ग के वितरण के कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि भारतीय समाज का कौन सा अंग सिनेमा प्रभाव क्षेत्र में पड़ता है। फिर भी यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे सिनेमा दर्शक प्रायः शहरी, किशोर, युवा, स्कूली कालिजी शिक्षा प्राप्त, खाते पीते वर्ग के हैं। निपट निरक्षर गंवार एवं मुफलिस नहीं हैं, क्योंकि जो अपढ़ हैं वे ही बेहद गरीब हैं और उन भूखों से यह आशा करना कि वे साढ़े तीन रुपये की निम्नतम दर का टिकट खरीद कर सिनेमा का आनन्द लेंगे, संभव नहीं है। लेकिन बिल्कुल फटेहाल व्यक्ति

भी जिदंगी में एक दो बार सिनेमा के करिश्में को देखते हैं ; भले ही वह उनके सतत संपर्क, संगत, सहभागिता का अंग न हो ।

मेरा अनुमान है कि भारतीय सिनेमा दर्शकों में सबसे बड़े और स्थाई संरक्षक-गाहक हैं : हाई स्कूल से विश्वविद्यालय के विद्यार्थी और शहर का सम्पन्न प्रोलिटेरियट, औद्योगिक मजदूर और शिक्षित मध्यम उच्च वर्ग । कुछ 'सिनेमा–लती' तो हर किस्म की फिल्में देखते हैं । उन्हें बस कोई भी सिनेमा चाहिए । यह वर्ग स्थाई ग्राहकों का है । कुछ अपनी पसंद का चुनींदा, विशेष प्रकार की फिल्में ही देखते हैं । एक छोटा सा अति उच्च शिक्षित, कलातमक सुरुचि सम्पन्न–'स्नाव' कला प्रेमी फिल्म सोसायटियों द्वारा प्रदर्शित फिल्में, या भारतीय निर्माताओं में सत्यजित रे, ऋत्विं घटक, मणिकौल, श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी द्वारा बनाई गई प्रकार की सूक्ष्म संवेदनशील मानवीय या सामाजिक प्रश्नों से जुड़ी फिल्में देखते हैं । ये फिल्में व्यवसायिक दृष्टि से प्रायः सफल नहीं होतीं । एटिनबरों की गांधी इसका अपवाद है । इस अपवाद के भी अपने विशिष्ट कारण हैं ।

स्वतंत्रता से पूर्व बीस वर्षों १९३७ से १९४७ तक हिमांशु राय, प्रमथेश बरुआ, वी० शांताराम जैसे सर्जनात्मक सिने शिल्पी भारतीय फिल्मों को एक लोकप्रिय, आकर्षक, प्रभावशाली जन मनोरंजन और जन शिक्षण की विधा के रूप में प्रतिष्ठापित कर चुके थे । कानन बाला, दुर्गा खोटे, अशोक कुमार, सोहराब मोदी और पृथ्वीराज कपूर जैसे अभिनेता अभिनेत्रियां, सहगल, पंकज मल्लिक, नूरजहां जैसे फिलमी गायक तब तक हिन्दी हृदय में स्थान पा चुके थे । मनोरंजन, मानवीय, सामाजिक, राजनैतिक चेतना जगाने में भारतीय फिल्म अपने शैशवकाल में ही जनमानस में अपनी जगह बना चुकी था । कलकत्ते का न्यू थियेटर्स, पूना का प्रभात स्टूडियो इस फिलमी फसल के उर्वर क्षेत्र थे । तब तक फिल्म उत्पादन न तो उद्योग ही बन सका था और न ही निर्मम व्यापार ।

सामाजिक दृष्टि से जागरूक सर्जक शिल्पियों और साहित्यकारों को भी फिल्म के शक्तिशाली प्रभावी माध्यम का अहसास हुआ और इसी के तहत पंडित सुदर्शन, प्रेमचन्द, अमृत लाल नागर जैसे साहित्यक फिल्म कथा–संवाद लेखन की ओर आकृष्ट हुए । हालांकि वे शीघ्र ही उसकी व्यवसायिक मनोवृत्ति से बिदक कर वापिस लौट आये । उस समय की काली - सफेद फिल्में तकनीकी दृष्टि से आज बहुत ही बचकानी लगती हैं । फिर भी लोगों ने उसे खुले दिल से स्वीकारा और सराहा और सिनेमा सर्जकों को देश ने पूरे मान से अपने कंधों पर उठा लिया । उस समय की 'अछूत कन्या', 'दुनिया ना माने', 'पुकार', 'रामराज्य', 'पड़ोसी' आदि फिल्में चाव से देखी गयीं ।

१९४७ में आजादी आई और काले स्वदेशी, स्वशासकों के नेतृत्व में जहां स्वतंत्रता की पहली किरण ने स्वाधीन भारत के स्वर्णिम प्रभात और पुनर्निर्माण का स्वर्णिम स्वप्न जगाया, वहीं सांप्रदायिक हिंसा और नफरत, जो स्वयं स्वतंत्रता के जनक की ही जान ले बैठी, ने

एक नई मिश्रित आशा - निराशा और भय मिश्रित भविष्य की ओर संकेत किया। पंडित नेहरू के नेतृत्व में जहां नियोजन, निर्माण, समाजवादी प्रकार के समाज, द्रुत औद्योगीकरण, विशालकाय बांधों, बिजलीघरों, इस्पात के कारखानों की नींव रखी गई, वहीं मिथ्याचार, कुनबापरस्ती, नौकरशाही, भ्रष्टाचार, पैसा बटोरने, सत्ता हथियाने की दुर्दम दौड़ शुरू हुई। धीरे–धीरे परंपरागत, मन्थर गति से चलने वाले, लोक रीति और लोक नीति और सदाचार पर चलने वाले समाज के साथ-साथ समाज को आधुनिकता, विकास, प्रगति, प्रतियोगी व्यवसायिकता की तेज रफ्तार से चलने वाली पुकार पर, फिल्मी शिल्प को भी बैलगाड़ी से खींच कर चलती रेलगाड़ी में धकेल दिया गया। ऐसे में बेचारे भोले–भाले गंवई के फिलमकार का लड़खड़ाना, हैरत में पड़ना, नये परिवर्तित परिवेश में अपना तालमेल बैठाना मुश्किल ही नहीं, बहुतों के लिए मुसीबत भी बन गया। भारत के नये निर्माता कर्णधार, अभिजात वर्ग ने मध्य कालीन सामंतों के भी कान काट लिए। वेचारा फिलम उद्योग भी उसी रौ में बह निकला।

मुनाफा और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा, फिलम निर्माण का मूलमंत्र बना। हिन्दी वाले अपनी भाषाई बहुसंख्या के बल पर इस दौड़ में सबसे आगे निकल गये। हिंदी फिलम उद्योग की बम्बई नगरी में नींव ही नहीं पड़ी, वह धीरे धीरे उसका गढ़ बन गया। कलकत्ता और पुणे के क्षेत्रीय लघु स्टूडियो शीघ्र लुप्त हो गये। हालीवुड की व्यवसायिकता फिलम निर्माण पर छा गई और अब वह आधुनिक पूंजीवादी फिलम उद्योग बनने लगा जिसमें पूंजीवादी अभिप्रेरणा, उत्पादन, वितरण, उपभोग के सिद्धांत लागू होने लगे।

फिलमों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ी, उनका मुनाफा बढ़ा, नित नये वैज्ञानिक आविष्कारों ने छायांकन, रिकार्डिंग, ध्वनि विन्यास, चमक दमक, पर्दे के आकार और रंगीनी को बढ़ाया। काली–सफेद फिलमों को जल्द ही मनोहारी रंग बिरंगी फिलमों ने पीछे धकेल दिया। जो अभिनेता और पटकथा लेखक कभी पचास–सौ–दो सौ रुपल्ली मासिक वेतन पाकर संतुष्ट थे, अब हजारों, लाखों और अंततोगत्वा करोड़ों के करीब खेलने लगे। स्वतंत्रता प्राप्ति-पूर्व लघु फिलम हस्त-शिल्प का स्थान बड़े पैमाने के फिल्मी कारखानों, उनके मालिकों और अदाकारों ने ले लिया। भोले शिल्पी सिर धुनकर किनारे उतर गए।

सत्यजित रे का प्रवेश

१९४७–५२ के पांच साल भारतीय कलाकारों के लिए आशा-निराशा, उहापोह, 'क्या करें ?', 'कैसे करें' ? 'कौन सुनेगा ?' में गुजर गये। पर सर्जक का मन चुप निश्चल नहीं बैठ पाता। कालिदास के शब्दों में शिल्पियों पर लागू 'तद् गुणं कर्ण आगत्य चापलाय प्रणोदित' अभिप्रेरणा के अनुसार शांतिनिकेतन में पढ़े, रवीन्द्र नाथ ठाकुर जैसे कवि-मनीषी के सानिध्य सम्पन्न, किन्तु दैव दुर्विपाक से एक व्यापारी विज्ञापन संख्या में तूलिका चला रहे सत्यजित रे विभूति भूषण बंद्योपाध्याय की अमर रचना 'पथेर पांचाली' से 'चापलाय प्रणोदित' होकर इस ग्राम कथा को पर्दे पर उतारने, दिखाने के लिए ललचाए। स्वल्प साधनों से इस अज्ञात 'रे' ने

पथेर पांचाली के प्रथम खंड का निर्माण शुरू किया। पर बाच में ही अटक गए। तत्कालीन मुख्यमंत्री विधान चन्द्र राय की २५ हजार रुपये की आज हास्यापद लगने वाली राशि से पथेर पांचाली पूर्ण हुई। प्रदर्शित हुई, सम्मानित हुई, देश विदेश में उसकी प्रशस्ति हुई और सत्यजित अंतर्राष्ट्रीय फिल्मी जगत में महानतम सृजनात्मक फिल्म निर्देशक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उसके बाद उन्होंने 'तीन कन्या', 'अपूर संसार', 'परस पाथर', 'जलसाघर', 'महानगर', 'कापुरुष', हिंदी में प्रेमचंद की 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सद्गति' अनेकानेक मार्मिक स्थाई मूल्य की फिल्मों की रचना की। विख्यात फिल्म समीक्षक मेरी सेतों ने सत्यजित रे का जीवन चरित्र लिखा।

रे को भारत में व्यवसायिक सफलता तो न मिली, न ही उनकी एक भी फिल्म बंगाल तक में बाक्स आफिस हिट हुई, पर वे पिटी नहीं। अंतर्राष्ट्रीय सम्मान और प्रदर्शन ने उन्हें जीवित रखा वे जमे रहे और जमे हैं।

रे की इस आशातीत सफलता ने और वैसे भी कई प्रतिभा-सम्पन्न बंगाली व अन्य भाषी सृजनात्मक फिल्मकारों को साहस दिया, स्फूर्ति दी। हिंदी में भी, देर से सही, सातवें और आठवें दशक में, लगभग बीस वर्ष के अंतराल से, लघु कलात्मक फिल्मों का जन्म हुआ जिन्हें पहले 'समांतर सिनेमा' और हाल में मध्यम भूमि (मिडिल–ग्राउंड) सिनेमा का नाम दिया गया।

श्याम बेनेगल के 'अंकुर', 'निशांत', 'जनून' ने खासी कामयाबी और नाम पाया। शबाना आजमी, स्मिता पाटिल, नसीरउद्दीन शाह, ओमपुरी जैसे गैर–फिल्मी, गैर–व्यवासायिक रंगकर्मी कलाकार हिंदी फिल्म में प्रतिष्ठित हुए। स्वस्थ परंपरा में गोविन्द निहलानी का 'आक्रोश' राजनीतिज्ञों और न्याय व्यवस्था और १९८३ की नई फिल्म 'अर्ध-सत्य' में वर्तमान राजनीतिज्ञों और पुलिस प्रणाली पर निर्मम प्रहार कर यह दिखा दिया कि किस प्रकार फिल्म अन्याय के विरुद्ध असंतोष, विद्रोह की भावना जगाकर जनसाधारण के अंतरात्मा को उत्तेजित कर सकती है। सिनेमा मात्र मनोरंजन न होकर, सामाजिक चेतना, सुधार और क्रांति का सबल हथियार भी बन सकता है।

काले मुनाफे और व्यवसायिकता के काले धुंए से प्रदूषित, सितारों के काले धन की धूमिल जगमगाहट में, सत्यजित रे, श्याम बेनेगल और गोविन्द निहलानी जैसे फिल्म निर्माताओं ने सांस्कृतिक सुरुचि के सृजन, सामाजिक दायित्व का अहसास कराने, समाज को बदलने, संवारने, अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए आधुनिक समाज की सर्वाधिक शक्तिशाली शिल्प विधा को रचनात्मक मोड़ दिया है। इससे मन में आशा जगती है कि भारतीय फिल्म और उसमें भी अग्रणी हिंदी फिल्म का भविष्य उतना अंधकारमय नहीं, जितना कि पांच साल पहले लगता था।

अर्ध–शिक्षित, सुरुचिशून्य भारतीय फिल्म दर्शक भी लगता है बम्बइया फिल्मों के सस्ते हथकंडों, उसके नायक सितारों के कालेधन, कलुषित मन, वानरसम उलजलूल इश्किया बीमारी

और बेरहम मारकाट, खून–कत्ल से भारतीय दर्शक आजिज आ गया है। वह, या उसका एक वर्ग अब चाहता है, कुछ शांत–सौम्य–स्वस्थ–प्रेरणादायक मनोरंजन–शिक्षा मार्गदर्शन फिल्म के माध्यम से। एटिनबरो की 'गांधी' फिल्म की अंतर्राष्ट्रीय और स्थानीय सफलता ने इसकी आशा जगायी है। उदीयमान, व्यक्ति देश और समाज की समस्याओं से विचलित संवेदनशील फिल्म निर्माता ही इस चुनौती को स्वीकार कर फिल्म शक्ति का देश के पुनर्निर्माण में उपयोग कर सकते हैं।

१९८३ की स्थिति

हिंदी फिल्म की विषय वस्तु और उसके आज के दर्शकों की प्रकृति को समझने के लिए १९८३ की सफल और असफल अद्यतन फिल्मों का सामान्य विश्लेषण भी उपयोगी होगा।

अधिकांश फिल्मकारों की यह मूलबद्ध धारणा है कि पैसे से प्रेम खरीदा जा सकता है। इसी विश्वास पर करोड़ों रुपये स्वाहा कर संसार की निर्धनतम जनता को गुदगुदाने के लिए रंगीन और भव्य फिल्में बनाई जाती हैं। यह बात दीगर है कि उनमें से दो चार ही प्रेम मंदिर के गर्भगृह तक पहुंच पाती हैं और अधिकांश बाहर से ही धकिया दी जाती हैं।

हिंदी में हर हफ्ते औसतन दो फिल्में बनती हैं और बाकी अन्य भारतीय भाषाओं में। १९८३ में लगभग ८०० फिल्में बनाई गईं। उनकी गुणवत्ता के विषय में सामान्यतः, उल्लेखनीय कुछ कहने को नहीं है। समाज व्यवस्था की आलोचना की दृष्टि से धुर दक्षिण में, विशेषकर मलयालम भाषा में कुछ विद्रोही क्रांतिकारी किस्म की फिल्में बनीं और बन रही हैं।

हिंदी वाले सफल अमरीकी अंग्रेजी फिल्मों की नकल उतारने में भी माहिर है। उदाहरण के लिए 'एंडलेस लव' और 'केप कियर' को लेकर तामिल और तेलगु में गर्मागर्म फिल्म बनीं।

उधर हाल के अवैध वीडियो लाइब्रेरी की दुकानों, जहाँ मनचाही, हर तरह की सात्विक, राजसिक एवं तामसिक फिल्में देखने को और घर के लिए, किराए पर मिल जाती हैं, ने सिनेमागृहों में दर्शकों की उपस्थिति को प्रभावित किया है। ऐसा अनुमान है कि बम्बई और दिल्ली जैसे शहरों में इस कारण सिनेमागृहों की उपस्थिति लगभग १० प्रतिशत घट गई है।

१९८३ का वर्ष इसलिए भी महत्वपूर्ण है और उसे हिंदी फिल्म का मोड़ भी कहा जा सकता है कि उसमें पहली बार छोटे बजट की लोकप्रिय साफ सुथरी फिल्में सफल हुईं, जिनमें संगीत और परिचित अभिनेता और अभिनेत्रियाँ काम करती हैं और जिनकी कहानी काफी गठी हुई है, जिन्हें 'मध्य भूमि' (मिडिल ग्राउंड) सिनेमा का नाम दिया गया है। इनमें कलात्मकता के साथ व्यवसायिक सफलता को भी ध्यान में रखा गया है। उधर कोरी कलात्मकता का परित्याग कर नेशनल फिल्म डेवलेपमेंट कारपोरेशन जैसी राज्याश्रित संस्था भी अब व्यवसायिक पक्ष पर बल दे रही है और कुछ फिल्म इंस्टीट्यूट स्नातकों को भी सहायता दे रही है। किंतु फार्मूला फिल्म के विरुद्ध अब भारतीय दर्शकों में स्पष्ट असंतोष है।

१९८३ की सर्वाधिक सफल फिल्में थी : टी रामाराव का 'अंधा कानून' जिसका मूल-मंत्र था 'कानून गधा है' । इसमें दर्शक विद्यमान कानून की खिल्ली उड़ाते हुए जो कुछ कहा गया, उससे अभिभूत हुए । सावन कुमार की 'सौतें', जिसमें नायक अपनी पत्नी को प्यार करने के साथ-साथ एक परनारी के साथ प्लेटोनिक प्यार करता है, भी अपने प्रतिगामी प्रेम त्रिकोण के बावजूद बहुत सफल हुई ।

नये चेहरों से बनी 'बेताब' फिल्म भी अच्छे अभिनय और अच्छी दंतकथा और व्यंग के कारण काफी लोकप्रिय हुई । शेखर कपूर की 'मासूम' बड़ी व्यापारिक सफलता बनी । सर्वाधिक आश्चर्यजनक घटना थी, गोविन्द निहलानी की पुलिस भ्रष्टाचार का खुलासा करने वाली फिल्म 'अर्ध सत्य' की असाधारण सफलता ।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि हिंदी फिल्म दर्शक की रुचि अचानक परिष्कृत हो गई है, क्योंकि उसने 'बेआबरू' जैसी घटिया फिल्मों को भी अपना समर्थन दिया, जो एक अमरीकी खौफनाक फिल्म 'स्पिट आन योर ग्रेव' का ही हिंदी रूपांतर थी । इसमें एक स्त्री पत्रकार गुंडों को मच्छर की तरह मसल देती है । इसके अलावा जिन फिल्मों को औसत कामयाबी मिलीं वे थीं राजकुमार कोहली की 'नौकर बीवी का गुलाम', टी० रामाराव की 'मुझे इंसाफ चाहिए', और सुनील दत्त की 'दर्द का रिश्ता' । इस श्रेणी में अन्य दो अच्छी फिल्में भी आती हैं । वे थी : जब्बार की 'सुबह' और सांई परांजपे की 'कथा' ।

कुछ कीमती और तड़क-भड़क वाली फिल्में बुरी तरह पिटीं । प्रमुखतम थी : कमाल अमरोही की शाही भूल, 'रजिया सुलताना' और प्रमुख भूमिका में अभिताभ बच्चन की 'महान' और 'नास्तिक' ।

यह विहंगम सर्वेक्षण इस बात की ओर इशारा करता है कि साधारण हिंदी दर्शक की रुचि में, ऐसा लगता है कि कुछ परिवर्तन और परिष्कार हो रहा है ।

अन्त में मैं यही आशा करता हूं, हो सकता है यह मेरी प्रस्तुत मनोकामना की ही अभिव्यक्ति हो, कि हिंदी फिल्म भारतीय जनता के मन–रंजन, प्रशिक्षण व प्रबोधन का ऐसा सशक्त साधन है जिसे न नकारा जा सकता है और न ही देश निकाला दिया जा सकता है । बावजूद हिंदी के प्रबल विरोध और अवमानना के, हिंदी फिल्म समस्त भारतवासियों को कश्मीर से केरल तक, पंजाब से असम तक, सभी क्षेत्रीय भिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और बोलियों के पोषकों को एक सूत्र में बाँधती है, एक समान जन संपर्क की भाषा के माध्यम से उनमें एक समान राष्ट्रीय एकता की भावना और सार्वभौम अंतर-प्रांतीय संस्कृति को पुष्ट करती है । ऐसा है हिंदी फिल्म का जादू और शाश्वत सम्मोहन जिसकी पकड़ से कोई बचकर नही निकल सकता ।

अनुत्तरित प्रश्न यह रह जाता है, "कौन और कैसे, हिंदी सिनेमा का देश के नवनिर्माण में उपयोग करे ?"

बदलते परिवेश में बिहार के हरिजन : कितने शिक्षित कितने विकसित

एस० नारायण एवं विनोद कुमार

भारतीय समाज एवं संस्कृति की अपनी विशेषताएँ हैं। यहाँ, विभिन्न समुदायों, सम्प्रदायों एवं विभिन्न भाषाओं के लोग रहते हैं एवं उन सब की संस्कृति भी अलग-अलग है। इसलिये कहा जाता है कि विविधताओं के बीच भी यहाँ एकता है। हर समाज में कुछ शोषक एवं कुछ शोषित वर्ग के लोग रहते हैं। शोषित वर्ग के लोग दलित भी कहे जाते हैं। इन दलित वर्गों में हरिजनों या अनुसूचित जाति के लोगों का प्रमुख स्थान है। हमारे देश के प्रायः सभी राज्यों एवं केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में ये पाये जाते हैं। १९७१ की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या देश की जनसंख्या का १४ प्रतिशत से भी अधिक है। यूँ तो इनकी समस्याएं अनेक हैं लेकिन कुछ ऐसी समस्याएं हैं जो प्रमुख हैं और उनके निराकरण यथाशीघ्र अपेक्षित हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा का अभाव, ऋणग्रस्तता, उन पर हो रहे अत्याचार, शोषण और अलगाव इत्यादि।

प्रस्तुत लेख बिहार के हरिजनों के बच्चों के प्रारम्भिक शिक्षा के विभिन्न वर्गों में नामांकन की स्थिति, एवं स्कूल छोड़ने जैसे पहलुओं पर किये गये शोध कार्य पर आधारित है। इनकी चर्चा करने के पूर्व बिहार में हरिजनों एवं उनकी प्रारंभिक शिक्षा की चर्चा करना आवश्यक है।

बिहार में हरिजन

सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार राज्य की सम्पूर्ण आबादी का १४.१% भाग हरिजनों का है। बिहार राज्य में हरिजनों की संख्या उनके राष्ट्रीय औसत १४.६% के आस-पास है।

बिहार में २३ अनुसूचित जातियाँ हैं। ये हरिजनों के नाम से लोकप्रिय हैं। चमार, दुसाध और मुसहर ये तीन जातियाँ राज्य के हरिजनों की संख्या का ७१% भाग है। अनु-

डा० एस० नारायण एवं विनोद कुमार, शोधार्थी, अनुग्रह नारायण सिंह समाज अध्ययन संस्थान, पटना।

सूचित जातियों में सामान्य जनसंख्या की वृद्धि दर अपेक्षाकृत अधिक है। सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार राज्य की अनुसूचित जातियों में साक्षरता ६.५३% थी। पुरुषों में साक्षरता ११.९२% और स्त्रियों में ये १.०३% थी। अनुसूचित जातियों के अन्तर्गत भी साक्षरता में काफी अन्तर पाये जाते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर हरिजनों में साक्षरता स्तर बिहार के हरिजनों के साक्षरता स्तर से काफी ऊँचा है। राष्ट्रीय स्तर पर १४.६७% साक्षरता इनके बीच पाई गई है जबकि बिहार में ये मात्र ६.५३% ही पाई गई। अतः स्पष्ट है कि राज्य के हरिजनों के बीच निरक्षरता अधिक है। अब एक प्रश्न यहाँ उठता है कि यद्यपि गत् ३० वर्षों में प्रारम्भिक शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में काफी प्रगति बतलाई जाती है, अनेक विद्यालयों की स्थापना की गई, शिक्षकों की नियुक्तियाँ भी काफी हुईं फिर भी ऐसी स्थिति क्यों है ?

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि हरिजनों के बच्चों का नामांकन कम होता है और स्कूल छोड़ने की दर अधिक होती है। साथ ही, यह भी देखा गया है कि प्राथमिक स्तर के प्रथम तीन वर्गों के पढ़ाई को पूरा न कर पाने की स्थिति में वे पुनः निरक्षरता के वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं। प्रस्तुत अध्ययन के लिये बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों के हरिजन बहुल क्षेत्रों में चार प्रखंडों का चयन किया गया। ये हैं लालगंज, रोसड़ा, शेरघाटी एवं सिकदरा जो क्रमशः वैशाली, समस्तीपुर, गया एवं मुंगेर जिलों के अन्तर्गत हैं। ग्रामीण क्षेत्रों को अध्ययन के अन्तर्गत इसलिए रखा गया कि विभिन्न अध्ययनों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि नगरीय क्षेत्रों में प्रारम्भिक शिक्षा की स्थिति ग्रामीण क्षेत्रों से अच्छी है। हरिजनों के बच्चों में कम नामांकन एवं पूर्व में स्कूल छोड़ने की बहुलता जैसी समस्याओं पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से ही लगभग उसी सामाजिक-आर्थिक स्तर के गैर हरिजनों को निदर्शन में लिया गया जिससे तुलनात्मक दृष्टि से हरिजनों के बीच इन समस्याओं पर अच्छी तरह से प्रकाश डाला जा सके। सभी चयन निदर्शन के विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर किया गया है।

राज्य के हरिजनों में प्रारम्भिक शिक्षा

चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षणिक सर्वेक्षण (१९७८) ने कुछ महत्वपूर्ण बातें हमारे सामने लायी हैं। ऐसे ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ इनकी आबादी ७५% से भी अधिक है उनमें केवल २४.०९% ही गांवों में प्राथमिक स्तर तक की ही शिक्षा सुविधा है। इसी प्रकार जहाँ इनकी आबादी ५१-७५% तक है वहाँ इस तरह की सुविधा ३६.३५% तक ही सीमित है। हरिजनों के बच्चों के नामांकन अन्य सभी जातियों के बच्चों की तुलना में वर्ग १-५ और ६-८ में क्रमशः १०% और ७% है। जहाँ तक अनुसूचित जाति के शिक्षकों की संख्या का प्रश्न है वह भी संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। बिहार के प्राथमिक स्तर के शिक्षकों की कुल संख्या का हरिजन शिक्षक मात्र ६.१९% भाग ही है। जहाँ तक हरिजन वर्ग के प्राथमिक स्तर पर शिक्षिकाओं का प्रश्न है इनके प्रतिशत नगण्य कहे जा सकते हैं।

सन् १९७१ के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि दो राज्यों को छोड़कर बिहार साक्षरता के

मामले में निम्नतम स्थान पर है। अधिकांश राज्यों की तुलना में शिक्षा के मद में भी कम खर्च किये गये हैं। उदाहरण के लिये, सन् १९६८-६९ में शिक्षा के मद में राज्य का खर्च सम्पूर्ण योजना के खर्च का मात्र ३.९ % था जबकि इसी अवधि में पंजाब और केरल जैसे राज्यों में यह प्रतिशत क्रमशः १३ और ९ थे। सन् १९७७-७८ में प्रति कैपिटा बजट में शिक्षा के मद में खर्च मात्र २० रुपये थे जो इस राज्य को देश में निम्नतम स्थान प्रदान करती है। नामांकन के संबंद्ध में भी राष्ट्रीय औसत से इस राज्य की स्थिति पिछड़ी हुई है। ६-११ वर्ष समूह में राष्ट्रीय औसत ४४% थे जबकि बिहार में ये करीब ३८% थे। इसी प्रकार ११-१४ वर्ष समूह में राष्ट्रीय औसत २६% से भी अधिक थे जबकि बिहार में यह औसत १९% से अधिक नहीं था। बिहार में वर्ग १-५ तक में लड़कियों के नामांकन में दो सर्वेक्षणों के अन्तराल में (१९७३ से लेकर १९७८) तक २% की वृद्धि पाई गई है और लगभग ऐसी ही स्थिति इनके बीच वर्ग ६-८ तक में पाई गई है। साक्षरता की दृष्टि से भी दो जनगणनाओं के बीच राज्य (अर्थात् १९७१ एवं १९८१) में ६% से भी अधिक की प्रगति पाई गई है। लेकिन जब यह तुलना राष्ट्रीय स्तर के आँकड़ों से की जाती है तो ह्रास की स्थिति प्राप्त होती है। बिहार साक्षरता के मामले में सन् १९७१ में देश में २५वाँ स्थान ग्रहण करता था जबकि १९८१ के आँकड़ें के अनुसार यह स्थान २७वाँ हो गया है। स्पष्ट है कि राष्ट्र के प्रगति के अनुरूप इस राज्य की प्रगति नहीं हुई है इसके अनेक कारण हो सकते हैं।

हरिजनों एवं गैर-हरिजनों के तुलनात्मक अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि हरिजनों की अपेक्षा गैर-हरिजनों में शिक्षा के प्रति विशेष ध्यान है। अध्ययन के चार प्रखंडों में नामांकन की स्थिति मुंगेर के सिकदरा प्रखंड में सबसे अच्छी पाई गई और इसके विपरीत स्थिति वैशाली के लालगंज प्रखंड में पाई गई। अध्ययन से पता चलता है कि छठी पंचवर्षीय योजना (१९८२-८३) में निर्धारित ९०% नामांकन का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाया था।

लड़कों में नामांकन की स्थिति लड़कियों के अपेक्षाकृत अधिक अच्छी है। लड़कियों में नामांकन की स्थिति अच्छी न होने के दो प्रमुख कारण हैं। पहला कारण यह है कि लड़कियां अधिकांशतः घरेलू कार्य में उलझ जाती हैं और दूसरा कारण कृषि कार्य के दौरान अपने माता-पिता का हाथ बटाती हैं। ऐसा देखा गया कि अधिक उम्र के अभिभावक अपने बच्चों को स्कूल भेजने में कम उम्र वाले आभिभावकों की अपेक्षा अधिक तत्परता दिखाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बढ़ती हुई बेरोजगारी को देखते हुए कम उम्र वाले अभिभावकों का शिक्षा से अलगाव हो गया है। अधिक उम्र वाले अभिभावकों ने अपने जीवन में अधिक उतार-चढ़ाव देखे हैं और अनपढ़ होने के कारण कई क्षेत्रों में उन्हें मुंह की खानी पड़ी है। अतः वे शिक्षा के महत्व को समझते ही नहीं बल्कि बच्चों को स्कूल भेजने में भी उनका ध्यान अधिक होता है। अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि हरिजनों में भी कुछ ऐसी जातियाँ हैं जिनमें अन्यों की अपेक्षा शिक्षा के प्रति झुकाव अधिक पाया जाता है। इनमें प्रमुख हैं–डोम, धोबी, मुसहर आदि। पासी यद्यपि हरिजनों में अधिक विकसित माने जाते हैं, फिर भी उनमें शिक्षा के प्रति उतना झुकाव नहीं पाया गया। बढ़ती हुई बेरोजगारी एवं जातिगत

पेशों के द्वारा जीवन यापन की संभावना इसके पीछे कार्यरत है। उपरोक्त अन्य जातियाँ गैर हरिजनों के सम्पर्क में रहने के साथ ही साथ बदलते हुए सामाजिक परिवेश में औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के प्रभाव के कारण ही शिक्षा के प्रति अधिक सजग जान पड़ती हैं।

ग्रामीण परिवेश में जमीन का विशेष महत्व है। जमीन एवं इसकी अधिकता नामांकन के दर को प्रभावित करती है। जमीन की अधिकता के साथ-साथ नामांकन दर भी ऊँचा उठता ही चला गया। ऐसे अभिभावक जिनके पास २ या २ से अधिक एकड़ जमीन है वहाँ नामांकन शत-प्रतिशत पया गया। नामांकन की स्थिति भूमिहीन अभिभावकों के बच्चों के बीच अच्छी नहीं पाई गई। ऐसे अभिभावक जो नौकरी, व्यापार एवं कुछ अन्य व्यवसाय में लगे हैं उनके बच्चे स्कूल अधिक आते हैं जब कि और अन्य व्यवसाय में लगे अभिभावकों के बच्चे स्कूल उतना नहीं आते हैं। आमदनी भी नामांकन को प्रभावित करती है। आमदनी बढ़ने के साथ-साथ नामांकन दर में भी वृद्धि पाई गई। हाँलाकि कम आमदनी वाले अभिभावक भी अपने बच्चों को पढ़ाने के लिये कम चिंतित नहीं हैं। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के उपरान्त भी हरिजनों के बच्चों में ६७% नामांकन पाये गये।

हरिजनों के अभिभावकों का शैक्षणिक स्तर भी बच्चों के शिक्षा को प्रभावित करता है। इतना ही नहीं परिवार में एक व्यक्ति भी पढ़ा-लिखा है तो उसका प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। इसी कारण माध्यमिक उत्तीर्ण हरिजन अभिभावक के यहाँ सभी बच्चे नामांकित पाये गये। चार प्रखंडों में मुंगेर के सिकंदरा प्रखंड को छोड़कर हरिजनों की शिक्षा के लिये अलग से विद्यालय की सुविधा है। ९०% नामांकन का लक्ष्य पूरा क्यों नहीं हो सका यह जानने का प्रयास किया तो अधिकांश ने आर्थिक कारण को प्रमुख कारण बतलाया, कुछ ने कृषि कार्य में व्यस्तता को बतलाया और कुछ ने कहा कि समय पर शिक्षा सम्बन्धी सभी सुविधाएं प्राप्त नहीं होती हैं और शिक्षा के महत्व को नहीं समझना भी एक प्रमुख कारण है। हरिजनों के बच्चों के प्रति भेद-भाव की भावना पाई गई जो नामांकन की स्थिति को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। कुछ क्षेत्रों में तो ऐसी भी जानकारी मिली कि हरिजन बच्चे कुछ दिनों तक स्कूल नहीं गये तो शिक्षक उनका नाम काट देते हैं और पुनः नामांकन के लिये शिक्षक ५ या १० रुपये की मांग करते हैं। अभिभावक के पास अच्छी आमदनी न होने के कारण ये बच्चे यूँ ही रह जाते हैं और शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। इतना ही नहीं गैर हरिजनों के बच्चे एक ही स्कूल में पढ़ने वाले हरिजन बच्चों की बुरी तरह से पिटाई एवं झगड़ा करते हैं और शिक्षक के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। परिणाम स्पष्ट है। बच्चे झगड़े एवं पिटाई के भय से स्कूल आना छोड़ देते हैं और इस प्रकार न केवल इसका असर नामांकन पर ही पड़ता है बल्कि पूर्व में स्कूल छोड़ने वालों की दरों में भी वृद्धि होती है।

बाढ़ या सूखे की स्थिति या अन्य प्राकृतिक विपदाओं की स्थिति ने बहुत से अभिभावकों को रोटी की तलाश में आसाम और पश्चिम बंगाल पहुंचा दिया है जिनके कारण भी नामांकन पर असर पड़ा है। अध्ययन के आधार पर कम नामांकन के निम्नलिखित कारण प्रमुख पाये

गये हैं (प्रमुखता के क्रम में)–(१) गरीबी, (२) घरेलू कार्य, (३) अध्ययन में रुचि का अभाव, (४) शिक्षा लड़कियों के लिये आवश्यक नहीं एवं (५) अन्य।

नामांकन में वृद्धि देखकर यह समझना कि शिक्षा के क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति हुई है उचित नहीं जान पड़ता है। नामांकन एवं पूर्व में स्कूल छोड़ने की घटना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पूर्व में स्कूल छोड़ने की घटना का गहन विवेचन विभिन्न स्तरों पर विभिन्न क्षेत्रों में किया गया है। जब हम बिहार की स्थिति की समीक्षा करते हैं तो दुखद स्थिति प्राप्त होती है। पूर्व में स्कूल छोड़ने की दरें अधिक ही नहीं बल्कि निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही हैं। श्रीवास्तव (१९७८) ने यह पाया है कि इस तरह की घटना सन् १९५८-६२ में ६८.१०% थी, फिर सन् १९६२-६८ में बढ़कर ७८.२०% हुई और सन् १९७३ में ८३% हो गई। वर्तमान अध्ययन के आँकड़े (१९८२) भी ९०% दर्शाते हैं।

मुंगेर के सिकंदरा प्रखंड जहाँ नामांकन की स्थिति सबसे अच्छी पाई गई थी वही पूर्व में स्कूल छोड़ने वालों में प्रथम स्थान रखता है। सूखे की स्थिति एवं भेद-भाव की भावना ही इसके प्रमुख कारण हैं। पहले ऐसा पाया गया था कि लड़कों में लड़कियों की अपेक्षा नामंकन अच्छा था लेकिन ऐसा देखा गया है कि लड़कियों की अपेक्षा नामांकन लड़कों में पूर्व में स्कूल छोड़ने की दर ज्यादा है। हरिजनों में केवल ९% लड़के ही अध्ययन जारी रखे हुए हैं। साथ ही यह भी देखा गया है कि हरिजनों में भी विभिन्न जातियों की तुलना में धोबी, दुसाध एवं मुसहर में पूर्व में स्कूल छोड़ने की दर कम है। पासी और डोम में शत-प्रतिशत स्कूल छोड़ने की घटना पाई गई है। इनके पीछे इनमें पढ़े-लिखे लोगों को रोजगार का न मिलना और साथ ही उनके जातिगत पेशे से भी उनकी जीवन-यापन की भावना भी कार्यरत है। भूमिहीनों में स्कूल छोड़ने की घटना अधिक पाई गई लेकिन ऐसा देखा गया है कि जमीन की अधिकता होने पर इस प्रकार की घटना में वृद्धि होती है। स्पष्ट है अधिक जमीन (खेत) में अधिक लोगों के काम करने की आवश्यकता होती है और इसी कारण समय से पूर्व स्कूल छोड़ने की घटना में वृद्धि होती है। ऐसे हरिजन अभिभावक जो नौकरी में संलग्न हैं उनके बच्चों में इस तरह की घटना कम पाई जाती है। आय में वृद्धि होने से समय से पूर्व स्कूल छोड़ने की घटना में गिरावट पाई गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक कारण इस घटना के पीछे प्रमुख रूप से कार्यरत है। अभिभावक का शैक्षणिक स्तर भी इनके बच्चों में इस तरह की घटना को प्रोत्साहित करता है। वर्ग के आधार पर इस घटना का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि ८७% हरिजन बच्चे वर्ग १-५ तक पूरा करने के पूर्व ही स्कूल छोड़ देते हैं जबकि वर्ग ६-८ तक में इस तरह की घटना में अपेक्षाकृत गिरावट पाई जाती है। अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ६० % से अधिक इस तरह की घटना गरीबी के कारण ही होती है। दूसरा प्रमुख कारण घरेलू कार्य में व्यस्तता पाया गया। अधिकांश अभिभावक पढ़ाई का खर्च स्वयं ही वहन करते हैं और सरकार द्वारा मिलने वाली सुविधाओं से अनेक बच्चे वंचित रह जाते हैं। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण बच्चों को समय से पूर्व ही

बाध्य होकर स्कूल छोड़ना पड़ता है। कुछ अभिभावक ऐसे भी हैं जिन्होंने ये महसूस किया है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है।

विद्यालयों में हरिजन एवं गैर हरिजन बच्चों के साथ शिक्षकों का समान व्यवहार न होना बच्चों में एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिकता को जन्म देती है। इनसे हरिजन बच्चों की अभिरुचि प्रभावित होती है। इस तरह के विचारधारा से पीड़ित होकर हरिजन बच्चे समय से पूर्व ही स्कूल छोड़ देते हैं और हमारी योजना के लक्ष्य का पूरा न होने का यह भी एक प्रमुख कारण रहा है। शिक्षकों की अनुपस्थिति भी इस दिशा में महत्वपूर्ण है। बिहार के प्राथमिक स्कूल के शिक्षक सबसे अच्छे वेतन पाते हैं फिर भी अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन पाये जाते हैं। अनुपस्थित रहने वाले शिक्षक का लगाव नेताओं एवं राजनैतिक दलों के कार्यकर्ताओं से होने के कारण वे अपने कर्तव्य की अपेक्षा करते हैं।

एक शिक्षक वाले स्कूल तो समस्या को और भी गंभीर बनाने में सहायक हैं। ग्रामीण परिवेश में एक बच्चे आर्थिक रूप से सहायक हाथ के रूप में देखे जाते हैं। अभिभावक स्कूल भेजकर बच्चे के सहायक हाथ एवं कार्य करने की क्षमता को नष्ट नहीं होने देना चाहते। वे इस बात को समझते हैं कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली ग्रामीण पर्यावरण से कोई ताल-मेल नही रखती। सिर्फ साक्षरता और हिसाबी ज्ञान से कोई बड़ा लाभ नजर नहीं आता है। इस कारण भी समय से पूर्व स्कूल छोड़ने की दरों में वृद्धि होती है। साथ ही ऐसा भी देखा गया है कि जो बच्चे नियमित रूप से स्कूल नही जाते हैं वे ही प्रायः समय से पूर्व स्कूल छोड़ देते हैं।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि बदलते हुए परिवेश में आज भी अधिकांश हरिजन अशिक्षा के अंधकार में हैं। आज भी हरिजनों में बंधुआ मजदूरों की कमी नहीं। सरकारी आँकड़े दिखलाते हैं कि अधिकांश बंधुआ मजदूरों को मुक्त कर दिया गया है किन्तु वास्तविकता यह है कि इनकी संख्या बढ़ती ही चली जा रही है। राज्य में हरिजनों पर किये गये अध्ययनों से पता चलता है कि साहुकारों के द्वारा जमीन हड़पने की स्थिति अत्यंत भयावह है। इतना ही नहीं वे अवज्ञा करने की स्थिति में उनके घर जला दिये गये हैं एवं उनकी पत्नियों के साथ बलात्कार किया गया है। बिहार के वेलची, पिपरा एवं परसविधा कांड ने हरिजनों पर हो रहे अत्याचारों में एक नया अध्याय जोड़ा है।

वास्तविक स्थिति गंभीर होती चली जा रही है। आज आवश्यकता कागजी आँकड़े दिखा कर दावे करने की नहीं बल्कि व्यवहारिकता को स्वीकार कर उसे दूर करने के सक्षम उपाय से सच्चे दिल से एक जुट हो काम करते की है। सामाजिक प्रगति का स्वप्न तभी देखा जा सकता है जब प्रत्येक वर्ग का चाहे वो किसी भी भाषा समुदाय, सम्प्रदाय, जाति का हो, उसका समुचित विकास हो। सामाजिक कुरितियों के बीज एवं अंकुर को जनमत द्वारा उखाड़ फेंकना होगा। शिक्षा का समुचित प्रचार एवं प्रसार भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। आवश्यकता मात्र योजना बनाने की नहीं बल्कि उनका सही ढंग से कार्यान्वयन करने की भी है।

भारत में जाति-व्यवस्था—एक मूल्यांकन

अमरेश चन्द्र शुक्ल एवं
माधव जी मिश्र

भारत से वर्तमान समय में प्रगतिशील विचारकों द्वारा यह भविष्ययवाणी की जा रही है कि जाति-व्यवस्था का अन्त हो जायेगा, अथवा जाति-व्यवस्था अंततः वर्ग-व्यवस्था का रूप ले लेगी। इतिहास साक्षी है कि वैदिक-काल से आज तक जाति व्यवस्था में गतिशीलता कायम रही है। जैसे पहले वर्ण व्यवस्था थी, बाद में वर्ण व्यवस्था ने जाति व्यवस्था का रूप ले लिया; परिवर्तन की इसी प्रक्रिया को हम ऐतिहासिक सन्दर्भ में व्यक्त करने का प्रयास करेंगे।

ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि जाति-व्यवस्था में अतीत काल से परिवर्तन होते रहे हैं यद्यपि उनकी गति धीमी रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से जाति-व्यवस्था के काल को डा० घुरिये ने पाँच भागों में बाँटा है—

१—वैदिक काल (ईसा के ४००० वर्ष पूर्व से ६०० वर्ष पूर्व तक)
२—उत्तर वैदिक काल (ईसा के ६०० वर्ष पूर्व से १८४ वर्ष पुर्व तक)
३—धर्मशास्त्र काल (ईसा के १८४ वर्ष पूर्व से ११वीं सदी तक)
४—मध्य-युग (सन् ११०० से १७०० तक)
५—आधुनिक युग (सन् १७०० से·········)

१ वैदिक काल

वेदों, उपनिषदों, तथा कुछ मौलिक ब्राह्मण ग्रन्थों से इस काल के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इस काल में जाति व्यवस्था नहीं थी, अपितु वर्ण-व्यवस्था थी। सबसे प्राचीनकाल की आरम्भिक ऋचाओं में वर्ण शब्द का प्रयोग सम्भवतः आर्यों और अनार्यों में भेद करने के लिये किया गया था क्योंकि आर्य व दास इन दो वर्णों का ही उल्लेख किया गया है। दास शब्द का अर्थ संस्कृत में शत्रु होता है। आर्यों व अनार्यों (दासों) में दीर्घ काल तक संघर्ष होता रहा। बाद की ऋचाओं में आर्यों ने अपने को ब्राह्म, क्षात्र, व विश इन तीन वर्णों में विभाजित कर लिया। ऋग्वेद के अन्त में पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चार वर्णों का

डा० अमरेश चन्द्र, सहायक निदेशक, जनसंख्या केन्द्र, इन्दिरा नगर, लखनऊ।
माधव जी मिश्र, शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है। सम्भवतः अनार्यों के फलस्वरूप उनमें से अधिकांश को शूद्रों में शामिल कर लिया गया। इस तरह समाज चार वर्णों में विभक्त हो चुका था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। परन्तु इन वर्णों के मध्य खानपान व विवाह सम्बन्धों में कोई विशेष रोक नहीं थी। छान्दोग्योपनिषद से पता चलता है कि इस युग में विभिन्न वर्णों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। चारों वर्णों का विभाजन उनके कार्यों पर आधारित था। जैसा कि गीता में स्पष्ट कहा गया है कि—

"चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टम् गुणकर्मविभागशः।"

अर्थात् वर्ण व्यवस्था गुण व कर्मों पर आधारित थी न कि जन्म पर।

जैसा कि हिन्दू धर्म शास्त्रों में भी कहा गया है कि—

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्चते"

अर्थात् व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है लेकिन संस्कारादि से द्विज बनता है।

अथर्ववेद में कहा गया है कि—

"न दासौ नार्यो महित्वा व्रतं भिभाय।"

अर्थात् मैं किसी को जन्म से दास या आर्य नहीं मानता। मैं उसका मूल्यांकन गुणों के आधार पर करता हूं।

इस युग में वर्ण परिवर्तन भी सम्भव था। जैसे कि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये थे तथा राजा जनक ने भी क्षत्रिय से ब्राह्मण वर्ण अपनाने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था जैसी कोई चीज नहीं थी। इस युग में श्रेष्ठता अर्जित करने के लिये ब्राह्मणों व क्षत्रियों में संघर्ष दीर्घ काल तक चला। जैसे वशिष्ठ व विश्वामित्र में, परशुराम व अन्य क्षत्रिय राजाओं में, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गयी। पुरोहित का कार्य वन्शानुगत बन गया। ब्राह्मण रक्त शुद्धता पर बल देने लगे।

२ उत्तर वैदिक काल

इस युग का इतिहास भी ब्राह्मणों व क्षत्रियों के लम्बे संघर्ष का इतिहास है। राजा वेणु को सप्तर्षियों ने मार डाला और उनके पुत्र पृथु को राजा बनाया। राजा नुहुष को विश्वामित्र ने ब्रह्म तेज के बल से सशरीर स्वर्ग भेजने का प्रयास किया। महाभारत काल के अन्त तक महासमर में क्षत्रियों की शक्ति क्षीण हो गयी। ब्राह्मण प्रबल हो गये। वर्ण विभाजन जन्म पर आधारित बन चुका था। एक भी वर्ण परिवर्तन के उदाहरण महाभारत काल में नहीं मिलते हैं।

इस युग में स्थिति में कुछ परिवर्तन शुरू हुआ। वर्णों के बीच पृथकता ब्राह्मणों को विशेषाधिकार दिलाने तथा शूद्रों के लिये निर्योग्यतायें निर्धारित करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब ने अनेक संहिताओं की रचना कर ब्राह्मणों को सर्वाधिक अधिकार प्रदान किये और खान-पान सम्बन्धी नियमों को कठोर बनाया। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों

ने वर्ण व्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन को अभी तक स्वीकार नहीं किया था। ब्राह्मणों के विशेषाधिकार और एकाधिकार को चुनौती दी जाने लगी। समाज में संघर्ष की स्थिति बढ़ी। बौद्ध और जैन धर्मों की उत्पत्ति इसी ब्राह्मण वाद की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप हुई। इन धर्मों में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ बताया गया। इन धर्मावलम्बियों ने अन्तर्जातीय विवाहों को बड़े पैमाने पर प्रचलित किया और शूद्रों को भी ऊँचे पद प्रदान किये। क्षत्रियों की शक्ति बढ़ी, ब्राह्मणों की घटी। ब्राह्मण चाणक्य ने शूद्र चन्द्रगुप्त की सहायता से (३२३ ई० पूर्व से १८५ ई० पूर्व तक) क्षत्रिय नन्द वन्श का समूल नाश कर दिया। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ में शूद्रों को भी आर्य माना। उन्हें वेद पढ़ने के अधिकार दिये। ब्राह्मणों को शूद्रों के समान दण्ड दिये जाने का विधान किया।

सम्राट अशोक ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया और वैदिक रीतियों तथा मर्यादाओं का अतिक्रमण होने दिया। परवर्ती मौर्यो के शासन काल में ब्राह्मण धर्म पर इतने आघात होने लगे कि ब्राह्मण नये संघर्ष की तैयारी करने के लिये बाध्य हो गये।

विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल तक वर्ण व्यवस्था का रूप विकृत हो चुका था तथा आज की जाति व्यवस्था प्रारम्भ हो गयी थी। व्यवसाय, विवाह, तथा खान-पान सम्बन्धी निषेध लागू हो गये थे। जन्म के आधार पर सामाजिक स्थिति का निर्धारण प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि मौर्य-शासन काल में जाति-व्यवस्था उतनी संगठित नहीं हो पायी थी।

३ धर्मशास्त्र काल

इस युग में ब्राह्मणों के प्रभाव में और अधिक वृद्धि हुई। यही युग है जिसमें रूढ़िवादी हिन्दू धर्म का स्वरूप निर्धारित हुआ। मौर्य वंश के अन्तिम शासक को मारकर ब्राह्मण मन्त्री पुष्यमित्र शुंग ने शुंग वंश की नींव डाली। वह ब्राह्मण वैदिक धर्म का पुनर्स्थापक माना जाता है। बौद्ध विहार उजाड़ दिये गये। भिक्षु बड़े पैमाने पर मार डाले गए। वैदिक आधारों की पुनस्थापना की गयी। यह कट्टरपन्थी प्रतिक्रान्ति थी। मनुस्मृति लिखी गई जिसे शुंग काल का राज विधान मान लिया गया। मनुस्मृति में ५७ वर्ण संकर उपजातियों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। ब्राह्मणों को अनेक नये विशेषाधिकार तथा शूद्रों को नई निर्योग्यतायें प्रदान की गयीं। जाति व्यवस्था पूरी कठोरता एवं जटिलता के साथ उदित हुई।

विदेशी कुशाण वंश के शासक कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और उत्तरी भारत में वैदिक ब्राह्मण धर्म का बड़ा अहित किया। पर दक्षिण भारत में गौतमी पुत्र शातकर्णी ने ब्राह्मणवाद की जड़ जमा दी।

इस तरह इस युग में ब्राह्मणों का संघर्ष क्षत्रियों और बौद्धों दोनों के विरुद्ध था। याज्ञवल्क्य स्मृति रची गई जिसने मनुस्मृति को समर्थन दिया। पर शूद्रों के प्रति नरमी बरती गयी क्योंकि महाराष्ट्र में शूद्र संगठित हो रहे थे। पुनः दीर्घ काल तक अंध युग आया जिसमें बड़ा भ्रम

फैला रहा । बाद में नाग वंश, वाकाटर वंश व पल्लव वंश के शासकों ने ब्राह्मणवाद व जाति व्यवस्था को पुष्ट किया । बाद में गुप्त काल में पौराणिक हिन्दू धर्म का विकास हुआ जिसमें वेदों व ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा भली प्रकार स्थापित हुई ।

डा० नर्मदेश्वर प्रसाद ने अपनी पुस्तक "जाति-व्यवस्था" में लिखा है कि गुप्तकाल में पुरोहित मन्त्रियों ने क्षत्रियों तथा अन्य जातियों को बुरी तरह कुचल डाला और राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यावहारिक रूप में वेदों को तिलांजलि देकर मनुस्मृति के नियमों को व्यवहार का मानदण्ड मान लिया । धर्मशास्त्र काल में जिसे स्मृति काल भी कहा जा सकता है, याज्ञवल्क्य संहिता, विष्णु संहिता, पराशर संहिता और नारद स्मृति के आधार पर विभिन्न जातियों के धर्म निर्धारित किये गये । डा० जी० एस० घुरिये का मत है कि इस युग में दो सिद्धान्तों को लागू कर जाति व्यवस्था विकसित की गयी । ब्राह्मणों को दान देने की पवित्रता और महत्ता स्पष्ट कर उनकी स्थिति सुदृढ़ की गयी और दूसरी ओर पुनर्जन्म व कर्मकाण्ड के सिद्धान्त का व्यापक प्रचार किया गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति के दायरे से बाहर न निकल सके । यही युग था जब सभी जातियों को ब्राह्मणों की सेवा का निर्देश देकर उनकी सामाजिक स्थिति की सर्वश्रेष्ठता पर और अधिक बल दिया गया । जाति के नियमों को तोड़ने वालों को अनेक नरकों का भय दिखाया जाने लगा । परम्परागत और वंशानुगत व्यवस्था करने पर ही बल दिया गया । शूद्रों की स्थिति और गिरी । उन्हें निकृष्ट समझा जाने लगा । उन्हें छूना तथा उनके हाथ का भोजन करना पाप समझा जाता था ।

इस प्रकार गुप्तकाल में पुराणों को वेदों से अधिक महत्व दिया गया । ब्राह्मणवाद भारत का जातीय धर्म बन गया तथा राष्ट्रीय प्रतीक मान लिया गया । अछूत जाति का उद्भव हुआ जिन्हें शूद्रों से भी हीन तथा अस्पृश्य माना गया ।

इन संघर्षों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, बौद्ध) से ऊबकर समझौतावादी प्रवृत्तियाँ उभरीं । ब्राह्मणों ने बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया और बलि के महत्व को कम कर अहिंसा को परमधर्म मान लिया । किन्तु जाति की कठोरता में कमी नहीं आयी ।

हर्षवर्धन के शासनकाल में बौद्ध धर्म का पुनः उत्थान हुआ पर उसके बाद सेनों, चालुक्यों, चौहानों, परमारों आदि राजपूत शासकों ने ब्राह्मणों के साथ मिलकर भोग-विलास का जीवन व्यतीत किया, जनता को लूटा व चूसा । मन्दिरों, मठों व राज खजानों में सम्पदा एकत्रित की । बौद्धों का समूल नाश किया और वैश्यों तथा शूद्रों को पददलित किया । इस युग में जाति व्यवस्था बहुत सुदृढ़ हुई तथा अनेक पाखण्डों से युक्त हो गयी ।

४ मध्यकाल

इस युग का प्रारम्भ मुस्लिम आक्रमणों के साथ हुआ । इस युग में दो विशेष बातें आयीं । मुसमलानों ने राजनैतिक नेतृत्व सम्भाला और ब्राह्मणों ने सामाजिक नेतृत्व । जिन्होंने तनिक भी विचलन दर्शाया उन्हें जाति से बहिष्कृत किया गया । बड़े पैमाने पर हिन्दू मुसलमान बने या बनाये गये । उग्रवादी मुस्लिम शासकों ने तलवार के जोर पर इस्लाम का प्रचार किया ।

जाति व्यवस्था तथा हिन्दू धर्म दोनों के लिये खतरा पैदा हुआ। ब्राह्मण अधिक सतर्क हो गये। धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्डों का महत्व इतना बढ़ा कि प्रत्येक व्यक्ति गतिहीन और धर्मभीरू बन गया। अन्तर्विवाह, कुलीनता, और कर्मकाण्डीय पवित्रता पर बल देने के कारण जाति व्यवस्था सामाजिक जीवन का एकमात्र आधार हो गई। बाल विवाह तथा विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, पर्दा प्रथा, सती प्रथा इत्यादि इसी युग में प्रारम्भ हुई। इन्हें धर्म का अंग बना दिया गया। जातीय पवित्रता और अस्पृश्यता की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। कबीर, गुरुनानक और चैतन्य महाप्रभु ने जातिगत ऊँच-नीच की भावना, पाखण्डी और सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन छेड़ा परन्तु इसका अन्त नहीं हुआ। जातिगत कट्टरता का रूप और अधिक विकृत हुआ।

इस्लाम समानता में विश्वास करता है। अतः मुसलमानों ने जातीय भेद-भाव को व्यर्थ समझा। इस प्रकार एक ओर मुस्लिम शास्त्रों तथा अन्य धार्मिक सन्तों जैसे कबीर, नानक, चैतन्य, नामदेव आदि ने जाति व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास किया और दूसरी ओर ब्राह्मणों ने इसे और कठोर बनाने का प्रयास किया। मुसलमानों से अलगाव के लिये खान-पान और विवाह सम्बन्धी निषेध और अधिक कठोर बनाये गये। रक्त की शुद्धता पर और अधिक बल दिया जाने लगा। आत्म रक्षार्थ हिन्दू धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों ने जातीय राष्ट्रीयता का सहारा लिया। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों शास्त्रों आदि को मनमाने ढंग से तोड़ा मरोड़ा और उनके साथ स्वेच्छाचारिता बरत कर कुरीतियों को प्रचलित किया। इस काल के शास्त्रों के आदेशों के अनुसार जाति विभेद क्रूर व कठोर बना दिये गये। अन्तर्जातीय भोज व विवाह पूर्णतः वर्जित कर दिये गये। कलाकार जातियां शूद्र मानी गईं क्योंकि मुस्लिम शासक इनसे कार्य लेते थे। छूआछूत सम्बन्धी नियम अत्यधिक कठोर बनाए गए। कुछ जातियों को अछूत घोषित किया गया क्योंकि ये मुसलमानों की सेवा करती थीं। मूर्ति पूजा तथा मन्दिरों का महत्व बढ़ा दिया गया जिससे ब्राह्मण पुरोहितों की प्रतिष्ठा और बढ़ी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्य युग में जाति व्यवस्था पर प्रहार बहुमुखी थे। फिर भी समाप्त होने के स्थान पर यह व्यवस्था अधिक विकृत रूप में उभर कर सामने आयी।

५ आधुनिक युग

इस युग का पहला चरण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से प्रारम्भ होता है। इस युग के पहले जाति व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक उपजातियाँ बन गयीं। ब्रिटिश काल में इनकी संख्या और स्थायित्व में वृद्धि हो गयी। भारत वर्ष में अंग्रेजों ने आने के बाद यह समझ लिया कि हिन्दू समाज पर ब्राह्मणों का बहुत अधिक प्रभाव है। अतः यदि वे ब्राह्मणों को खुश किये रहेंगे तो उनका शासन और सुदृढ़ हो जायेगा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी कानूनों के हिन्दू धर्म ग्रन्थों पर आधारित होने के कारण अंग्रेजी शासन में ब्राह्मणों की शक्ति और बढ़ गयी। ब्राह्मण जातीय नियमों के अनुसार हिन्दू समाज के आन्तरिक शासक बन गये और इतने से ही सन्तुष्ट हो गये। हिन्दू मन्दिर ब्राह्मण वाद व जाति व्यवस्था के प्रतीक बन गये। फलस्वरूप जाति

व्यवस्था में और अधिक दृढ़ता आ गयी और जाति व्यवस्था में केवल अस्पृश्यता का ही नहीं बल्कि उसके भयंकर रूप अप्रवेश्यता एवं अदर्शनीयता का साम्राज्य फैल गया। इस काल में ब्राह्मण पर्याप्त शक्ति सम्पन्न हो गये। श्री नर्मदेश्वर प्रसाद ने लिखा है कि–"ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ब्राह्मण वाद अधिक सुरक्षित हो गया।" लेकिन फिर भी कम्पनी शासन के दौरान जाति निर्योग्यता उन्मूलन कानून १८५० में तथा स्पेशल मैरेज ऐक्ट १८७२ में पास किये गए जो जाति विरुद्ध थे। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव तथा ब्राह्मण व्यवस्था से उत्पन्न क्षोभ के कारण हिन्दू समाज के अन्धविश्वासों, पाखण्डों और कुरीतियों के विरुद्ध समाज सुधार आन्दोलन १९वीं सदी में शूरू हुए। इसने जाति व्यवस्था पर करारी चोट की। इसमें ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन का विशेष योगदान है। २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जाति-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध संगठित आन्दोलन प्रारम्भ किया गया जिसमें गोखले, लोकमान्य तिलक, तथा महात्मा गांधी का प्रमुख योगदान रहा।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संविधान में जाति पर आधारित भेद-भाव और छूआछूत समाप्त कर दिया गया। विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धों को दूर करने के लिए हिन्दू विवाह अधिनियम १९५५ तथा छूआछूत को दूर करने के लिए अस्पृश्यता अधिनियम १९५५ बनाया गया।

पाश्चात्य शिक्षा, प्रौद्योगिक उन्नति, औद्योगीकरण, पेशों की बहुलता, धन के महत्व, यातायत और संचार साधनों में वृद्धि, नगरीकरण, नवीन समूहों के निर्माण तथा राजनीतिक, धार्मिक एवं महिला आन्दोलनों तथा सरकारी प्रयास के कारण जाति व्यवस्था व्यापक रूप से प्रभावित हुयी है।

यद्यपि संयुक्त परिवार के विघटन, स्त्रियों की स्थिति में सुधार, जाति पंचायतों की निष्क्रियता, नवीन शासन व्यवस्था, नवीन समूहों एवं समीकरणों की स्थापना तथा सरकारी प्रयास के कारण नगरों में जाति-व्यवस्था के लक्षणों एवं निषेधों का लगभग अन्त हो रहा है तथापि ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी इसकी जड़ें मजबूत हैं। गांवों से बाहर शहरों में जाकर लोग इस व्यवस्था के निषेधों का पालन छोड़ देते हैं परन्तु जब तक वे गांव में रहते हैं इसका पालन करते रहते हैं। जाति व्यवस्था के प्रति नगरों के लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो गया है। परन्तु गांव के लोगों की मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वे आज भी इस व्यवस्था को अपने सामाजिक संगठन का आधार मानते हैं। यद्यपि स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि विगत ५० वर्षों में जाति-व्यवस्था में परिवर्तन हुआ है लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जाति-व्यवस्था विनाश के कगार पर खड़ी हो गई है। अपनी लम्बी ऐतिहासिक यात्रा के दौरान इसने कितने आघात सहे, कितनी बाधायें झेलीं, पर इसने देश, काल, परिस्थितियों की मांगों और चुनौतियों के अनुसार अपने में नये परिवर्तन किए, समय-समय पर कठोर या नम्र बनती रही। कितने ही विदेशी हमलावरों शक, गुर्जर, हूण, कुशाण आदि को इसने आत्मसात कर लिया। मुसलमान तथा अंग्रेज इस प्रक्रिया के अपवाद हैं।

जाति कभी नष्ट नहीं हुई। विपरीत परिस्थितियों में यह और कठोर तथा संगठित हुई।

वर्तमान युग की चुनौतियां विशिष्ठ व मौलिक हैं । हमें आशा ही नहीं विश्वास है कि जाति में पुनः नये परिवर्तन होंगे और नयी लोच के साथ यह अक्षुण्ण बनी रहेगी ।

उक्त ऐतिहासिक समीक्षा के आधार पर यही कहा जा सकता है नयी चुनौतियाँ जाति व्यवस्था को रूपांतरित ही कर सकेंगी । एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में ही सीमित न रह कर विगत तीन दशकों में देश की राजनीति में 'जाति' का संदर्भ निरंतर महत्वपूर्ण होता जा रहा है । सीमित जातीय पंचायतों का वर्चस्व समाप्त हो गया है किंतु अखिल भारतीय स्तर पर जातियों के सम्मेलन आयोजित करके जातीय स्वार्थों की रक्षा के संगठित प्रयास किये जाते हैं । ये गतिविधियाँ व्यवस्था में नव स्फूर्ति का ही परिचय देती हैं ।

वास्तव में जाति व्यवस्था को कायम रखने वाले तत्व इसकी आंतरिक रचना से ही जागृत हो रहे हैं यद्यपि जाति को प्रजातन्त्र एवं साम्यवादी भावना के विरुद्ध माना गया है । प्रजातान्त्रिक शासनतन्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग चुनाव प्रणाली है जो दुर्भाग्यवश हमारे देश में जाति केन्द्रित होती जा रही है । जाम चुनाओं के अवसर पर जातियां विचित्र ढंग से संगठित व क्रियाशील हो जाती हैं । जाति को ध्यान में रखकर उम्मीदवारों का चयन करना, वोट देना व पाना, एक चुनाव से दूसरे चुनाव के अंतराल में चुनाव क्षेत्र में जातीय संगठन करते रहना आदि प्रवृत्तियाँ जाति के उज्ज्वल भविष्य के सूचक हैं भले ही प्रजातन्त्र को इससे हानि पहुंच रही है । अपनी जाति या उपजाति के प्रति भक्ति या निष्ठा की नयी भावना लगभग पूरे देश में जागृत हुई है । यद्यपि अपनी जाति या उपजाति के प्रति अन्ध भक्ति राष्ट्र प्रेम तथा समाज कल्याण के लिये बहुत हानिकारक सिद्ध हो रही है फिर भी जातिवाद जाति-व्यवस्था के लिये एक सुदृढ़ कवच साबित हो रहा है जिसे भेद पाना बड़े से बड़े राष्ट्रवादी नेताओं के लिये कठिन प्रतीत हो रहा है ।

पुनः पूरे देश में विभिन्न जातियाँ या उपजातियाँ पिछले २५ वर्षों से संगठित हो रही हैं । उनके अखिल भारतीय संघ व महासंघ बनते जा रहे हैं जिनके अपने संविधान, नियमावली, अधिवेशन, जनगणना पत्रिकाओं का प्रकाशन आदि है । इन जाति संघों से देश की एकता व राष्ट्रीयता को कितनी ही हानि क्यों न होने वाली हो पर निश्चय ही ये जाति व्यवस्था को कायम रखने के लिए संजीवनी का काम करेंगे । जाति के सदस्यों में स्वजातीय चेतना उत्पन्न करने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है ।

अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने के लिए समाज सुधारकों व सरकार द्वारा हर सम्भव उपाय किए जा रहे हैं, पर इनकी उपलब्धि नगण्य ही है । जातीय विवाह के नियम अब तक कठोरता से पालन किये जाते हैं । विवाह के महत्वपूर्ण निर्णय के लिये जाति से बाहर कदम निकालने में बड़ी झिझक दिखलायी देती है । उपर्युक्त जाति संगठनों का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य यह भी है कि अपनी पत्रिकाओं में सम्भावित वरों व कन्याओं की सूचि छापना ताकि जाति भाइयों से सम्पर्क के अवसर बढ़ जायँ, अन्तर्जातीय विवाहों को रोका जाय और वर के ढूंढ़ने में कठिनाई से निपटा जाय ।

पुनः कुछ विद्वनों का मत यहाँ प्रस्तुत है जिनका कथन है कि जाति व्यवस्था की बुराइयों में सुधार करके इसे लागू रहने दिया जाय। जैसे-डा० जी० एस० घुरिये का कहना है कि "जिन उपजातियों की आर्थिक व सांस्कृतिक विशेषतायें एक जैसी हैं, उन्हें मिलाकर एक वृहद् जाति समूह का निर्माण कर देने से जाति प्रथा के भविष्य को सुखमय बनाय जा सकता है।" डी० एन० मजूमदार का कहना है कि "जाति का दूसरी जाति द्वारा शोषण और इसी प्रकार की दूसरी कुप्रथाओं को नष्ट कर देना चाहिए न कि सम्पूर्ण जाति व्यवस्था को। टूटी हुई विषपूर्ण अंगुली काटनी चाहिए न कि सम्पूर्ण हाथ को।"

महात्मा गांधी भी उपजातियों का विभाजन समाप्त कर वर्ण व्यवस्था के स्थापना के समर्थक थे।

उपर्युक्त कथनों को दृष्टि में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि जाति-व्यवस्था में अतीत काल से ही गतिशीलता और निरन्तरता कायम रही है। जाति-व्यवस्था कोई ऐसा वस्त्र नहीं है जिसे बदल दिया जाये। हिन्दू सामाजिक जीवन में इसकी जड़ें गहराई तक पहुंच गयी हैं इसे आसानी से नहीं समाप्त किया जा सकता।

आदिवासी स्तम्भ

पर्वतीय क्षेत्र में--शिल्पकार

खड्ग बहादुर सिंह

प्रस्तुत अध्ययन पिथौरागढ़ जनपद की डीडीहाट तहसील के ग्रामों में निवास करने वाले ७२ शिल्पकार परिवारों का है। पिथौरागढ़ से २५ कि० दूर देवलथल ग्राम पंचायत के निकट-वर्ती आगर, थांलगांव, बीसन, चौखा, मसराडी, बुंबा खुलैंत, बुंगाछीना, बेडरा; लौहाकोट एवं बिसौना ग्रामों में निवास करने वाले शिल्पकार परिवारों का सर्वेक्षण किया गया। यह सर्वेक्षण जनगणना की दृष्टि से है।

ग्रामीण कुमायूँ में अस्पृश्यता का स्वरूप

कुमायूं की जाति व्यवस्था एवं संस्तरण के सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने विचार प्रकट किये हैं। इन विद्वानों के अनुसार कुमायूँ में सर्वप्रथम डोम एवं खस दो जातियां रहती थीं। डोम या शिल्पकार एवं खस ही यहां के मूल निवासी हैं। इसी आधार पर इसे खस देश कहा जाता है। (कुक १८९६: आकले १९०५, जोशी १९२९, पाण्डे १९३७, एटकिन्स १८८६,१९३६ एवं सनवाल १९७६) ब्राह्मण एवं क्षत्रिय बाहर से आये और बस गये तथा खास लोगों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया अतः खस को द्विज बना दिया गया। किन्तु डोम या शिल्पकारों की स्थिति में सुधार नहीं हुआ। व्यक्तियों के शिल्प के अनुसार ही जाति का निर्धारण किया गया है। जैसे लोहे का काम करने वाला लोहार, तांबे एवं अन्य धातु के बर्तन बनाने वाला टम्टा, लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई एवं औड वांस या रामबांस की चटाई टोकरी बनाने वाले कोली आदि। शिल्पकार शिल्प विशेष में प्रवीण होते हैं और पैतृक कार्यों को सम्पन्न करते हैं। कुमायूं के शिल्पकार जातियों को एटकिन्स ने चार वर्गों में विभाजित किया है (एटकिन्स १८८६, ४४५)। प्रथम श्रेणी में लोहार, कोली, टम्टा एवं धारिस, द्वितीय श्रेणी में रुरियांस, चिन्पास, आगरिस, पहरिस एवं भूल, तृतीय श्रेणी में चमार, मोची, खुरियांस, हडियांस एवं चतुर्थ श्रेणी में बारी, हुडकिया, दर्जी टोली, डुमजोगी तथा भाड़ है। सनवाल ने अपने अध्ययन में शिल्पकार (डोम) को तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम स्तर में परम्परागत शिल्प एवं अन्य कार्य करने वाली जातियां। निम्न स्थान में परम्परागत

डा० खड्ग बहादुर सिंह, प्राध्यापक समाजशास्त्र, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पिथौरागढ़।

शिल्प विहीन तथा अन्धों को मनोरंजन प्रदान करने वाली जातियां । उच्च एवं निम्न के मध्य में परम्पागत रूप से बाजा बजाने वाली जातियां आती हैं । (सनवाल—१९७६-१८) इन जातियों में परस्पर अस्पृश्यता पायी जाती है । कार्य एवं संबंधों के आधार पर डाक्टर सनवाल ने डोम जाति को दो भागों में बांटा है ।

१—खलैत २—मन्गरबानी या हुड़की बाडी ।

खल का तात्पर्य होता है फसल का एक भाग । अर्थात कृषि कार्य करने पर फसल का एक भाग पाने का जो अधिकारी होता है उसे खलैत कहते हैं । इस श्रेणी में कौली एवं टम्टा, लोहार, आगरी, औड़, बाड़ी, पीरी, चिमारी या चुन्यार हान्की, चन्याल, हली खरी, ढोली एवं दमाई हैं ।

मन्गरबानी डोम में हुरकी, बाडी, मिरासी एवं नट सम्मिलित किये जाते हैं । सनवाल (१९७६-७८) ने शिल्प के आधार पर शिल्पकार जातियों को दो भागों में विभाजित किया है—शिल्प युक्त जातियाँ एवं शिल्प विहीन जातियाँ । शिल्प युक्त जातियों में लोहार, कोली, टम्टा, बढ़ई, औड़ एवं लावड हैं तथा शिल्प विहीन जातियों में ढोली, दमाई, औड़ आदि जातियाँ हैं । शिल्पयुक्त जातियां शिल्प विहीन जातियों से अपने को श्रेष्ठ मानती हैं । (सनवाल १९७६,३०) ।

शिल्पकारों में अवयस्कों की कमी

शिल्पकारों के ७२ परिवारों में ४२७ सदस्य निवास करते हैं । प्रति परिवार में ५.९३ सदस्यों का औसत है । आयु के आधार पर जनसंख्या का वितरण ज्ञात किया जाय तो ५ वर्ष की आयु तक ५७ बालक-बालिकायें हैं । ५ वर्ष से लेकर १५ वर्ष की आयु समूह तक ७६ बालक, बालिकायें, १५ से १८ वर्ष तक ४९ बालक, बालिकायें हैं । १८ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक की आयु समूह में २१३ व्यक्ति हैं । सम्पूर्ण जनसंख्या का ४२-६२ प्रतिशत अवयस्क है । जिनसे अपेक्षा की जाती है कि उत्पादन का कार्य नहीं होगा । ४९-८८ प्रतिशत व्यक्ति १८ वर्ष से ६० वर्ष की आयु समूह के हैं जो कार्यशील होंगे । सरकारी सेवाओं में अवकाश की आयु ५८ वर्ष है अतः ५८ वर्ष की आयु तक व्यक्ति कार्यशील रहता है । लगभग ५० प्रतिशय व्यक्ति इस समूह में आते हैं । ६० वर्ष से अधिक आयु के केवल ७-२६ प्रतिशत व्यक्ति हैं । इन परिवारों में अवयस्क व्यक्तियों की संख्या में कमी परिवार नियोजन कार्य-क्रमों का प्रयास एवं छोटा परिवार रखने की भावना का परिणाम प्रतीत होता है ।

प्रदेश की जनसंख्या के स्त्री पुरुष अनुपात से भिन्न अनुपात पिथौरागढ़ में परिलक्षित होता है । प्रदेश में पुरुषों की जनसंख्या स्त्रियों से अधिक है किंतु पिथौरागढ़ में स्त्रियों की जनसंख्या पुरुषों से अधिक है । यहाँ प्रति हजार पुरूषों पर महिलाओं की संख्या १०५५ है । किंतु शिल्पकारों में भिन्नता प्रतीत होती है । ७२ परिवारों के सर्वेक्षण में ४२७ व्यक्ति हैं । इनमें पुरुषों की संख्या २३६ है तथा महिलाओं की संख्या १९१ है । इस प्रकार सम्पूर्ण जनसंख्या की

४४.९ प्रतिशत महिलायें हैं तथा ५५.१ प्रतिशत पुरुष है एवं लड़कियों की जन्मदर कम पाई गयी है। बालिकाओं की संख्या से प्रमाणित होता है कि लड़कियां पैदा भी कम होती हैं। स्त्री, पुरुषों के अनुपात की वास्तविक स्थिति का ज्ञान और विस्तृत क्षेत्र के आधार पर करना वांछनीय होगा। अगर स्त्रियों की संख्या पुरुषों की तुलना में कम है तो अन्य सामाजिक समस्याओं एवं व्यवास्थाओं के संबंध में तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं। निम्नांकित सारिणी द्वारा लिंग के आधार पर जनसंख्या के विवरण से यह तथ्य प्रमाणित होते हैं कि स्त्रियों की संख्या पुरूषों से कम है।

सारिणी-१

आयु एवं लिंग के आधार पर जनसंख्या का विवरण

लिंग	५ वर्ष तक	५ से १८	१८ से ६०	६० से अधिक	योग
पुरुष	३२	६९	११६	२२	२३६
महिला	२५	५६	१००	१०	१९१
योग	५७	१२५	२१३	३२	४२७

एकाकी परिवारों की अधिकता

शिल्पकारों में प्रायः छोटे परिवारों पाये जाते हैं। संयुक्त परिवारों की कमी पायी जाती है। अध्ययनित ७२ परिवारों में से दो ऐसे हैं जिनको परिवार की परिधि में रखा ही नहीं जा सकता है। इन दोनों गृहों में एक-एक व्यक्ति निवास करते हैं। २ एवं ४ संख्या वाले २१ परिवार हैं तथा ५ से लेकर १० सदस्य वाले ४१ परिवार हैं। १० से अधिक सदस्य वाले ४ परिवार हैं। १६ सदस्यीय परिवार सबसे अधिक सदस्य वाला परिवार है। इन परिवारों में पुरुष अपने जन्मित परिवार के साथ अपने कार्य स्थान पर रहते हैं और व्यवहारिक रूप में एकाकी परिवार की ही श्रेणी में आते हैं। यदि इन परिवारों के सदस्य एक साथ रहते तो हो सकता है कि वे पृथक हो गये होते। अध्ययनित ७२ परिवारों में से ४१ परिवार एकाकी हैं और केवल २२ परिवार ही संयुक्त हैं। ९ परिवारों को परिवार की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती क्योंकि इन परिवारों में परिवार निर्माण कर्ता पुरूष या स्त्री कोई भी जीवित नहीं है इस प्रकार एकांकी परिवारों की संख्या ५० हो जाती है। सम्पूर्ण परिवारों का ६९.४ प्रतिशत एकांकी है तथा ३०.६ प्रतिशत ही संयुक्त है।

आर्थिक स्थिति

पर्वतीय क्षेत्रों में निर्धनता की कल्पना निम्न तथ्यों से की जा सकती है। आय की दृष्टि से सम्पूर्ण जनसंख्या को ५ भागों में विभाजित किया गया है। २०० रुपये से ५०० रुपये तक

१००० रुपये से १५०० रुपये तक एवं २००० रुपये एवं अधिक मासिक आय वाले परिवार। २०० रुपये प्रतिमाह की आय न्यूनतम है। कोई भी परिवार जिसमें आय के साधन अगर कुछ भी नहीं हैं और एक व्यक्ति भी मजदूरी करता है तो आय प्रतिमाह प्रति परिवार २०० रुपये से अधिक होगी। एक मजदूर को लगभग १० रुपये प्रतिदिन मजदूरी मिलती है। यदि मजदूर कारीगर है तो उसको प्रतिदिन २० रुपये से लेकर ३० रुपये तक प्राप्त होते हैं। अध्ययनित परिवारों में केवल २९.१ प्रतिशत ही २०० रुपये आय समूह में हैं। २०१ से ५०० रुपये तक के आय समूह में सर्वाधिक ४३ प्रतिशत परिवार आते हैं। ५०१ रुपये से अधिक तथा १००० रुपये तक की आय समूह में परिवार हैं जो सम्पूर्ण परिवार संख्या का २०.८ प्रतिशत है। २००० रुपये आय वाले ३ परिवार हैं। तथा २००० रुपये से अधिक आय वाले २ परिवार हैं जिनका प्रतिशत क्रमशः ४.१ एवं २.८ है। ५०० रुपये प्रतिमाह से अधिक आय वाले २७.७ प्रतिशत परिवार हैं। ऐसे परिवारों को निर्धन नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार अधिकांश (७०.९) प्रतिशत शिल्पकारों की आर्थिक स्थिति दयदीय नहीं है। अपितु अन्य जाति के व्यक्तियों की भांति जीवन यापन करते हैं। निम्नांकित सारिणी में आय के आधार पर परिवारों की संख्या प्रदर्शित की गयी है।

सारिणी–२

आय के आधार पर परिवारों या विवरण

आय समूह	परिवारों की संख्या	प्रतिशत
२०० रु० तक प्रतिमाह आय वाले परिवार	२१	२९.१
२०१ से ५०० तक आय वाले परिवार	३१	४३.०
५०१ रु० से १००० रु० तक आय वाले परिवार	१५	२०.८
१००० से २००० रु० तक आये वाले परिवार	३	४.२
२००० से अधिक आय वाले परिवार	२	२.९
योग	७२	१००.०

जातिगत व्यवसाय से निम्न व्यवसाय

जातिगत व्यवसाय एवं अन्य व्यवसायों में प्रायः शिल्प विशेष में विशेषता प्राप्त रहती है। भारत के अन्य क्षेत्रों की भांति यहां पर भी शिल्पकार जाति का व्यक्ति जातिगत व्यवसाय सम्पन्न करता है। किन्तु जातीय व्यवसाय के अतिरिक्त कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें जाति का बन्धन नहीं है। सभी जाति के व्यक्ति कृषि करते हैं। अध्ययनित ७२ परिवारों में सभी परिवार कृषि करते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि कार्य प्रायः महिलायें ही करती हैं। कृषि सम्बन्धी कार्यों में पुरुष केवल हल चलाता है। पुरुष नौकरी करता है, तथा जातीय व्यवसाय करता है या अन्य कोई कार्य करता है। यही कारण है कि कृषि कार्यों में पुरुष को

देखा नहीं जाता । २३६ कार्यशील स्त्री पुरुषों में १२८ स्त्री पुरुष कृषि कार्य से सम्बद्ध हैं जो सम्पूर्ण कार्यशील जनसंख्या का ५४.६ प्रतिशत है। कृषि कार्य में संलग्न स्त्री, पुरुषों में पुरुषों का अनुपात केवल १९.५ प्रतिशत है। प्रायः कृषि-कार्य में वे ही व्यक्ति संलग्न होते हैं जो सेवा अवधि पूर्ण करके अवकाश प्राप्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं अथवा जिन्हें कोई सेवा प्राप्त नहीं हुई। १३१ कार्यशील पुरुषों में सेना में १५ पुरुष कार्य करते हैं। इस क्षेत्र के व्यक्तियों के लिये सेना में प्रवेश सरल होता है। सेना में कार्य करने वालों का प्रतिनिधित्व-११.६ प्रतिशत है। ६ व्यवित अध्यापन का कार्य करते हैं। अन्य नौकरियों में २० व्यक्ति संलग्न हैं। एक महिला दायी का भी कार्य करती है। बढ़ईगीरी, सिलाई एवं मजदूरी का कार्य करने वालों की संख्या क्रमशः ९,१२ एवं ४४ है। मजदूरी में कुशल एवं अकुशल दोनों प्रकार के व्यवित हैं। महिलाओं में सभी कृषि कार्य करती हैं केवल दो महिलायें ऐसी हैं जो कृषि से सम्बन्धित नहीं है। एक महिला सिलाई का कार्य करती है, और दूसरी महिला परि-चारिका (दाई) का कार्य करती है। निम्नांकित सारिणी में व्यावसायिक स्थिति का उल्लेख किया गया है जिससे इस क्षेत्र में शिल्पकारों की व्याव्सायिक स्थिति का परिचय होता है।

सारिणी-३
व्यावसायिक स्थिति

व्यवसाय	पुरुष संख्या	प्रतिशत	स्त्री संख्या	प्रतिशत	योग प्रतिशत
कृषि	२५	१९.५	१०३	९८	५४.६
बढ़ईगीरि	९	६.८	—	—	
सिलाई	१२	९.१	१	१	
मजदूरी	४४	३३.५	—	—	
सेना	१५	११.४	—	—	
अध्यापन	६	४.५	—	—	
अन्य नौकरी	२०	१५.३	१	१	
योग	१३१	१००.०	१०५	१००	

आर्थिक स्थिति

सभी परिवारों में केवल दो युवकों के सम्बन्ध में बेरोजगारी का उल्लेख किया गया है जिसमें एक युवक की शिक्षा ८ वीं तथा दूसरे की शिक्षा १० वीं तक है। इस क्षेत्र में शिल्प-कारों में बेरोजगारी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई कार्य करता है और जीविकोपार्जन करता है। परिवारों में प्रायः एक व्यक्ति नौकरी करता है। इस क्षेत्र की विशेषता यह है कि प्रत्येक परिवार से कोई न कोई व्यक्ति सेना या अन्य किसी नौकरी में अवश्य है और प्रत्येक व्यक्ति के पास कृषि योग्य भूमि भी है। सरकार अनुसूचित जाति एवं जनजाति के व्यक्तियों

को विविध प्रकार की सहायता–सुविधा प्रदान करती है तथा आर्थिक स्थिति के सुधार हेतु अनुदान देती है। अन्त्योदय कार्य-क्रम, समन्वित ग्रामीण विकास योजना तथा पर्वतीय सहायता विकास योजना के अन्तर्गत अनुदान प्रदान किया जाता है जिसमें कुछ धन सहायता के रूप में तो कुछ धन ऋण के रूप में प्रदान किया जाता है। अध्ययनित ७२ परिवारों में से २३ परिवारों को अनुदान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार ३३.४ प्रतिशत परिवारों को अनुदान प्राप्त हुआ है। इन २३ परिवारों में ३६६५० रुपया वितरित किया गया है। अनुदान प्राप्त करने वाले परिवारों ने ५०० रुपये से लेकर २००० रुपये तक का अनुदान प्राप्त किया है।

अध्ययनित ७२ परिवारों में २०० रुपया की आय वाले परिवारों की संख्या २१ है किन्तु इन २१ परिवारों में सभी को अनुदान प्राप्त नहीं हुआ है अपितु केवल १० परिवारों को अनुदान प्राप्त हुआ है। ५०० रुपये तक आय समूह के ३१ परिवारों में से ९ परिवारों को ऋण प्राप्त हुआ है। १००० रुपये तक आय वाले १५ परिवारों में से ३ परिवारों को अनुदान प्राप्त हुआ है तथा २००० रुपये से अधिक आय समूह वाले परिवारों को भी अनुदान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार निम्न आय वालों में ४७.४ प्रतिशत ही अनुदान प्राप्त कर सके हैं शेष ५२.६ प्रतिशत को अनुदान प्राप्त नहीं हुआ है। अपेक्षाकृत अधिक आय वाले व्यक्ति सम्पूर्ण अनुदान प्राप्त करने वालों में ५६.५ प्रतिशत हैं। अनुदान का आधार केवल निर्धनता ही प्रतीत नहीं होती। निम्नांकित सारिणी में आय समूह के अनुसार ऋण प्राप्त व्यक्तियों का विवरण अंकित है।

सारिणी–४

आय समूह के आधार पर ऋण प्राप्तकर्ताओं की संख्या

आय वर्ग	संख्या
२०० रुपये तक	१०
५०० रुपये तक	९
१००० रुपये तक	३
२००० रुपये से अधिक	१

ऋण वितरण पशुपालन, भवन निर्माण, भूमि सुधार, मुर्गी पालन, सिलाई मशीन, लोहारगीरी, सुअर बाडा, एवं विवाह आदि के लिए किया गया है। भवन के निमार्ण हेतु २००० रुपये तथा सुअर के आवास निर्माण हेतु भी २००० रु० ऋण प्रदान किया गया है। ऋण वितरण ५०० रुपये से लेकर २५०० रुपये तक किया गया है। भवन निर्माण हेतु ५०० रुपये से लेलर २५०० रुपये तक ऋण प्रदान किया गया है। इसी प्रकार पशु पालन हेतु भी ५०० रुपये से लेकर २५०० रुपये तक का ऋण प्रदान किया गया है। पशु पालन हेतु ५०० रुपये या १००० रुपये तक की धनराशि अल्प है। इतनी धनराशि में मुर्गी पालन कार्य हो सकता है किन्तु सारिणी क्रमांक ५ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि मुर्गी पालन हेतु २००० रु० से अधिक

का अनुदान प्राप्त हुआ है तथा पशु पालन हेतु ५०० रुपये एवं १००० रुपये तक प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार भवन निर्माण हेतु ५०० रुपये अल्प है। २००० रुपये से एक कमरा भी नहीं बन सकता। अतः अनुदान का दुरुपयोग ही हो सकता है। निम्नांकित सारणी के अवलोकन से यह स्पष्ट हो सकता है।

सारिणी ५

ऋण राशि एवं उसका उद्देश्य

ऋण प्रदान करने का उद्देश्य	ऋण की मात्रा ५०० रू० तक	१००० रू० तक	२००० रू० तक	२००० रू० से अधिक	योग
भवन निर्माण	१	१	—	१	३
पशुपालन	१	२	२	३	८
भूमि सुधार	१	—	—	—	१
सिलाई मशीन	—	२	—	—	२
बगीचा	—	३	—	—	३
लोहारगीरी	१	—	—	२	३
मुर्गी पालन	—	—	—	२	२
विवाह	—	—	१	—	१
योग	४	८	३	८	२३

अनुदान एवं ऋण का पूर्ण भुगतान न होना

सभी व्यक्तियों को निर्धारित ऋण का भुगतान नहीं हुआ है। अधिकांश व्यक्तियों को ऋण सुलभ करने वाले कर्मचारियों को अंश देना पड़ता है। इसी प्रकार से सम्पन्न व्यक्तियों को भी ऋण प्राप्त होता है। उदाहरण के रूप में एक शिल्पकार परिवार ने, जिसमें एक व्यक्ति प्रथम श्रेणी का राजपत्रित अधिकारी है तथा एक व्यक्ति सेना में हवलदार है तथा एक व्यक्ति अध्यापक है, लोहारगीरी हेतु ५०० रू० का ऋण प्राप्त किया जिसमें से १०५ रुपये उसने ऋण प्रदान करने वाले कर्मचारियों को दिया। ऋण प्राप्त करने का उद्देश्य अपनी व्यवसायिक स्थिति में सुधार करना ही नहीं होता अपितु सरकारी धन प्राप्त कर के अपनी अन्य आवश्यकताओं पूरा करना या अन्य कार्यों में अपव्यय करना है।

शैक्षिक स्थिति

भारतवर्ष में अशीक्षितों की संख्या अधिक है। उत्तर प्रदेश में सम्पूर्ण जनसंख्या का केवल २७.४० प्रतिशत ही शीक्षित है जब कि पिथौरागढ़ में, ३७.९५ प्रतिशत शीक्षित है। लिंग के

आधार पर भी भिन्नता है। पुरुषों में शीक्षितों की संस्था अधिक है एवं महिलाओं में अशीक्षितों की संख्या अधिक है। अध्ययनित ७२ परिवारों में ४२७ व्यक्तियों में शिक्षा की स्थिति स्पष्ट की जाय तो यहाँ पर ३६.८ प्रतिशत व्यक्ति शीक्षित है किन्तु यह निष्कर्ष यथार्थ से भिन्न होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में ५ वर्ष की आयु के पूर्व किसी बालक या बालिका का विद्यालय जाना कठिन होता है। पर्वतीय क्षेत्रों में जहां मार्ग की असुविधा है प्रायः बालक एवं बालिकायें ५ वर्ष से लेकर ७ वर्ष की आयु से विद्यालय जाना प्रारम्भ करते हैं। इस आधार पर १०७ बालक एवं बालिकायें इस प्रत्याशा में विद्यालय जा सकते हैं कि सम्पूर्ण जनसंख्या से पृथक कर दिया जाय तो शीक्षित और अशीक्षितों की श्रेणी में ३२० पुरुष एवं स्त्री आती है और इन्हीं के आधार पर शिक्षा की स्थिति की जानकारी प्राप्त करना यथार्थ होगा। इस प्रकार ३२० स्त्री पुरुषों में १८३ स्त्री पुरुष अशीक्षित की स्थिति में आते हैं। अशिक्षा की स्थिति ५०-९४ प्रतिशत है। साक्षरता ४९.०६ प्रतिशत है। पुरुषों में ७३-६ प्रतिशत साक्षर हैं तथा महिलाओं में केवल १५ प्रतिशत ही साक्षर हैं। पुरुषों में प्राथमिक शिक्षा से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक शिक्षा प्राप्त है। किन्तु महिलाओं में केवल एक ही महिला स्नातक है। कुछ महिलायें प्राथमिक स्तर तक ही शीक्षित हैं तो कुछ महिलायें पूर्व माध्यमिक स्तर तक ही शीक्षित हैं। शिक्षा की दृष्टि से शिल्पकारों की स्थिति अन्य जाति के व्यक्तियों के सदृश्य प्रतीत होती है। अतः शिक्षा के आधार पर उनको पिछड़ा हुआ नहीं समझा जा सकता।

सन्दर्भित पुस्तकें

एटकिन्सन, इ. जे. एच. १९७३ दी हिमालियन गजेटियर-वो० २ और ३, भाग प्रथम, द्वितीय एवं तृतीयः कास्यो पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

क्रुक, डब्लू. १८९६ ट्राइब एवं कास्ट आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज आफ आगरा एवं अवध वो० २ : सुपरिन्टेन्डेट, गवर्नमेन्ट प्रिन्टिंग।

गैरोला, टी. डी. १९२२ दी कास्ट एण्ड सब कास्ट इन गढ़वाल : जनरल आफ यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी-वो० १५।

घुरिये, जी. एस. १९५७ कास्ट एण्ड क्लास इन इन्डिया : पापुलर बुक डिपो, बम्बई।

हट्टन, जे. एच. १९६३ कास्ट इन इन्डिया (फो र्थ इ०) : आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी-प्रेस

जोशी, एल. डी. १९२९ खस फेमिली ला आफ हिमालियन डिस्ट्रिक्ट आफ यू० पी० आफ इन्डिया : गर्वनमेन्ट प्रेस, इलहाबाद।

मजूमदार, डी० एन० १९६१ रेसेज एण्ड कल्चर्स-आफ : इन्डिया, एशिया पबलिशिंग हाउस।

मजूमदार, डी० एन० १९६२ हिमालियन पोलिएन्ड्री : एशिया पबलिशिंग हाउस ।

पाण्डे, बी० डी० १९३७ कुमायूँ का इतिहास, अल्मोड़ा ।

पन्त, एस० डी० १९३५ दी सोशल इकानामी आफ हिमालयास : जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन ।

परमार, वाई० एस० १९७५ दी हिमालयन पोलिएन्ड्री

रिजले, एस० एच० १९६९ दी पीपुल्स आफ इन्डिया:ओरियन्टल बुक रिप्रिन्ट कारपोरेशन दिल्ली

सनवाल, एन० डी० १९७६ सोशल (स्ट्रैटीफिकेशन) इन रूरल कुमायूं : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली ।

आदिवासी अर्थ संरचना में परिवर्तन

(मिर्जापुर के खरवार आदिवासियों पर आधारित एक अर्थशास्त्रीय विश्लेषण)

बैज नाथ सिंह

मिर्जापुर जनपद उत्तर प्रदेश के दक्षिण पूर्वांचल में २३°–५२' से २५°–३२' उत्तरी अक्षांश एवं ८२°–७' से ८३°–३३' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थिति है। इसके उत्तर में जौनपुर और वाराणसी जनपद, दक्षिण में मध्य प्रदेश का सरगुजा, पूर्व में बिहार का पलामू, पश्चिम में इलाहाबाद तथा मध्य प्रदेश का रींवा जनपद है। विन्ध्य पर्वत से आच्छादित यह क्षेत्र उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा जनपद है। इसका क्षेत्रफल ११३०१ कि० मी० है। जनपद के दक्षिणांचल में आदिवासियों की बहुतायत है। जिनमें खरवार गोंड़, माझी, कोल आदि प्रमुख आदिवासी निवास करते हैं मिर्जापुर आर्थिक दृष्टि से एक औद्योगिक केन्द्र माना जा सकता है। १० बृहद् उद्योग एवं ३० लघु उद्योग यहाँ की आर्थिक संरचना को सुदृढ़ बना रहे हैं।

जनपद का दक्षिणांचल (कुल क्षेत्रफल का ३० प्रतिशत भाग) इस उपसंभाग में सन्निहित है। इस क्षेत्र में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जन जातियों की अधिकता है। आर्थिक दृष्टि-कोण से यह क्षेत्र धनी तथा यहां के लोग निर्धन माने जाते हैं। उद्योगीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ कुछ प्रगति भी दृष्टिगत है। यह पूरा संभाग खनिज सम्पदाओं एवं वन संसाधनों से परिपूर्ण है, जिसका आर्थिक संरचना में विशिष्ट स्थान है।

वर्तमान से ३० वर्ष पूर्व इस जनपद की आर्थिक संरचना पराम्परागत ही रही है। कृषि कार्य ही मुख्य आधार था। परन्तु वर्तमान में औद्योगीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव यहां के निवा-सियों पर पड़ा है। प्रस्तुत अध्ययन में १०० खरबार आदिवासियों को अध्ययन का केन्द्र बनाया गया है। इनसे इनके पितामह काल, पिता काल एवं स्वयं के आधार पर प्राप्त किये गये आँकड़ों के विश्लेषण से ही निष्कर्ष निकाले गये हैं। अध्ययन की मुख्य समस्या यह है कि क्या आदि-

श्री बैज नाथ सिंह, प्राचार्य, बजरंग महाविद्यालय, कुण्डा (प्रतापगढ़)

वासी अपनी परम्परागत अर्थ संरचना में परिवर्तन लाये हैं यदि हां तो उसका स्वरूप क्या है ? अध्ययन की एकमात्र उपकल्पना यह है कि जैसे-जैसे परिवेश की अर्थ सरंचना में परिवर्तन होता है वैसे-वैसे वहां के निवासियों की अर्थ व्यवस्था भी परिवर्तित होती है। इसका सत्यापन निष्कर्ष में किया जायगा।

खरवार जनजाति मिर्जापुर की प्रमुख जनजातियों में से है। कर्नल डाल्टन[1] ने मिर्जापुर के अदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति का विश्लेषण किया है। मिर्जापुर में कुल दो लाख आदिवासी रहते हैं जो कि कुल जनसंख्या के ४७.५ प्रतिशत हैं। खरवार जनजातियां क्षत्रिय होने का दावा करती हैं। अपने उद्भव के स्रोत क्षत्रियता में निहित मानते हैं तथा उनके अनुरूप अपने सामाजिक जीवन को संचालित करते हैं, यह प्रक्रिया श्रीनिवासन के अनुसार संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की पुष्टि करती है।[2]

आदिवासी अर्थ व्यवस्था सरल अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत आती है। ऐतिहासिक पुनरावलोकन के आधार पर स्पष्ट होता है कि आदिवासी अर्थ व्यवस्था निर्वाहलअर्थ-व्यवस्था (Subsistance Economy) से संबन्धित होती है। यह अर्थ व्यवस्था निर्वाह से संबन्धित होती है। यह अर्थ व्यवस्था निर्वाह से संबन्धित आवश्यकताओं को जुटाने में केन्द्रित होती है, जिसके माध्यम से भौतिक शरीर जीवित रहता है। विश्व के प्रत्येक समाज में एक निश्चित आर्थिक संगठन पाया जाता है जो प्रायः दो वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग में सरल अर्थ व्यवस्था एवं द्वितीय वर्ग में जटिल अर्थ व्यवस्था होती है। इस प्रकार आदिवासी अर्थ-व्यवस्था प्रथम सरल अर्थ व्यवस्था के प्रकार के अन्तर्गत आती है। आदिवासी प्रायः जंगलों एवं पहाड़ों में अपना जीवन यापन करते हैं जो मूल रूप से खेती एवं जंगली-संसाधनों पर आधारित अर्थ व्यवस्था होती है। एक आदिवासी समूह में आखेटक, पशुपालन, कृषक, खाद्य-संकलन आदि तत्व अर्थ संचरना में एक साथ भा पाये जाते हैं। मजुमदार एवं मदन ने आर्थिक दृष्टि से भारतीय आदिवासियों को विभिन्न स्तरों में विभाजित किया है। (१) भारतीय आदिवासियों का एक बड़ा भाग वनों पर निर्भर करता है। इनमें से अधिकांश जनजातियां वन प्रदेशों में तथा उनके निकट निवास करती हैं। खाद्य सामग्री एकत्रित करना ही इनकी अर्थ व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। (२) दूसरे स्तर में वे आदिवासी समूह आते हैं जिनकी अर्थव्यवस्था खाद्य संग्रहण तथा आदिम कृषि व्यवस्था के मध्य की है। (३) तीसरे स्तर में वे समूह आते हैं जो किसी न किसी रूप से कृषि पर आश्रित होने के साथ-साथ निकट के वनों से वन संसाधन का संचय करते हैं। इस स्तर के समूहों को दो उप श्रेणियों में विभाजित किया गया है। (अ) स्थानान्तरण कृषि करने वाली जनजातियां (ब) स्थायी कृषि करने वाली जनजातियां। (४) चतुर्थ स्तर में उन समूहों को रखा जा सकता है जो उद्योग से आकर्षित होकर परम्परागत व्यवसायों को छोड़ कर औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्य तलाश करने लगे हैं।[3]

भारतीय आदिवासी अर्थ व्यवस्था के संदर्भ में विभिन्न मानवशास्त्रियों में इनकी संरचना

के विकास के स्तरों की विवेचना की है। मजुमदार ने इनके विकास के स्तर को निम्नवत् प्रस्तुत किया है। प्रथम शिकारी अवस्था जो क्रमशः झूम कृषि एवं स्थायी कृषि अवस्था की ओर बढ़ती चली गई।[४] श्यामाचरण दुबे ने विकास क्रम को खाद्य संकलन, अस्थायी कृषि, स्थायी कृषि, पशुपालन, विशेष उद्योग पर आधारित एवं अपराध पर आधारित अर्थ व्यवस्था के रूप में निर्धारित किया है।[५] दास ने विमुक्त खाद्य संकलन, झूम कृषि, हलवाही कृषि, हिन्दू व्यवस्था से लगभग जुड़े हुये एवं हिन्दू अर्थ व्यवस्था से पूर्णतया जुड़ी हुई अर्थव्यवस्था के रूप में विश्लेषित किया है।[६] भारतीय संदर्भ में आदिवासी अर्थ व्यवस्था संबन्धी वैज्ञानिक अध्ययन का श्रेय सर्व प्रथम दो अर्थशास्त्रियों, प्रथम डी० एस० नाग तथा इन्हीं पद्धति पर आधारित आर० सी० सक्सेना को जाता है।[७]

पारिस्थितकीय के आधार पर आदिवासी अर्थ व्यवस्था, आदिवासी और उनके प्राकृतवास (Habitat) के बीच होने वाले समायोजन का एक अंग है। अर्थव्यवस्था मुख्यतः खाद्य सामग्री के संकलन, संरक्षण एवं अति जीविता के साधन जुटाने की आवश्यकता से संबन्धित है। प्राकृतवास पर आदिवासियों की निर्भरता एवं प्रौद्योगिक रूप से पिछड़ापन आदिवासी समाज के पारम्परिक अर्थ व्यवस्था की विशेषताओं से युक्त समझा जा सकता है। हमारा सैद्धांतिक दृष्टि प्रारूप यह है कि इनकी परम्परागत विशेषतायें यदि वर्तमान बदलते संदर्भ में नवीन विशेषताओं को प्रदर्शित करती हैं तो इन्हें हम इनकी अर्थ संरचना के बदलते प्रतिमान के रूप में समझेंगें।

आदिवासी अर्थ व्यवस्था के बदलते प्रतिमान

प्रस्तुत अध्ययन में केवल व्यवसाय के परिवर्तन को ही अर्थ संरचना में परिवर्तन के रूप में विश्लेषित किया गया है। इसे व्यावसायिक गतिशीलता के रूप में भी समझा जा सकता है। परम्परागत व्यवसाय से विमुखता ही परिवर्तन का द्योतक माना गया है। सारणी संख्या १ से स्पष्ट होता है कि अधिकांश ३० प्रतिशत आदिवासियों के परम्परागत व्यवसाय कृषि श्रमिक, २० प्रतिशत के पशुपालन, १५ प्रतिशत के खाद्य सामग्री का संकलन, १० प्रतिशत के लकड़ी काटना एवं भिक्षा मांगना तथा पशुपालन है। अतः कहा जा सकता है कि आदिवासियों के परम्परागत व्यवसाय कृषि श्रमिक खाद्य सामग्री का संकलन, लकड़ी काटना, पशुपालन आदि रहा है।

सारणी संख्या २ से स्पष्ट है कि वर्तमान समय में अधिकांश उत्तरदाताओं में ३० प्रतिशत के घर वाले कृषि करते हैं तथा ४५ प्रतिशत के परिवार में घरेलू उद्योग जैसे बीड़ी बनाना, चटाई बनाना, डलिया बनाना आदि, १० प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में लोहे का कार्य होता है। अतः कहा जा सकता है कि अधिकांश आदिवासियों के परिवार में कृषि एवं घरेलू उद्योग होता है।

सारणी संख्या १ एवं २ के तुलनात्मक अवलोकन से स्पष्ट होता है कि आदिवासियों के परम्परागत घरेलू अर्थ संरचना में मूलभूल परिवर्तन आया है। पारम्परिक रूप से जहाँ

लकड़ी काटना, खाद्य संकलन, पशुपालन आदि व्यवसाय से लोग विमुख हुये हैं वहीं उद्योग एवं कृषि की ओर उन्मुख हुये हैं। तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि आदिवासियों के अर्थ संरचना में मूलभूत परिवर्तन आया है।

सारणी संख्या १

परम्परागत घरेलू व्यवसाय

	व्यवसाय	आवृत्ति	प्रतिशत
१	कृषि श्रमिक	३०	३०.००
२	पशुपालन	२०	२०.००
३	खाद्य सामग्री का संकलन	१५	१५.००
४	कृषि	१०	१०.००
५	लकड़ी कटना	१०	१०.००
६	भिक्षा मांगना	१०	१०.००
७	घरेलू उद्योग	५	५.००
	योग	१००	१००.००

सारणी संख्या २

वर्तमान घरेलू व्यवसाय

१	कृषि	३०	३०.००
२	घरेलू उद्योग	४५	४५.००
३	लोह का कार्य	१०	१०.००
४	पशुपालन	५	५.००
५	भिक्षा मांगना	५	५.००
६	छोटी दूकानें	३	३.००
७	खाद्य संकलन	२	२.००
	योग	१००	१००.००

आदिवासियों की व्यावसायिक गतिशीलता

वर्तमान विश्लेषण में पैत्रिक व्यवसाय से विमुखता एवं नवीन व्यवसाय की ओर उन्मुखता ही व्यवसायिक गतिशीलता के प्रतिमानों को प्रदर्शित करेगी। सारणी संख्या–३ से स्पष्ट है कि अधिकांश ४० प्रतिशत उत्तरदाताओं के पिता कृषि श्रमिक थे, १५ प्रतिशत के पिता वन

सम्पदासंकलन एवं घरेलू उद्योग का कार्य करते थे, १० प्रतिशत उत्तरदाताओं एवं १२ प्रतिशत उत्तरदाताओं के पिता कृषि एवं कत्था बनाने का कार्य करते थे। अतः तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अधिकांश उत्तरदाताओं के पिता कृषि श्रमिक का कार्य करते थे। सारणी संख्या–४ से स्पष्ट होता है कि हमारे उत्तरदाताओं से अधिकांश ३० प्रतिशत उत्तरदाता कृषि का कार्य एवं २५ प्रतिशत उत्तरदाता उद्योग में कार्य करते हैं, ५ प्रतिशत नौकरी एवं २० उत्तरदाता कृषि श्रमिक का कार्य करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि अधिकाँश उत्तरदाता कृषि, नौकरी एवं उद्योग से संबन्धित हैं। सारणी संख्या ३ एवं ४ के तुलनात्मक अवलोकन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी अपने पैतृक व्यवसाय से विमुख तथा नौकरी एवं उद्योग की ओर उन्मुख हुये हैं।

सारणी–३-४

पैत्रिक व्यवसाय एवं उत्तरदाताओं का वर्तमान व्यवसाय

व्यवसाय	पैत्रिक		वर्तमान	
	आवृत्ति	प्रतिशत	आवृत्ति	प्रतिशत
१ कृषि	१२	१२	३०	३०
२ कृषि श्रमिक	४०	४०	२०	२०
३ घरेलू उद्योग	१५	१५	५	५
४ खाद्य संकलन	१५	१५	५	५
५ नौकरी	५	५	५	१५
६ कत्था बनाना	१०	१०	५	५
७ बाजार में कार्य	२	२	५	५
८ उद्योग में	१	१	२५	२५
योग	१००	१००	१००	१००

निष्कर्ष

आँकड़ों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में पैतृक व्यवसाय एवं परम्परागत व्यवसाय की पुनरावृत्ति करने के संबन्ध में लोगों की प्रवृत्तियाँ बदल रही हैं। लगता है वर्तमान आदिवासी परम्परागत व्यवसाय से असंतुष्ट दिखलायी पड़ते हैं। वर्तमान आदिवासियों के व्यवसाय बाह्य समाज से सम्पर्कजन्य हैं तथा परम्परागत व्यवसाय अपने प्राकृतवास से संबंधित रहे हैं। बढ़ते हुये उद्योग एवं नगरीकरण का प्रभाव उनकी बदलती अर्थ संरचना पर स्पष्ट देखा जा सकता है। कृषि श्रमिक से कृषि की ओर एवं खाद्य संकलन, लकड़ी काटने आदि से उद्योग की ओर उन्मुख दिखायी पड़ते हैं। अतः कहा जा सकता है कि वर्तमान सामाजिक आर्थिक परिवेश के बदलते संदर्भ में आदिवासियों में आर्थिक प्रस्थिति चेतना विकसित

हुयी है। इस तरह हमारी उपकल्पना सत्यापित होती है कि बाह्य परिवेश की अर्थ संचरना विकसित होने पर आदिवासी अर्थ संरचना भी प्रभावित होती है।

संदर्भ

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, ड्रैक डी० एल० ब्राकमैन पब्लिस, डब्लू सी एबल सुपरिटेंडेंट गवर्नमेंट प्रेस, वालूम XX ८, १९११

२. श्रीनिवास, एम० एन०, आधुनिक भारत जातिवाद तथा अन्य निबन्ध, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल १९६९

३. मजूमदार, डी० एन०, रेसेज़ एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया, एशिया पब्लिकेशन हाउस, बाम्बे १९६१

४. आपसिट......डी० एन० मजुमदार

५. दुबे, श्यामाचरण, मानव और संस्कृति–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९८२ पृष्ट २२८

६. दास, टी० सी०–ए लेक्चर डेलीवर्ड इन फोर्थ ट्राइबल वेलफेयर कांफ्रेंस, अप्रैल, मई १९६७ कोरापुट

७. नाग, डी० सी०–ट्राइबल एकोनामी, एण्ड एकोनामिक स्टडी आफ बैगा, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ–नई दिल्ली १९५८, सक्सेना, आर० पी०–ट्राइबल एकोनामी इन सेन्ट्रल इण्डिया फर्मा, के० एल०, मुखोपाध्याय–कलकत्ता १९६४

बहुपत्नी विवाही जनजाति–कोरकू : नातेदारी के कुछ विशिष्ट स्वरूप

अशोक डी० पाटिल

कोरकू जनजाति–संक्षिप्त परिचय

कोरकू मध्यप्रदेश की प्रमुख जनजाति है। जनसंख्या की दृष्टि से यह इस प्रदेश की चौथी बड़ी जनजाति है। कोरकू मुख्यत: बैतूल, पूर्व-निमाड:, खण्डवा:, देवास, सरगुजा, छिंदवाड़ा, होशंगाबाद, सीहोर एवं रायसेन जिलों के पर्वतीय अंचलों में निवास करते हैं।

कोरकू छोटानागपुर के कोलीय जनजातीय समूह के अन्तर्गत आने वाली एक जनजाति है। अतीत में इस समूह की अनेक जनजातियों का छोटे-छोटे कबीलों के रूप में विभिन्न क्षेत्रों में प्रसार हुआ है। कोरकू भी इसी तारतम्य में अन्य कोलीय जनजातियों के साथ रायगढ़, सरगुजा, बिलासपुर, माण्डला, सिवनी होते हुए छिंदवाड़ा, बैतूल, होशंगाबाद व पूर्व–निमाड़ जिले में प्रसारित हुए हैं। परिभ्रमण के इस पथ की पुष्टि इन जिलों में कोलीय जनजातियों यथा कोल, कोरवा, खरिया आदि की उपस्थिति से होती है।

कोरकूओं की बोली (जोकि कोरकू ही कहलाती है) बोलियों के 'कोलीय' समूह के अन्तर्गत आती है। कोरकू शब्द की रचना दो शब्दों–कोरो एवं कू को संयुक्त करके की गई है। कोरकू बोली में कोरो का अर्थ मनुष्य होता है तथा कू बहुवचन बोधक है। इस प्रकार कोरकू शब्द का शाब्दिक अर्थ "मनुष्यों का समूह" है।

कोरकू अथवा पोथड़िया

वर्तमान में कोरकूओं का एक जातीय संस्तर 'पोथड़िया' कहलाता है। अतीत में यही इस जनजाति का वास्तविक नाम था। पोथड़िया के स्थान पर कोरकू नाम तो तब प्रतिस्थापित हुआ जब उन्हीं में से एक समूह राजपूत, मराठा व गोंड़ जमींदार–जागीरदारों के सम्पर्क में आकर स्वयं को राजकोरकू : राज+कोरो+कू अर्थात् राज्य करने वाले मनुष्यों का समूह :

अशोक डी० पाटिल, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग, शासकीय कन्या महाविद्यालय, खण्डवा (म० प्र०)।

कहने लगे । ऐसा वे इसलिये कर पाये क्योंकि इनमें से कुछ कोरकू जमींदारियां व जागीरदारियां प्राप्त करने में सफल हो गए थे । इस परिप्रेक्ष्य में राजकोरकूओं के अतिरिक्त अन्य कोरकू "पोथड़िया कोरकू" कहलाने लगे । कालांतर में प्रचलन के दौरान पोथड़िया–कोरकू के स्थान पर केवल कोरकू का प्रयोग ही बहुतायत से किया जाने लगा । आज स्थिति यह है कि इस जनजाति के अविकसित संस्तर को पोथड़िया कहा जाता है और सम्पूर्ण जनजाति केवल कोरकू नाम से ही जानी जाती है ।

कोरकू अर्थ–व्यवस्था

प्राय: एक शताब्दि पूर्व तक कोरकू जंगल जलाकर स्थानांतरित कृषि करते थे । अब स्थानांतरित कृषि इनके लिये सर्वत्र निषिद्ध कर दी गई है । वनों के राष्ट्रीयकरण तथा शिकार पर प्रतिबन्ध के कारण जीवन-निर्वाह हेतु वनोपज तथा वन्य पशुओं के मांस पर इनकी निर्भरता बहुत कम हो गई है । कुछ कोरकू अब स्थायी कृषि करने लगे हैं जबकि अन्य आजीविका हेतु कृषि के साथ-साथ मजदूरी (कृषि सम्बन्धी), कृषेत्तर मजदूरी, नौकरी – वन विभाग, रेल विभाग, जनकार्य विभाग, शिक्षक, किराना दुकान पर कार्य आदि । कृषि के साथ साथ व्यवसाय–सुतारी, दर्जीगिरी, किराना व्यापारी, पान की दुकान आदि पर अवलम्बित हो गए हैं ।

पारिवारिक संरचना

कोरकू जनजाति में प्रचलित प्रथा के अनुसार एक पुत्र अपने माता-पिता के साथ तब तक रहता है जब तक कि उसका विवाह न हो जाए । विवाह के पश्चात वह पृथक गृहस्थी बसा लेता है । इस प्रथा के कारण केवल सबसे छोटा पुत्र ही विवाहोपरान्त माता-पिता के साथ रहता है । यही कारण है कि परिवार में पुत्रों के विवाह के बावजूद मूल परिवार का स्वरूप तब तक एकाकी ही बना रहता है जब तक कि सबसे छोटे पुत्र का विवाह न हो जाए ।

कोरकू जनजाति में वधूमूल्य के आधिक्य तथा प्रतिकूल आर्थिक स्थितिवश 'लमझना' विवाह (सेवा विवाह) का प्रचलन बढ़ रहा है । परम्परानुसार सेवा की अवधि १२ वर्ष है जिसमें से प्रथम वर्ष परिविक्षा का होता है ।

गृहिणी के अतिरिक्त आजीविका भी अर्जित करने की भूमिका के कारण कोरकू जनजाति में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से श्रेष्ठ है, यद्यपि परिवार का स्वरूप पितृस्थानीय, पितृसत्तात्मक व पितृवंशीय ही है । स्त्री की आर्थिक उपादेयता के कारण ही कोरकू पुरुष एक से अधिक पत्नियां रखने की आकांक्षा रखते हैं । कोरकू पुरुष-स्त्री का वधूमूल्य चूका कर खरीदी हुई स्त्री मानता है । अत: अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से उससे घर गृहस्थी के कार्य, ईंधन व वनोपज के संग्रह, कृषि कार्य के अतिरिक्त मजदूरी भी करवायी जाती है । इस परिप्रेक्ष्य में उसका पति उसकी सुख-सुविधा, विश्राम, स्वास्थ्य व उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की दिशा में जागरूक न रहकर अत्यन्त उदासीनता का व्यवहार करता है । फलत: पति-

पत्नी सम्बन्ध प्रायः तनावपूर्ण पाये जाते हैं तथा स्त्री वर्तमान से अधिक सुख-सुविधाओं की अपेक्षा से वर्तमान पति को त्याग कर किसी अन्य पुरुष से "पाटो-ब्याव" करने में संकोच नहीं करती है। नवीन पति द्वारा त्याज्य पति को वधूमूल्य का आधा भाग चुका देना सामाजिक दृष्टि से पर्याप्त मान लिया जाता है। बहुपत्नीत्व के कारण कोरकू स्त्री सौत के प्रति किसी प्रकार की उल्लेखनीय ईर्ष्या नहीं रखती। एक सदस्य के बढ़ जाने से श्रम व आर्थिक तंगाई से कुछ राहत की ही आशा उसे बंधती है।

'पाटो-ब्याव' की प्रथा के कारण कोरकू जनजाति में नातेदारी के अनेक जटिल व विशेष स्वरूपों का प्रचलन पाया जाता है।

पितृत्व का प्रकार

कोरकू स्त्रियों द्वारा अपने पति का परित्याग एवं किसी अन्य के साथ पुनर्विवाह (पाटो-ब्याव) कर लेना एक सामान्य घटना मानी जाती है। पति का परित्याग करते समय वह केवल उस शिशु को अपने साथ ले जाती है जो गोदी का है। यह शिशु पोषण और देखभाल की दृष्टि से उस पर ही आश्रित होने के कारण वह उसे अपने साथ रखती है और परंपरानुसार इसमें न तो उसका त्याज्य पति और न ही नवीन पति बाधक बनता है। शेष बच्चे पूर्व पति के पास ही रह जाते हैं। जो शिशु पत्नी के साथ चला जाताहै उसके साथ उसका वास्तविक (जैविक) पिता पितृत्व सम्बन्धों को समाप्त कर देता है। इसके विपरीत यदि उसकी किसी पत्नी के साथ उसके पूर्व पति का कोई पुत्र अथवा पुत्री हो तो वह उस शिशु का सामाजिक पितृत्व ग्रहण कर लेता है। चूंकि वह पुत्र उसकी पत्नी का पुत्र/पुत्री है अतः वह शिशु उसका द्वितीय स्थानीय सम्बन्धी होने के बावजूद सामाजिक पितृत्व ग्रहण करने के कारण कोरकू नातेदारी व्यवस्था में वह शिशु के प्रति प्रथम स्थानीय नातेदार के समान ही दायित्वों का निर्वाह करता है। यह प्रकरण दत्तक लिये जाने वाले पुत्र अथवा पुत्री के समकक्ष न होकर सर्वथा भिन्न स्थिति रखता है।

नातेदारी के स्वरूप

कोरकू जनजाति में प्रचलित नातेदारी के स्वरूपों को उनके गुणों व प्रकृति के आधार पर निम्नानुसार देखा जा सकता है—

१ अधिग्रहित नातेदारी

इस नातेदारी के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के उन बच्चों का समावेश होता है जो उसकी पत्नी के पूर्व (त्याज्य) पति द्वारा होते हैं। उसकी पत्नी द्वारा पूर्व पति से तलाक व अब उसके साथ 'पाटो-ब्याव' (पुनर्विवाह) के कारण सम्बन्धित हुए हैं, उसके साथ रह रहे हैं व जिनका उसने सामाजिक पितृत्व ग्रहण किया है। इसी प्रकार उन बच्चों के लिये उनका नवीन पिता, इस पिता के सम्बन्धी और सौतेले भाई-बहन, सौतेली मां अधिग्रहित नातेदार होंगे। इनके

अतिरिक्त स्त्री की दृष्टि से पूर्व पत्नी के बच्चे, विद्यमान सौत के बच्चे अधिग्रहित नातेदार होंगे।

२ द्वैध नातेदारी

यदि एक व्यक्ति समान गुण रखने वाले दो व्यक्तियों के साथ समान सम्बन्धों से सम्बद्ध होता है तथा इन दो सम्बन्धियों में से एक सम्बन्धी वास्तविक प्राथमिक सम्बन्धी और दूसरा अधिग्रहित नातेदार हो तो इसे 'द्वैध' नातेदारी' कहेंगे। इन सम्बन्धों के अंतर्गत वास्तविक भाई/बहन व सौतेले भाई/बहन, वास्तविक पुत्र/पुत्री व सौतेला पुत्र/पुत्री आते हैं।

३ खण्डित नातेदारी

कोरकू जनजाति में किसी स्त्री द्वारा अपने पति को त्याग कर अन्य पुरुष के साथ 'पाटो-ब्याव' कर लेना हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता। ऐसी स्त्री यद्यपि पूर्व पति और बच्चों को त्याग कर उनके साथ सम्बन्धों को समाप्त कर देती है परन्तु उस स्त्री का पिता सम्बन्धों के इस विच्छेद को अंशतः ही स्वीकार करता है। दामाद के साथ सम्बन्ध विच्छेद को तो वह स्वीकार कर लेता है परन्तु दामाद के साथ रह रहे अपनी लड़की के बच्चों के साथ वह अब नाती-सम्बन्ध को जारी रखता हैं। इन नातियों और लड़की के दूसरे पति से उपजित बच्चों को वह समान दृष्टि से देखता है तथा उन्हें समान धरातल पर रखता है। अतः पति को त्यागने वाली लड़की के माता-पिता और इस लड़की के बच्चों (जोकि उसके पूर्व पति के साथ ही रहे हैं) के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को 'खण्डित नातेदारी' कहा जाना चाहिये।

४ क्षेपित नातेदारी

नातेदारी के उपरोक्त प्रकारों के अतिरिक्त कोरकू जनजाति में एक अन्य प्रकार की विशिष्ट नातेदारी पाई जाती है। किसी पत्नी द्वारा पति का त्याग करने पर वह जिन बच्चों को अपने साथ ले जाती है उन बच्चों के साथ उनका वास्तविक पिता अपने सम्बन्ध मुख्यतः दो कारणों से त्यागता है। प्रथम उनके पालन पोषण के दायित्व से बचना तथा द्वितीय, सम्पत्ति में उन्हें हिस्से की मांग करने से रोकना। इस प्रकार औपचारिक अथवा बाह्य रूप से उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है परन्तु वे भली भांति जानते हैं तथा इस दिशा में जागरूक भी रहते हैं कि वे पिता-पुत्र अथवा पिता-पुत्री के रूप में सम्बन्धित हैं। इस प्रकार नातेदारी को 'क्षेपित-नातेदारी' कहना उपयुक्त होगा।

५ विच्छेदित नातेदारी

इस नातेदारी के अन्तर्गत वे नातेदार आते हैं जो उन प्रथम स्थानीय नातेदारों के माध्यम से सम्बन्धित थे जिनके बीच अब सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है। इस विच्छेद के फलस्वरूप इनके माध्यम से सम्बन्धित नातेदारों का सम्बन्ध भी टूट जाता है। उदाहरण स्वरूप, पति पत्नी के बीच सम्बन्ध विच्छेद के कारण पत्नी का अपनी सास, श्वसुर, देवरानी, जेठ, जेठानी,

नन्द, नन्दोई, भाँजे, भतीजे और इसी प्रकार इन सबका उसके साथ बहू, भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मामी आदि के रूप में सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार दामाद के रूप में उसका सास, श्वसुर, साले-साली और इन दोनों के माता-पिता का समधी-समधिन के रूप में भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। व्यावहारिक रूप से सम्बन्ध विच्छेद के बावजूद भावनात्मक रूप से सम्बन्धों के प्रति जागरूकता तो फिर भी बनी ही रहती है। इस जागरूकता का परिचय विविध आयोजनों में मिलने पर उनके पारस्परिक व्यवहारों से मिलता है। अतः इस नातेदारी को 'विच्छेदित-नातेदारी' कहा जाना ही अधिक उपयुक्त होगा।

नातेदारी व्यवहार : परिहार का एक विशेष स्वरूप

ऋतुकाल में रजस्वला अविवाहित लड़कियों के लिए एक विशिष्ट परिहार का अवलोकन कोरकू जनजाति में किया जा सकता है। अविवाहित लड़कियां ऋतुकाल में दिन का समय घर में व्यतीत नहीं कर सकती। दिन का अधिकांश समय वे घर के पीछे स्थित बाड़ी में व्यतीत करती हैं और रात्रि में बरामदे में सोती हैं। इस अवधि में उन पर यह बंधन रहता है कि वे ५ दिन तक अपने पिता व बड़े भाईयों का मुख नहीं देख सकती। इस अवधि में उन्हें न तो इनकी ओर देखना चाहिये, न इनके समक्ष जाना चाहिये और न ही उनसे बात करना चाहिये। आवश्यकता होने पर वे माता के माध्यम से बात कर सकती है। इस अवधि में वे न तो किसी का स्पर्श कर सकती हैं, न जल भर कर ला सकती हैं और न ही खाना बना सकती हैं। परन्तु घर-आंगन व बर्तनों की सफाई निषिद्ध नहीं होती है। यह कार्य वे तब करती हैं जबकि परिवार के अन्य लोग खेतों पर अथवा मजदूरी पर जाते हैं। इन दिनों वे न तो किसी पूजा में भाग लेती हैं, न बलि आदि दे सकती हैं। देब स्थानों का स्पर्श भी वर्जित रहता है। इसी प्रकार पेड़ों से फल तोड़ना, लकड़ी काटना, मछली मारना आदि भी निषिद्ध रहता है। वे मांसाहार और मद्यपान भी नहीं कर सकती।

उपरोक्त परिहार का प्रचलन सम्भवतः निम्नांकित कारणों से हुआ है—

१ विशिष्ट परिवर्तन के फलस्वरूप सहज लज्जा।

२ अविवाहित लड़कियों को इस अवधि में आवश्यक गोपनीयता प्रदान करने के लिये।

३ दुष्टात्माओं एवं अन्य हानिकारक प्रभावों से रक्षा करना।

छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत थारू जनजाति में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का विश्लेषण एवं मूल्यांकन

आर० के० वर्मा

सामान्यतः 'प्रौढ़ शिक्षा' शब्द का प्रयोग १५-३५ वर्ष आयु वर्ग के निरक्षरों को संगठित रूप से शिक्षा देने की शिक्षा प्रणाली के लिये किया जाता है। राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य समाज के निरक्षर निर्बल वर्ग में वयस्कों की दशा में सुधार लाना है जिससे वे अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को सुन्दर एवं समुन्नत बनाते हुये राष्ट्र की विकास धारा में समुचित योगदान दे सकें।[1] अतः प्रौढ़ शिक्षा का मुख्य उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन को आपेक्षिक गति देना है। विकासोन्मुखी सामाजिक परिवर्तन वैज्ञानिक मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण विज्ञान एवं प्राद्यौगिकी के विकास पर आधारित होता है, परन्तु विज्ञान एवं प्राद्यौगिकी में विकास जितनी गति से होता है, उतनी तीव्र दर से सामाजिक व्यवहार परिवर्तित नहीं होते हैं। इसका कारण सामाजिक संरचना एवं सांस्कृतिक मूल्य हैं जिनमें नैरन्तर्य की प्रबल क्षमता होती है।

छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास के लिये शिक्षा में निम्न चार उद्देश्यों को वरीयता दी गयी है।[2]

१. व्यक्ति को उत्तरदायी नागरिक बनाना।
२. वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विकास करना जिससे कि व्यक्ति वैज्ञानिक कार्यप्रणाली एवं दृष्टिकोण अपना सके और उनके अन्दर अधिकारों एवं जिम्मेदारी की चेतना जागृत हो सके।
३. मौलिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाना, जिससे देश को उच्च स्थान मिल सके।
४. ज्ञान, प्रवीणता, दक्षता एवं कार्य कुशलता के मूल्यों को विकसित करना, जिससे देश के उत्पादन के कार्यक्रम को तीव्र किया जा सके।

छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना में शिक्षा के विस्तार पर अधिक बल दिया गया है। योजना आयोग ने शिक्षा के तीनों पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया है अर्थात्-उद्देश्य, लक्ष्य

आर० के० वर्मा, शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

निर्धारण एवं कार्य प्रणाली : योजना आयोग ने स्पष्ट किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को मूलभूत शिक्षा प्राप्त हो जिसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं महिलायें मुख्य हैं। द्वितीयक स्थान पर निरक्षरता निराकरण के लिये "प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम" को स्वीकार किया गया है। छठी पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने शिक्षा के लिये २,५२४ करोड़ रुपये[3] का लक्ष्य निर्धारित किया है जिसमें प्रौढ़ शिक्षा के लिये १२८ (५ प्रतिशत) करोड़ रुपये का प्रविधान है। इसके लिये ६० करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार के स्तर से एवं ६८ करोड़ रुपये[4] प्रान्तीय सरकार से परिव्यय होना है।[5] वर्ष १९८२-८३ तक ६१ करोड़ रुपये (४७.७ प्रतिशत) व्यय करने का लक्ष्य था। जबकि अन्य दो वर्षों में ६७ करोड़ रुपये (५२.३ प्रतिशत) व्यय करने की योजना थी। छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह अनुमान लगाया गया कि वर्ष १९९० तक निरक्षरता समाप्त हो जायेगी। प्रधानमंत्री के नये २० सूत्री कार्यक्रम में भी अंक–१६ पर "बड़े बूढ़ों को शिक्षा" कार्यक्रम निर्धारित किया गया है। "मूलभूत आवश्यकता कार्यक्रम" में भी शिक्षा कार्यक्रम सम्मिलित किया गया है तथा प्रायः यह नारा लगाया जाता रहा है कि—

"प्रौढ़ शिक्षा है जहां, विकास है वहाँ।"

उत्तर प्रदेश सरकार ने "मूलभूत आवश्यकता कार्यक्रम" के अन्तर्गत प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम पर वर्ष १९७८-८३ तक की योजना के लिये ६०६.०० लाख रुपये का वित्तीय लक्ष्य निर्धारित किया था जब कि दो वर्ष पश्चात वर्ष १९८३-८५ के समय में ४८१.२४ लाख रुपये की योजना निर्धारित की है।

भारत में सामाजिक विचारकों व समाज सुधारकों के द्वारा प्रौढ़ शिक्षा में मुख्यतः ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा की वकालत की गयी है जबकि विकास प्रक्रिया में समानता के आधार पर बल दिया जाता।

उत्तर प्रदेश और साक्षरता

वर्ष १९८१ की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश की जनसंख्या १११०,८८५,८७४ है। जिसमें ५८,७९३,०७३ पुरुष एवं ५२,०९२,८०१ महिलायें हैं। प्रदेश की ग्रामीण जनसंख्या ९०,९१२,६५१ में ८७,९७४,५३६ पुरुष एवं ४२,९३८,११५ महिलायें हैं। इस प्रकार ८१.९९ प्रतिशत व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं। हमारे प्रदेश की निरक्षरता दर २७.४० प्रतिशत है जिसमें पुरुष ३८.९० प्रतिशत एवं महिलायें १४.४० प्रतिशत हैं। ग्रामीण क्षेत्र की साक्षरता दर २३.३४ प्रतिशत में पुरुष ३५.४० एवं महिलायें ९.८५ प्रतिशत हैं। १९७१ की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों की सांक्षरता १४.५९ प्रतिशत है।

बहराइच, जनपद फैजाबाद मण्डल का एक जनपद है। जिसकी जनसंख्या १९८१ जनगणना के अनुसार २,२२१,१५४ है। इसमें १,१९६,९९३ पुरुष एवं १,०२४,१६१ महिलायें सम्मिलित हैं। इस जनपद की साक्षर जनसंख्या ३६४,४९५ में २९९,९६४ पुरुष एवं ६४,५३५ महिलायें हैं। इस जनपद की ग्रामीण जनसंख्या २,०६१,६५ है, जिसमें २९७,७१७ साक्षर है। इसमें २५९,३८५ पुरुष एवं २४,२०३ महिलायें हैं। जनपद की साक्षरता दर

१६.४१ है और लगभग २० प्रतिशत लोग अनुसूचित जाति/जनजाति के हैं। इसमें थारू जनजाति का बाहुल्य है जिनके परिवार ५६४७ हैं, जंगलों में झोपड़ियां एवं कच्चे मकान बनाकर निवास कर रहे हैं। इनमें दो वर्ग होते हैं एक जिनके पास कृषि योग्य भूमि है–किसान एवं दूसरे जिनके पास कृषि योग्य भूमि नहीं है और मजदूरी करके अपनी जीविका चलाते हैं, कमुइयां कहलाते हैं। थारू समाज आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ है, जबकि सरकार ने अनुसूचित जाति/जनजाति एवं महिलाओं के विकास पर अधिक ध्यान देने का लक्ष्य बनाया है।

शोध कार्य की रूप रेखा

यह अध्ययन उत्तर प्रदेश राज्य के फैजाबाद मण्डल के बहराइच जनपद में रह रहे थारू परिवारों पर आधारित है। सर्वेक्षण में जनपद के मोतीपुर, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के चार ग्रामों क्रमशः बर्धिया, बिशुनपुरी, फकीरपुरी एवं रमपुरवा (फकीरपुरी) को लिया गया है। इन ग्रामों में थारू परिवारों का बाहुल्य है।

प्राथमिक आंकड़ों का संकलन उपर्युक्त चारों ग्रामों में साक्षात्कार अनुसूची की सहायता से सौ परिवारों का सर्वेक्षण करके प्राप्त किया गया तथा एक परिवार से १५-३५ वर्ष आयु वर्ग के एक सदस्य को ग्रहण किया गया। घर के मुखिया को सर्वेक्षण में प्राथमिकता दी गयी तथा पुरुषों एवं महिलाओं दोनों का साक्षात्कार किया गया। घरों का चुनाव दैव निदर्शन के आधार पर एक घर छोड़कर किया गया है। विभिन्न ग्रामों से सारणी-१ के अनुसार निदर्शन प्राप्त किया गयां है।

सारणी--१
विभिन्न ग्रामों से लिया गया निदर्शन

क्रम सं०	ग्राम	कुल घरों की सं०	थारू परिवार	लिया हुआ निदर्शन पुरुष	महिलायें	कुल
१.	वर्धिया	६०	४९	२३	२	२५
२.	विशुनपुरी	३९	३९	२३	२	२५
३.	फकीरपुरी	८२	८२	३६	४	४०
४.	रमपुरवा (फकीरपुरवा)	२१	२१	८	२	१०

उपर्युक्त सारणी-१ से स्पष्ट है कि इन चारों ग्रामों में थारू जनजाति के परिवारों का बाहुल्य है। ग्रामों में परिवारों की संख्या क्रमशः ४९, ३९, ८२ एवं २१ है। इनमें से २५, २५, ४० एवं १० परिवारों को क्रमागत घरों के निर्देशन में चुना गया जिसमें ९० पुरुषों एवं १० महिलाओं का चुनाव संकलित है। विभिन्न ग्रामों से प्राप्त निदर्शन के चार आयु वर्गों क्रमशः १५—२०, २०—२५, २५—३० एवं ३०—३५ वर्ष में विभाजित किया गया है जिसका विवरण सारणी—२ से स्पष्ट हो जाता है।

सारणी—२
विभिन्न ग्रामों से आयु वर्गों से लिया गया निदर्शन

आयु वर्ग (वर्षों में)	बधिया ग्राम से	बिशुनपुरी ग्राम से	फकीरपुरी ग्राम से	रमपुरवा (फकीरपुरी ग्राम से)	कुल
१५—२०	०६	०७	१०	२	२५
२०—२६	०६	०६	१०	३	२५
२५—३०	०७	०६	१०	२	२५
३०—३५	०६	०६	१०	३	२५
कुल	२५	२५	४०	१०	१००

उपर्युक्त सारणी में प्रदर्शित क्रम में १५ से ३५ आयु तक के बधिया ग्राम के २५, विशुनपुरी के २५, फकीरपुरी के ४० एवं रमपुरवा (फकीरपुरी) ग्राम के १० परिवारों में से एक-एक व्यक्ति को लेकर १५--२०, २०--२५, २५--३० एवं ३०--३५ आयु वर्ग विभक्त कर (फकीरपुरी) ग्राम के १० परिवारों में से एक-एक व्यक्ति को लेकर १५-२०, २०-२५, २५-३५ एवं ३०-३५ आयु वर्ग में विभक्त कर सौ परिवारों के साक्षात्कार के लिये चुनाव किया गया।

शिक्षा का स्तर

एकत्रित आंकड़ों से पता चलता है कि इन ग्रामों में शिक्षा का स्तर अत्यन्त निम्न है जो एक चिन्ता का विषय है। सारणी-३ शिक्षा की विषम स्थिति को सरलता से प्रदर्शित करती है। थारू जनजाति में प्रौढ़ शिक्षा १७ प्रतिशत के लगभग है जिसमें महिलायें लगभग पूर्णतया निरक्षर हैं।

सारणी—३
प्रौढ़ शिक्षा

आयु वर्ग (वर्षों में)	लिया गया निदर्शन	अशिक्षित	थारू भाषीय	शिक्षित प्राइमरी तक	अपर प्राइमरी	कुल
१५–२०	२५	१८	०३	०३	०१	०७
२०–२५	२५	२०	०२	०२	०१	०५
२५–३०	२५	२२	०३	००	००	०३
३०–३५	२५	२३	०२	००	००	०२
कुल	१००	८३	१०	०५	०२	१७

उपर्युक्त सारणी—३ से पता चलता है कि १५-२० आयु वर्ग में प्रौढ़ शिक्षा २८ प्रतिशत, २०-२५ वर्ष आयु वर्ग में २० प्रतिशत, २५-३० आयु वर्ग में १२ प्रतिशत एवं ३०-३५ वर्ष आयु वर्ग में २% है। इस प्रकार ८३ प्रतिशत जनसंख्या निरक्षर है तथा १७ प्रतिशत जनसंख्या साक्षर है। इसमें १० प्रतिशत जनसंख्या उनकी स्वयं की भाषा "थारू भाषा" की पढ़ी है। कुल ५ प्रतिशत जनसंख्या प्राइमरी तक पढ़ी है केवल २ प्रतिशत अपर प्राइमरी तक पढ़ी है। सारणी—३ से यह भी स्पष्ट होता है कि जैसे जैसे आयु वर्ग कम होता जा रहा है शिक्षा बढ़ती जा रही है जबकि इन चारों ग्रामों में न ही कोई प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र है, और न ही कोई ग्रामवासी प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम से अवगत ही है।

योजना प्रगति

प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का लक्ष्य वर्ष १९९० तक निरक्षरता समाप्त करना था। वर्ष १९८०-८१ में २३ लाख लोगों को, १९८१-८२ में ३० लाख एवं वर्ष १९८२-८३ में ४५ लाख लोगों को साक्षर किया जाना है जोकि १५-३५ वर्ष आयु वर्ग की जनसंख्या का १.६० की दर से था। इस आयु वर्ग में अशिक्षितों की संख्या ११ करोड़ के लगभग है। शेष ९.५ करोड़ जनसंख्या को ७वीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत साक्षर बनाने की योजना है।

उत्तर प्रदेश में अनौपचारिक शिक्षा कार्यकम के अन्तर्गत साक्षरता योजना वर्ष १९७८-७९ से प्रचलित है। इस अवधि में शिक्षित हुये प्रौढ़ों की और अवशेष निरक्षर व्यक्तियों की स्थिति निम्नवत् हैं[७] —

१. वर्ष १९७१ की जनसंख्या के अनुसार १५-३५ वय वर्ग के निरक्षरों की संख्या = १.८० करोड़।

२. १.८० करोड़ का ६५ प्रतिशत जिन्हें छठी पंचवर्षीय योजना में शिक्षित किया जाना है = १.१७ करोड़।

३. उपर्युक्त अवधि में शिक्षित किये गये व्यक्तियों की संख्या—

(क)	वर्ष १९७८—७९	१,४०,७६१
(ख)	वर्ष १९७९—८०	१,१९,०६६
	कुल	२,५९,८२७

दिसम्बर १९८० के अन्त तक ९४८५ प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के माध्यम से २ लाख ४३ हजार ८८ प्रतिभागियों को साक्षर बनाया गया इनमें अनुसूचित जाति के ७,२१२५ एवं जनजाति के ६५४३ हैं। वर्ष १९८०-८१ में तीन-तीन सौ केन्द्रों की दो परियोजनाएं १० माह के लिए चलायी गयी। इसके अतिरिक्त एक सौ केन्द्रों की परियोजना चलायी गयी। हरिजन समाज कल्याण विभाग के सहयोग से "विशेष अंशदान योजना" के अन्तर्गत ३०० केन्द्रों में एक विशेष परियोजना लखनऊ जनपद में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के लिए चलायी गयी। इन चारों परियोजनाओं के माध्यम से ३०,००० निरक्षर प्रौढ़ों को लाभान्वित होना था। वर्ष

१९८०-८१ में १७७ हजार लोगों को प्रौढ़ शिक्षा दी गयी। वर्ष १९८१-८२ में ६८२ हजार" लोगों को साक्षर बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। जिसमें पूर्वानुमान के अनुसार शिक्षा प्राप्त हुयी, वर्ष १९८२-८३ में पुनः ६८२ हजार लोगों को साक्षर बनाने की योजना प्रस्तुत की गयी। इसके साथ साथ त्रिवर्षीय लक्ष्य २६९४ हजार "लोगों को साक्षर करना स्वीकार किया गया जिसे मूलभूत आवश्यक कार्यक्रम" के अन्तर्गत पूर्ण होना है।

कुल मिलाकर १२८ सहयोगी संस्थाओं के माध्यम से २१७१ प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र चलाये गये इनसे ६०६६३ व्यक्ति लाभान्वित हुये जिनमें १६५५४ अनुसूचित जाति एवं २२३१ अनुसूचित जनजाति के व्यक्ति थे। इतने अधिक प्रयास के बाद भी उत्तर प्रदेश अपने प्रौढ़ शिक्षालक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका। जैसा कि मूल्यांकन विभाग, राज्य नियोजन संस्थान, उ०प्र० लखनऊ ने अपने १९८०-८१ में हुये मूल्यांकन में स्पष्ट किया है, इस कार्यक्रम को उचित रूप में नहीं चलाया गया। यदा कदा कहीं कहीं प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र यदि स्थापित किये गये हैं तो वे शायद ही कभी खोले जाते हैं एवं उनमें केवल औपचारिक शिक्षा ही दी जाती रही है। इसके साथ साथ पर्यवेक्षकों/पर्यवेक्षिकाओं का चुनाव भी सही ढंग से नहीं हो पाया है। बहराइच जनपद में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की एक अजीबोगरीब स्थिति है। राज्य नियोजन संस्थान के/ मूल्यांकन विभाग द्वारा एक मूल्यांकन में निम्न तथ्य दृष्टिगोचर हुये—१ जनपद स्तरीय अभिलेख के अनुसार औसत मासिक व्यय = ४,०१० रुपये (१ १–४/८० से ३१/१२/८० तक)

परियोजना स्तरीय अभिलेख के अनुसार औसत मासिक व्यय = २४,७७० रुपये (१/४/८० से ३१/१२/८० तक)

कुल आबाद गांव जिनके लिये यह योजना चलायी गयी = १९३।

यह परियोजना बहराइच जनपद के नवाबगंज एवं जमुनहा विकास खण्डों में बाबागंज मुख्यालय पर जो कि जनपद मुख्यालय से ४८ किलोमीटर दूरी पर स्थित १९३ ग्रामों के लिये चलायी गयी थी। मूल्यांकन विभाग द्वारा मूल्यांकन करने पर केन्द्रों की स्थिति सारणी–४ के अनुसार प्राप्त हुयी—

सारणी—४

भ्रमण के समय केन्द्रों पर प्रौढ़ प्रतिभागियों की उपस्थिति, जनपद बहराइच

क्रम सं०	परियोजना केन्द्र का नाम	पंजीकृत प्रतिभागियों की संख्या	उपस्थिति प्रौढ़ प्रतिभागियों की संख्या भ्रमरवर प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पंचम
	बाबागंज						
१.	प्रताप पुरुष केन्द्र	४५	बन्द	बन्द	बन्द	बन्द	बन्द
२.	बलदानपुरवा पु.के.	५२	बन्द	बन्द	बन्द	१५	बन्द
३.	जलालपुर महि. के.	३१	६	बन्द	बन्द	१२	६
४.	चनैनी (पुरुष के.)	३०	बन्द	बन्द	बन्द	२४	बन्द

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि मात्र रजिस्टर में नामों का पंजीकरण है। न तो केन्द्रों को खोला जा रहा है और न ही उन्हें समुचित ढंग से चलाया ही जा रहा है। औसत केन्द्र खुलता केवल एक ही बार है। यह इस तथ्य की पुष्टि करता है कि इस कार्यक्रम पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है जबकि योजना आयोग ने निरक्षरता निवारण के लिए प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को द्वितीय प्राथमिकता दी है। बहराइच जनपद में नवीन योअनाओं के अन्तर्गत प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के लिए वर्ष १९८२-८३ में १ लाख १ हजार ७६० रूपये व्यय करने का लक्ष्य विकेन्द्रीकृत नियोजन के माध्यम से निर्धारित किया गया। वर्ष १९८२-८३ में प्रौढ़ शिक्षा का भौतिक लक्ष्य नवीन योजना के अन्तर्गत राज्य सरकार के संशोधनों से ग्रामीण कार्यात्मक साक्षरता योजना के अन्तर्गत लागू किया गया है। इस नवीन योजना के अन्तर्गत ६० प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के माध्यम से वर्ष १५-३५ आयु वर्ग के १८०० निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर एवं व्यवसायिक रूप से कुशल बनाया जायेगा।[८]

बहराइच जनपद में शिक्षा की दिशा में ग्रामीणों में चेतना जागृत हुयी है। जनपद में इस दशक के पूर्व प्राय: शिक्षा ग्रहण करने को निम्न दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन आज यद्यपि प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों का अभाव है, तथापि साक्षरता दर में ४.२२ प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुयी है जिनमें ५.२२ प्रतिशत पुरुष एवं २.०२ प्रतिशत महिलाएं हैं। पिछले दशक में जनसंख्या घनत्व बढ़ने के साथ साथ साक्षरता दर में भी वढ़ोत्तरी हुयी। वर्तमान दशक में अनुसूचित/जनजाति की संख्या २० प्रतिशत के लगभग है। अनुसूचित जाति/जनजाति की साक्षरता दर में भी परिवर्तन हुआ है परंतु यह इतना महत्वपूर्ण नहीं था। इसका कारण प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को सुचारु रूप से कार्यान्वित न किया जाना था। खास तौर पर अनुसूचित जनजाति की साक्षरता को उचित दिशा न दे पाने की एक प्रमुख समस्या हमारे सम्मुख आ खड़ी हुयी है। इसीलिये साक्षरता विकास की प्रक्रिया अत्यंत धीमी गति से चल रही है।

उपलब्धियाँ

इस अध्ययन की उपलब्धियों में प्रमुख छठी पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत थारू जनजाति में साक्षरता का मूल्यांकन है। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का परिगणन करने पर ज्ञात हुआ कि इस जनपद में यद्यपि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम सुचारु रूप से लागू नहीं हो पाया तथापि थारू जनजाति में साक्षरता में लगातार वृद्धि हुयी है। थारू जनजाति बाहुल्य ग्रामों में आयु वर्ग समूह घटने के साथ साथ साक्षरता का प्रतिशत बढ़ता गया है। आयु १५ से २० वर्ष वर्ग समूह में साक्षरता का प्रतिशत २८ प्रतिशत, २०-२५ आयु वर्ग में २० प्रतिशत, २५-३० आयु वर्ग में ३ प्रतिशत एवं ३०-३५ वर्ष आयु वर्ग में २ प्रतिशत है। इस प्रकार समकालीनता के साथ साथ प्रौढ़ शिक्षा के प्रतिशत में बढ़ोत्तरी होती जा रही है। वर्ष १९८२-८३ की बहराइच जनपद योजना में १,०१,७६० रुपये का परिव्यय का लक्ष्य नयी योजना एवं प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रतिनिहित किया गया है, जबकि वर्ष १९८०-८१ में प्रौढ़ केन्द्रों की हालत दयनीय थी। इस कार्यक्रम में ६० प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के माध्यम से १८०० निरक्षर

प्रौढ़ों को शिक्षा देने की योजना है। इसके साथ ही हरिजन समाज कल्याण विभाग के माध्यम से अनुसूचित जनजातियों के कल्याणार्थ १९८१-८२ में ३०,००० रुपये एवं १९८२-८३ में ३२,१०० रुपये परिव्यय करने का निश्चय किया गया था। शिक्षा योजना में वैज्ञानिक मनोवृत्ति के अभाव के कारण विकास प्रक्रिया अत्यंत क्षीण है तथा साक्षरता दर भी शोचनीय अवस्था में है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

उपर्युक्त सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि इन क्षेत्रों में प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों का पूर्णतया अभाव है। बाबागंज मुख्यालय के नवाबगंज एवं जमुनहा विकास खण्डों के अन्तर्गत केन्द्र खोले गये हैं जिनकी दशा अजीबोगरीब है। इसका प्रमुख कारण प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों का प्रचार उचित रूप से न हो पाना है। जबकि ग्रामीणों में इस चेतना का विकास स्वयमेव हो रहा है कि बिना शिक्षा के उनका विकास सम्भव नहीं है। इसी का प्रतिफल है कि इस क्षेत्र में यद्यपि प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्र अनुपलब्ध है। फिर भी प्रौढ़ शिक्षा का प्रतिशत युवा वर्ग के साथ साथ बढ़ता जा रहा है। प्रायः थारू जनजाति जंगलों में झोपड़ियों एवं कच्चे मकान बना कर रहते हैं तथा गैर थारू अन्य व्यक्तियों से भय एवं घृणा करते हैं जिसका कारण अपने को समाज से अलग समझना है। यही कारण है कि यह आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं।

प्रौढ़ शिक्षा का क्रियान्वयन सरकारी (केंद्रीय एवं प्रांतीय) जन संगठनों एवं विद्यार्थियों एवं अभ्यर्थियों, विश्वविद्यालय एवं कालेजों, नेहरू युवक केंद्रों के माध्यम से किया गया है। राष्ट्रीय सेवा योजना इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है, जबकि अधिक सीमा तक यह सड़क निर्माण, कुआँ खोदना, एवं ब्लीचिंग पाउडर डालना आदि के कार्यों की शिक्षा ग्रामीणों को देती रही है। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के क्षेत्र में भी यह संगठन विभिन्न विषयों के स्नातक एवं अवर स्नातक विद्यार्थी समूह बना कर गांवों में एक माह का प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम चला सकता है। यह कार्यक्रम केवल औपचारिक शिक्षा ही नहीं बल्कि खेती करने के ढंग, तकनीकी ज्ञान, बिमारियों से बचाव, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण कार्यक्रम, बैंकों से ऋण सुविधायें, फसल एवं पशुधन बीमा योजना, ग्रामीण पूर्ण एवं अर्ध रोजगार कार्यक्रम, कुटीर एवं गृह उद्योग आदि के बारे में जानकारी कराये जिससे ग्रामीणों में वैज्ञानिक मनोवृत्ति विकसित हो एवं ग्रामीण विकास को आपेक्षित गति प्राप्त हो सके। इस क्षेत्र में ग्रामीण क्षेत्र के कॉलेज अधिक सहयोग प्रदान कर सकते हैं। सरकार राष्ट्रीय सेवा योजना के सदस्यों एवं प्रौढ़ प्रतिभागियों को प्रोत्साहन तथा क्रियान्वयन के लिये यथेष्ट धन की व्यवस्था करे जिससे कार्यक्रम सुचारू रूप से चलाया जा सके। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में रोटरी क्लब एवं लायन्स क्लब की भी महत्वपूर्ण सहायता ली जा सकती है।

प्रायः यह कहा जाता है कि "प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत केवल औपचारिक शिक्षा ही दी जानी चाहिए जो एक भ्रमपूर्ण धारणा है। ग्रामीणों को औपचारिक शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उतनी ही सामान्य ज्ञान की भी है जिससे ग्रामीण यह जान सके कि उनके लिए विधान में कौन कौन सी सुविधाओं का प्रविधान है जो कानून के द्वारा उन्हें प्राप्त है। इसके

साथ साथ ही ग्रामीणों में राष्ट्रीय चेतना एवं प्रगतिशीलता के लिए भी कार्य किया जाना चाहिए, जिससे सामाजिक कल्याण विशेष रूप से अनुसूचित जाति/जनजाति तथा ग्रामीण महिलाओं के कल्याण को आदर्श रूप प्रदान किया जा सके।

संदर्भ ग्रन्थ

१. उत्तर प्रदेश में शिक्षा की प्रगति १९८०-८१ शिक्षा निदेशालय, उ. प्र. इलाहाबाद

२. छठी पंचवर्षीय योजना १९८०-८५ योजना आयोग, भारत सरकार

३. ड्राफ्ट छठी पंचवर्षीय योजना १९७८-८३ वार्षिक योजना वर्ष १९८०-८१ योजना विभाग उत्तर प्रदेश।

४. ड्राफ्ट छठी योजना १९८०-८५ वार्षिक योजना वर्ष १९८२-८३ (द्वितीय)

५. भारत की जनगणना, १९८१ (श्रेणी-१ पेपर-१)

६. उ० प्र० में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम १९८०-८१ (मार्च १९८१) मूल्यांकन विभाग राज्य नियोजन संस्थान, उत्तर प्रदेश लखनऊ।

७. जनपद वार्षिक योजना, जनपद बहराइच वर्ष १९८२-८३

८. सांख्यिकी पत्रिका, जनपद बहराइच, १९८२

पुस्तक समीक्षा

एस० सी० दुबे ऑन क्राईसिस एण्ड कमिटमेंट इन सोशल साईंसेज, सम्पादक, योगेश अटल, दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन्स, १९८३, पृष्ठ १०८, मूल्य ४५/– रुपये

समीक्षक—दीपक त्यागी, भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण, दक्षिणी क्षेत्र, मैसूर

सामाजिक विज्ञान प्रत्येक समाज (समुदाय) के उत्थान एवम् विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवम् उपयोगी होता है। इसकी अपनी एक भूमिका होती है और यदि वह उसे सही रूप से निभा पाये तो किसी भी समाज का उत्थान एवम् विकास सुदृढ़ तथा उत्तम हो सकता है। प्रोफेसर श्यामा चरण दुबे ने समय समय पर दिए अपने भाषणों तथा लेखों में सामाजिक विज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। सामाजिक विज्ञान का विकास के लिए क्या महत्व है तथा क्या होना चाहिए और हम वैज्ञानिकों (अनुसंधानकर्ताओं) की क्या भूमिका होनी चाहिए इस पर विचार व्यक्त किये हैं। प्रस्तुत पुस्तक प्रोफेसर दुबे द्वारा दिए गए कुछ भाषणों का व्यवस्थित संकलन है। योगेश अटल द्वारा सम्पादित इस पुस्तक की भूमिका (इन्ट्रोडक्शन) उन्हीं के द्वारा लिखी गई है। इसमें यह संकलन क्यों प्रकाशित किया गया, प्रोफेसर दुबे ने कहाँ-कहाँ कार्य किया और इस पुस्तक में क्या है, का एक चित्रण किया गया है। यहाँ सामाजिक विज्ञानों की क्या स्थिति है, इस का भी एक संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

पुस्तक का प्रथम लेख 'दि सोशल साइन्सेज: क्राइसिस एण्ड कमिटमेंट' है जिसमें सामाजिक विज्ञान में अन्तर्काल में हुए 'रोल' (Role) परिवर्तनों का वर्णन किया गया है जो आरम्भ में वर्णनात्मक थे तत्पश्चात् व्याख्यात्मक हो गये और फिर इसने व्यवस्थात्मक रोल अपना लिया। इसी में लेखक ने मैक्स मिलीकन के इस दृष्टिकोण, कि सामाजिक विज्ञान नीति, निर्माण करने वालों के निर्णय लेने की क्षमता को बढ़ा सकता है परन्तु उनको उत्तर नहीं दे सकता है' का समर्थन किया है। राष्ट्र निर्माण तथा आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए सामाजिक वैज्ञानिकों को अपनी क्षमता और समय पर ध्यान देना चाहिए, उनके कई रोल हैं। आवश्यकता है आज एक प्रथम श्रेणी के सामाजिक विज्ञान की जिनकी अवधारणा समुचित हो, विधि ठीक (परिपक्व) हो और सामाजिकी रूप से संगतपूर्ण हो। दूसरे लेख 'सोशल साईंसेज एण्ड सोशल रियलटीज: में सामाजिक विज्ञान, समाज, विकासशील समाजों तथा राष्ट्र निर्माण (विकास) पर चर्चा की गई है। मनुष्य के सामाजिक जीवन में कई क्षेत्र ऐसे हैं जिनके बारे

में सामाजिक वैज्ञानिक कुछ भी नहीं जानते हैं। क्या, कहाँ, कब कैसे और क्यों प्रश्न, प्रश्न ही हैं। लेख के दूसरे भाग में भारत में सामाजिक विज्ञान में शोध, सामाजिक विज्ञान की प्राथमिकताएं तथा विकासशील शोध कार्यक्षमता का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है।

तृतीय लेख 'इंडियन सोशियॉलजी एट दि टर्निंग प्वाइन्ट' में लेखक ने भारत में समाज-शास्त्र के बदलते स्वरूप की ओर इंगित किया है तथा नये परिवर्तन की ओर भी ध्यान दिया है। 'मानव विज्ञान तथा विकास की चुनौतियों' नामक चौथे लेख में लेखक ने भारत के मानव-विज्ञान में हो रहे परिर्वतनों का संक्षिप्त वर्णन किया है परन्तु मुख्य रूप से 'तीसरे विश्व' के संदर्भ में विकास में मानवविज्ञान की क्या भूमिका होनी चाहिए का बहुत अच्छा वर्णन किया है। लेखक के अन्तिम दो वाक्य बहुत अर्थ पूर्ण हैं। 'यदि हम इसको (डिसीप्लिन) एक शैक्षिक विषय-सुख के रूप में लेते रहेंगे तो यह शीघ्र ही (सामाजिक रूप से) अनावश्यक हो जायेगी। यदि यह अपने को सामाजिक रूप में उपयोगी बनाये रखने के साथ-साथ, समाज की नीतियों की कठिनाइयों को अर्थपूर्ण रूप से समझने की चेष्टा करेगी तो यह विधि में विश्वस्त तथा परिकल्पना में प्रचुर होगी।

पाँचवें लेख में सामाजिक शास्त्रों को भारतीयता का रूप देने पर जोर दिया गया है। भारत में विद्वानों की कोई कमी नहीं है परन्तु फिर भी हम पश्चिमीयता से प्रभावित ही नहीं बल्कि उनको अपना 'माडल' बनाते हैं। परन्तु आज आवश्यकता है भारतीय 'माडल' की, क्योंकि भारत की सामाजिक व्यवस्था, समाज और संस्कृति अपना एक अलग रूप रखते हैं और उन्हें समझने के लिए हमें आवश्यकता है एक विशिष्ट दृष्टिकोण की और वह तभी प्राप्त हो सकता है जब हम अपना विशिष्ट 'माडल' बनायें। आज भारतीय समाजशास्त्र में एक घुटन सी महसूस होने लगी है क्योंकि कुछ 'सैद्धान्तिक माडल' तथा 'अवधारण तंत्र' संदिग्ध से लगने लगे हैं और उनकी चर्चा की जा रही है अर्थात् एक चेतना उत्पन्न हो रही है जो एक अच्छा लक्षण है। आज की सामाजिक वास्तविकता की चुनौतियों को कितना समझा तथा प्रतिग्रहण किया है के आधार पर ही, हमें भविष्य में समझा जायेगा।

लेखक की पैनी दृष्टि तथा लेखन का एक और परिचय छठे लेख (सोशल साइंसेज इन-एट्टीज) में मिलता है। इसमें आगे क्या कार्य करने होंगे को बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है। हमें सामाजिक शास्त्रों की पाठ्यचर्या में परिर्वतन करना होगा और उन्हें तीसरे विश्व की कठिनाइयों से सम्बन्धित करना होगा। आज आवश्यकता है काम करने की, न कि प्रवचन देने की। अंतिम लेख 'चेलेंजेज टु इन्टलेक्चुअल क्राफ्टमैनशिप' में हमें क्या करना चाहिए और जो चुनौतियाँ हमारे सामने हैं उन्हें पूरा करने की कैसे चेष्टा करनी चाहिए। हमें क्या शोध करना चाहिए और किस प्रकार करना चाहिए, पर ध्यान देना होगा।

पुस्तक की लेखन शैली तथा शब्द चयन बहुत ही अच्छा है। इस छोटी सी पुस्तक में बहुत सी बातें भरी पड़ी हैं तथा संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर लेखक ने 'गागर में सागर' वाली उक्ति चरितार्थ की है। पुस्तक बहुत अच्छी लगी तथा आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है कि यह

सामाजिक शोधकर्ताओं, विद्यार्थियों तथा सामाजिक शास्त्रों में रुचि रखनेवाले सभी व्यक्तियों के लिए उपयोगी होगी। ज्यादा अच्छा होगा यदि लेखक या सम्पादक अपने बहुमूल्य समय से थोड़ा समय निकाल कर इसका हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित करें और यदि यह सम्भव न हो तो इसका सार एक लेख रूप में प्रकाशित करें जिससे हिन्दी जानने वाले लोग भी इसका लाभ उठा सकें। वास्तव में आज आवश्यकता है हमें अपने आप को देखने तथा चुनौतियों का सामना करने की। कठिनाइयों का समाधान खोजने के लिए हमें सामाजिक विज्ञान को एक दिशा देनी होगी यह ध्यान में रखते हुए कि इसका दृष्टिकोण भारतीय हो। इसको इस पुस्तक के द्वारा प्रस्तुत करने के लिए मैं लेखक तथा सम्पादक दोनों, का अभिनन्दन करता हूं।

दुर्खेम–एक अध्ययन, लेखक : ओम प्रकाश वर्मा, प्रकाशक : विवेक प्रकाशन, ७—यू० ए० जवाहर नगर, दिल्ली, पृष्ठ—४९५ द्वितीय संस्करण, १९८४, मूल्य रु० ६०

समीक्षक : **डा० रघुराज गुप्त**

निस्संदेह एमील दुर्खेम अध्ययन समाजशास्त्र के महान संस्थापकों में से एक हैं। प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री मेक्स वेबर के मुक़ाबले फ़्रांस के इस समाजशास्त्री को रखा जा सकता है, जिसने प्राचीन और आधुनिक समाज के विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक विवेचन किया। उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं : समाजशास्त्र के पद्धति के नियम, समाज में श्रम-विभाजन, आत्महत्या, धार्मिक जीवन के प्रारंभिक स्वरूप। समाजशास्त्र के किसी भी विद्यार्थी के लिए दुर्खेम की रचनाओं का अध्ययन और मनन जरूरी है।

हिंदी में यूं तो समाजशास्त्र पर दर्जनों पुस्तकें निकल चुकी हैं जो विद्यार्थियों के लिए मुख्यत: परीक्षा पास कराने के पासपोर्ट का काम करती हैं जिनमें मौलिकता और विद्वत्ता का सर्वथा अभाव है। ऐसे लेखक विरल हैं जो समाजशास्त्र के पंडित होने के साथ-साथ हिंदी भाषा पर भी अच्छा अधिकार रखते हों। संतोष और हर्ष का विषय है कि दुर्खेम के लेखक, ओम प्रकाश वर्मा इसका सुखद अपवाद है। उन्होंने बड़ी मेहनत और लगन से दुर्खेम के व्यक्तित्व और विचारों पर एक अच्छा प्रामाणिक और परिचयात्मक व विस्तृत ग्रंथ लिखा है। वे पाठक जो अंग्रेजी और फ़्रेंच भाषा से अनभिज्ञ हैं, अब इस किताब के माध्यम से दुर्खेम के प्रमुख समाजशास्त्रीय योगदान से अवगत हो सकेंगे। समाजशास्त्र के गम्भीर विद्यार्थी के अलावा यह किताब सामान्य गम्भीर पाठक के लिए भी पर्याप्त रोचक है।

पहले अध्याय में उसके जीवन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । दुर्खेम बचपन से ही मेधावी छात्र था और अनुसंधान एवं गम्भीर चिंतन का अभ्यासी । मौलिक विचारक होने के कारण उसका व्यक्तित्व भी कुछ अनोखा था । रॉबर्ट बीयर्सट्रेट के शब्दों में "वह नितांत गम्भीर था, उसे हल्कापन नापसंद था, उसमें हास-परिहास नहीं था, और इससे भी अधिक बुराई अपने से वरिष्ठों और साथियों जिनके विचार और जिनके स्वभाव उससे भिन्न होते थे, के प्रति समान रूप से सहिष्णुता का अभाव था । उसकी मुखाकृति निरुल्लास थी, उसकी कठोरता निर्मम उसकी प्रतिबद्धता समग्र थी । व्यक्तित्व के इन गुणों ने उसके मित्रों का दायरा कुछ सीमित कर दिया था और निस्संदेह उन व्यापक प्रभावों को भी, जो उसके स्वभाव को नरम बनाते और इसके खुरदरे किनारों को चिकना करते ।" (समीक्षक द्वारा अनूदित)

दुर्खेम का जन्म १८५८ में हुआ था जबकि यूरोप एक महान संक्रमण से गुजर रहा था। ३८ वर्ष की आयु में वह बोर्दो विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का पहला प्राध्यापक नियुक्त हुआ। वहां उसने अपने तीन महान ग्रंथ लिखे । इस शताब्दी के शुरू में १९०२ में वह पेरिस विश्व-विद्यालय में पहुंच गया । इस तरह दुर्खेम का अध्ययन और चिंतन काल १९वीं और २०वीं दोनों शताब्दियों में विस्तृत है । १९१८ में उसने समाजशास्त्र की पत्रिका प्रारम्भ की । दुर्खेम कोरा विद्वान न था । युद्ध काल में यूरोप में हो रहे विनाश से उसके मन में भीषण उथल-पुथल हुई और उसने अपने देश और समाज के सामने आने वाली समकालीन समस्याओं पर अपना ध्यान दिया । उसने जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध आवाज उठाई और देश की रक्षा में हाथ बटाया। इस प्रकार दुर्खेम के जीवन में ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय है । ।

भारतीय पाठकों के लिए दुर्खेम का सर्वाधिक रोचक अंश **'धार्मिक जीवन का प्रारम्भिक स्वरूप'** पुस्तक में दिये गये धर्म और उनके विभिन्न रूपों, अभिव्यक्तियों तथा नैतिकता पर उसके विचार हैं । दुर्खेम ने आध्यात्मिकता को धर्म का आवश्यक तत्व बताया है । वह लिखता है 'समस्त धर्म प्राचीनतम भी, एक दृष्टि से आध्यात्मिक हैं क्योंकि वे जिन शक्तियों को स्थान देते हैं वे सबसे पहले आध्यात्मिक हैं और उनका प्रमुख उद्देश्य नैतिक जीवन को प्रभावित करना है । सामूहिक आदर्श जिसकी अभिव्यक्ति धर्म में होती है व्यक्ति की अस्पष्ट सहज शक्ति का परिणाम नहीं, वल्कि सामूहिक जीवन की पाठशाला में व्यक्ति ने आदर्श बनाना सीखा है। वास्तव में ऐसा कोई धर्म नहीं है जो असत्य है । अपने ढंग से सभी सच्चे हैं, सभी भिन्न-भिन्न प्रकार से मानवीय अस्तित्व की विशिष्ट अवस्थाओं को महत्त्व देते हैं ।

दुर्खेम के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य किस प्रकार के विश्वास रखते हैं और वे किस प्रकार से सोचते हैं । यद्यपि उसने स्वयं मानवशास्त्रीय अध्ययन नहीं किए, फिर भी उसने समस्त धर्म पर उपलब्ध मानवशास्त्रीय साहित्य को अपने विश्लेषण का आधार बनाया। दुर्खेम की धर्म की विवेचना की आलोचना में यह कहा गया कि काल, मस्तिष्क और अवधि सामाजिक मस्तिष्क की उत्पत्ति नहीं है ।

दुर्खेम ने अपने ग्रंथ **'सामाजिक मे श्रम'** में भारतीय जाति-व्यर्वस्था की जबरिया श्रम

विभाजन के रूप में सम्यक चर्चा की है, जिसके अन्तर्गत जन्म के आधार पर मनुष्य का पद निर्धारण होता है। परिणामस्वरूप इससे मनुष्य की अकर्मण्यता को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार अपने ग्रंथ '**आत्म हत्या**' में भारतीय समाज की सती प्रथा और जौहर को उसने परार्थ-वादी आत्महत्या का प्रकार बताया है। धर्म की व्याख्या में उसने बुद्ध की भांति सदाचार पक्ष पर अधिक जोर दिया है।

लेखक ने दुर्खेम की प्रमुख चार रचनाओं की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इसे पढ़ने से लगता है कि लेखक दुर्खेम की विचारधारा से प्रभावित ही नहीं, प्रत्युत अभीभूत है। स्वयं उसने अपनी भूमिका में स्वीकार किया है कि उसके मन में दुर्खेम के लिए एक प्रकार की अर्ध-चेतन आस्था उत्पन्न हो गई, जिसने उसे दुर्खेममय बना दिया। फिर भी दुर्खेम के विचारों को समझने में यह पुस्तक बहुत सहायक सिद्ध होगी। लेखक का दुर्खेम के प्रति अत्यन्त रागात्मक लगाव होने के कारण कहीं-कहीं उसमें तटस्थता का अभाव है। बावजूद इसके दुर्खेम—एक अध्ययन हिंदी साहित्य की एक मूल्यवान कृति है जिसे उचित सम्मान मिलना चाहिए और उसका अधिकाधिक पठन-पाठन होना चाहिए। प्रत्येक अच्छे पुस्तकालय में इसे स्थान मिलना चाहिए।

एक छोटी सी बात जो मुझे अपने फ्रेंच भाषा के अल्प ज्ञान से खटकी, वह है फ़ांसीसी नामों और स्थानों का उच्चारण। यह वास्तव में टेढ़ी खीर है। फिर भी लेखक को प्रयास करना चाहिए था कि वह किसी फ्रेंच ज्ञाता से इसमें सहायता लेता। रोमन स्पेलिंग का नागरी ध्वनि रूपांतरण व्यक्तियों और स्थानों के उच्चारण को बहुत अटपटा बना देता है। उदाहरण के लिए Comte नाम का फ़ांसीसी उच्चारण कोंत है, काम्ट नहीं; Aron आरों है, एरन नहीं; Bergson बर्ज़सां है बर्गसन नहीं; Bougle का बूले है, बागल नहीं; Boutroax बोट्राउक्स न होकर बोत्रो, और Bordeaux बार्डीयक्स न होकर बोर्दो होगा। आशा है अगले संस्करण में उच्चारण की ये भूलें सुधार ली जाएंगी।

श्री अरविन्द का समाज दर्शन, लेखक डा० रामनाथ शर्मा, प्रकाशक : विवेक प्रकाशन, ७—यू० ए० जवाहर नगर, दिल्ली, पृष्ठ—२५६, १९८२ मूल्य ६०

समीक्षक : **प्रभात कुमार तिवारी**

आधुनिक भारत ने जो चार-पांच महान् विभूतियां देश को दी हैं, उनमें क्रांतिकारी योगी श्री अरविन्द का प्रमुख स्थान है। राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने के बाद जीवन के लगभग पैंतीस साल उन्होंने गहन चिंतन, मनन और योगाभ्यास में बिताए। **लाइफ**

डिवाइन, ऐसेज आन गीता, ह्यूमन साइकिल, सिंथेसिस आफ योग, फाउंडेशन आफ इण्डियन कल्चर, दि रिडिल आफ दी वर्ल्ड, उनकी प्रमुख कृतियां हैं । मानव जीवन, समाज की संरचना और उसके लक्ष्यों पर उन्होंने गम्भीर चिंतन किया । अधिकांश लोग श्री अरविन्द को एक तेजस्वी योगी के रूप में ही जानते हैं । उन्होंने सामाजिक प्रश्नों पर भी विचार किया और मूल रूप में एक अच्छे समाज का क्या लक्ष्य होना चाहिए, इस पर विशेष रूप से ध्यान दिया। उन्होंने अपनी सभी प्रमुख रचनाएं अंग्रेजी में लिखीं । इनमें से कुछ के हिन्दी अनुवाद अवश्य उपलब्ध हैं ।

हिंदी पाठकों के लिए एक ही स्थान पर श्री अरविन्द के विचारों का संकलन और विश्लेषण प्रस्तुत पुस्तक की प्रमुख विशेषता है । श्री अरविन्द के समाजदर्शन पर लिखी इस पुस्तक में सामाजिक विकास के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार, इतिहास-दर्शन, राष्ट्रीयता, मानव एकता, संस्कृति और सभ्यता, शिक्षा, नैतिकता, धर्म सर्वांग योग और मानव जाति के भविष्य पर श्री अरविन्द के विचारों का संक्षेप और उनकी संतुलित आलोचना प्रस्तुत की गई है । इस तरह श्री अरविन्द के सामाजिक दर्शन और विचारधारा को समझने के लिए यह एक उपयोगी ग्रंथ है । विभिन्न विषयों का प्रतिपादन सुबोध शैली में किया गया है । पुस्तक की भाषा भी प्रवाहमय है ।

श्री अरविन्द विचारक के अलावा एक महान शिक्षक भी थे । उन्होंने अपना जीवन ही शिक्षक के रूप में आरम्भ किया था और बाद में जादवपुर के निकट एक राष्ट्रीय शिक्षण-संस्था की स्थापना भी की । उनके शब्दों में, 'शिक्षा का मुख्य लक्ष्य प्रगतिमान आत्मा को सहायता देना और उसमें से सर्वोत्तम तत्त्व को उद्घाटित कर उसे श्रेष्ठतम बनाना है ।' अरविन्द के शिक्षा-दर्शन में बालक को स्वयं जानना और विकसित होना चाहिए । शिक्षक को केवल निर्देशन और सहायता देनी चाहिये । आयु और लिंग के भेद के बिना यह सभी शिक्षार्थियों पर लागू होता है । शिक्षा शिक्षार्थी के विशिष्ट गुणों, सामर्थ्यों, विचारों और मूल्यों के अनुरूप होनी चाहिए । व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में स्व-धर्म का पालन होना चाहिए । श्री अरविन्द ने अन्तःकरण को शिक्षा का माध्यम माना है । उन्होंने चार स्तर बताए हैं (१) चित्त (२) मानव (३) बुद्धि और (४) सामान्येतर शक्तियाँ । उन्होंने मातृभाषा को ही शिक्षा का उचित माध्यम बताया । विदेशी भाषा बाद में सिखानी चाहिए । शिक्षक को सबसे पहले बालक को उसके चारों ओर के जगत से परिचित कराना चाहिए । सबसे पहले इन्द्रियों का प्रशिक्षण है । उसके बाद मानसिक शक्तियों के साथ में कला, कविता और संगीत का प्रशिक्षण । उन्होंने ब्रह्मचर्य, नैतिक, धार्मिक और शारीरिक योग शिक्षा पर भी बल दिया ।

श्री अरविन्द के अनुसार, विकास की चार रेखाएं हैं, ये है–आंतरिक सत, धर्म, पराविद्या, आध्यात्मिक विचार और आंतरिक आध्यात्मिक साक्षात्कार । इस प्रकार धर्म, पराविद्या, दर्शन और योग प्रकृति में विकास की चार प्रणालियां हैं । समाज दर्शन का अधिक सम्बन्ध सामाजिक विकास से है । उनके अनुसार, मानव आत्मा विकास में मानव धर्म एक अनिवार्य सोपान है,

परंतु उसे जीवित साक्षात्कार बनाने के लिए योग अपरिहार्य है। प्रायः योग व्यक्तिगत प्रयास की प्रणाली माना गया है, किंतु अरविन्द ने सर्वांग योग का लक्ष्य व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सार्वभौम मोक्ष और मानव जाति का रूपांतरण माना है। इस तरह वे पलायनवाद और पारलौकिकवाद के विरुद्ध हैं। इसे भी एक प्रकार का कल्पनालोक या 'यूटोपिया' कहा जा सकता है। समाज-शास्त्रीय, मानवशास्त्रीय दृष्टियों से यह कितना व्यवहार्य है, यह बताना मुश्किल है। स्वयं श्री अरविन्द के विचारों से अनुप्राणित देश-विदेश के उनके सैकड़ों अनुयायियों ने पांडिचेरी के निकट औरोविल नाम की एक बस्ती बसाई। किंतु वहां जिस तरह उनके और पांडिचेरी आश्रम के वर्तमान संचालकों के बीच थुक्का फ़जीहत हुई, उससे लगता है कि इस कल्पनालोक का निर्माण इतना सुगम नहीं है। फिर भी श्री अरविन्द के विचारों को पढ़ना और समझना प्रत्येक शिक्षित भारतीय का कर्तव्य है। उनके विचारों से बहुत कुछ सीखा-समझा जा सकता है।

लेखक का परिचय अतिरिक्त प्रशस्ति पूर्ण होने के बावजूद, हर्ष की बात यह है कि शर्मा जी ने पुस्तक अच्छी-खासी लिखी है। श्री अरविन्द के प्रमुख विचारों को जानने और समझने में उनकी कृति सहायक सिद्ध होगी।

स्वाधीनता और समता की चुनौती : हरिजन समस्या

रघुराज गुप्त

जाति व्यवस्था भारतीय सामाजिक संरचना की अद्वितीय व्यवस्था रही है। यह कैसे जन्मी, कैसे बढ़ी और कैसे हजारों वर्षों तक हमारे सामाजिक जीवन पर छाई रही, इसके बारे में विद्वानों ने तरह तरह की कल्पनाएं और सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं। आज से पांच-छः हजार साल पहले, जब से लिखित इतिहास का प्रारंभ हुआ, इसका क्या असली रूप था यह कहना बड़ा मुश्किल है।

कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में मध्य एशिया से आर्यों के आने से पहले जाति प्रथा यहां नहीं थी। यहां के आदिवासी जंगलों में निवास करते थे। वे अपने से अधिक बलवान और लड़ाकू हमलावरों के सामने न ठहर सके। वैदिक आर्यों के समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचार था। इसके अनुसार समाज को कार्यात्मक दृष्टि से चार वर्गों में बांटा गया था। ये वर्ग थे : (१) ब्राह्मण, जिनका मुख्य काम पुरोहिताई, यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठान करना, वेदाभ्यास और शिक्षा देना था, (२) क्षत्रिय, जिनका काम शासन करना, शत्रुओं से लड़ना, अपने इलाके की सुरक्षा करना और दूसरों के इलाके को जीतना था, (३) वैश्य, जिनका मुख्य काम खेती करना और छोटा मोटा व्यापार था, (४) शूद्र जिनका मुख्य काम उपरोक्त तीनों वर्गों के लोगों को निजी सेवाएं प्रदान करना था। शूद्र लोग मुख्यतः दस्तकार या खेतिहर मजदूर थे जैसे-बढ़ई, लोहार, नाई, झीवर, धरकार, बुनकर आदि।

आर्यों में यही चार वर्ण थे। श्रेणी विभाजन और ऊँच-नीच इस समाज की दूसरी विशेषता थी। इसमें ब्राह्मण सबसे ऊँचे, उसके बाद क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य और शूद्र सबसे नीचे माने जाते थे। जातिपद निर्धारण की एक तीसरी विशेषता या बुराई थी शारीरिक श्रम और हाथ के काम का तिरस्कार और अवमानना। मेहनतकश मजदूर सबसे नीचा माना गया। उपभोक्ता सुविधा भोगी सबसे ऊँचा। वर्ण या जाति की सदस्यता जन्म से ही निश्चित थी और उसे पूर्व जन्म के कर्म से निर्धारित माना जाता था जिसका बदलना मनुष्य के अधीन न था। इस तरह भाग्यवाद-किस्मत का जीवन दर्शन भारतीय जाति व्यवस्था और जातिवाद की एक और विशेषता है। समाज-शास्त्र की भाषा में ऐसे समाज को बंद समाज--क्लोज्ड

रघुराज गुप्त, मानव शास्त्री, प्लानिंग ऐक्शन रिसर्च इंस्टीट्यूट, उ० प्र०, लखनऊ।

सोसायटी कहा जाता है जिसमें व्यक्ति का पद एस्क्रिप्शन--द्वारा पूर्व-निर्धारित है, एचीवमेंट-अर्थात् व्यक्तिगत प्रयास द्वारा की गई उपलब्धि द्वारा नहीं होता। वैदिक काल में चार वर्ण या जातियां मानी जाती थीं, पर कालांतर में उनकी सैकड़ों उपजातियां हो गईं। इस प्रकार बीसवीं सदी तक आते भारतीय समाज लगभग ३००० पृथक जातियों में बंट गया, और एक विभक्त समाज बन गया।

जन्म से निर्धारित जाति सदस्यों के रोटी-बेटी के संबंध सिर्फ अपनी जाति में ही हो सकते थे। यद्यपि जाति सदस्य जीविका उपार्जन के लिए क्या धंधा अपनाएं यह भी पहले से निर्धारित था। पर यह बात अधिक चल न सकी। खान पान और छूत छात के बंधन भी कुछ ढीले हुए हैं। किंतु जाति के ही सदस्यों के बीच विवाह की प्रणाली जाति प्रथा को आज भी पूरी तरह जीवित रखे हुए है। व्यक्ति ने किस कुल में जन्म लिया है, यह बात भी महत्वपूर्ण थी। पर यदि कोई अपने माता-पिता का काम नहीं करता था, तो जो काम वह वास्तव में करता था, उसके मुताबिक उसका वर्ण भो बदल जाता था। इस तरह आर्यों की जाति प्रथा में जन्म के साथ कर्म का भी महत्व था। पर कालांतर में जन्म का ही महत्व रह गया और कर्म गौण पड़ गया। प्राचीन समय में इन चार वर्णों में कई बार आपस में अंतर्विवाह भी हो जाते थे जिन्हें 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' नाम दिया गया। अनुलोम विवाह में उच्च कही जाने वाली जाति का पुरुष अपने से निम्न समझी जाने वाली जाति की स्त्री से और प्रतिलोम विवाह में नीची समझी जाने वाली जाति का पुरुष उच्च कही जाने वाली जाति की स्त्री से विवाह करता था। यह सुविधा विशेषकर बलवान और समर्थ लोगों को ही प्राप्त थी। पर बाद में इसे भी बुरा समझा जाने लगा और केवल जातियों के अंदर ही विवाह होने लगे और इस प्रकार भारतीय समाज जातियों के कठोर दरबों में बंट गया।

ऐसा समझा जाता है कि आर्यों ने जिन लोगों को जीता वे उस समय के रिवाज़ के मुताबिक दास बना लिए गए। आर्यों ने इन हारे हुए लोगों को 'पंचम वर्ण' में रख दिया। आज के बहुसंख्यक 'अनुसूचित जाति' या 'कबीलों' के सदस्य इसी श्रेणी में आते हैं। भारतीय समाज का यह निम्नतम, निर्धनतम, निर्बलतम वर्ग है। विभिन्न समयों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा गया। कभी यह अन्त्यज, अस्पृश्य-जो छूने भी लायक नहीं, दलित, वहिर्जाति, समाज वहिवृत्त कहलाते रहे।

यूं तो सैकड़ों सालों से शूद्रों की दीनहीन दशा को देख कर भारत के अनेक सहृदय महापुरुषों के मन में करुणा जगी और उन्होंने जाति व्यवस्था के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद की जिसमें जन्म से ही हजारों लाखों लोग सदा के लिए मानवीय अधिकारों से वंचित हो जाते हैं और उन्हें घोर विपन्नता और अपमान का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

प्राचीनकाल में इन महामानवों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए महात्मा बुद्ध जिन्होंने वैदिक धर्म के विकृत रूप के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया और मनुष्य मात्र की समता की घोषणा की और दलितों को गले लगाया। मध्यकाल के महान ज्ञान मार्गी और भक्ति मार्गी

संतों ने भी इसी बात को आगे बढ़ाया। उनमें थे अग्रणी रामानुज, कबीर, दादू, रैदास और सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानक। इसी धार्मिक सुधारवादी परंपरा में थे १९वीं शताब्दी में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती, ब्राह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय और महात्मा फुले। राष्ट्रीय आंदोलन ने अछूतोद्धार के कार्य को कुछ और गति दी। गोपाल कृष्ण गोखले, स्वामी श्रद्धानंद ने भी इसमें अपना विशेष योगदान दिया।

अंग्रेजी राज में अछूतों की दुर्दशा को सुधारने के लिए और इन्हें मानवोचित अधिकार प्रदान करने के लिए कुछ प्रयास हुए और इन जातियों के सदस्यों को विशेष संरक्षण प्रदान करने के लिए और उनकी अनर्हताएं दूर करने के लिए अनेक प्रयास हुए और १९३३ में इन उत्पीड़ित जाति के सदस्यों को एक विशेष अनुसूची में रखा गया और इसी लिए तब से इस वर्ग के सदस्यों को अनुसूचित जाति और जनजाति का नाम दिया गया जो शिक्षित लोगों में आज भी प्रचलित है।

२०वीं शताब्दी में इस वर्ग के उत्थान में तीन स्रोत प्रमुख हैं : (१) आर्यसमाज, विशेष कर उत्तर भारत में, (२) महात्मा गांधी और (३) बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर। १९१७ से गांधीजी ने तत्कालीन अछूतों की हृदयद्रावक स्थिति से दुखी होकर उसके उद्धार का काम अपने हाथ में लिया और उन्हें एक सम्मानित नाम दिया 'हरिजन-(भगवान की संतान)। यह नाम धीरे-धीरे इस वर्ग के लिए बहुत प्रचलित हो गया है। डा० अम्बेडकर ने इस नाम को पंसद नहीं किया। और वे 'बहिवृत्त' या 'दलित' शब्द का ही प्रयोग करते रहे और बाद में तो उन्होंने इसका भी परित्याग कर दिया और अनुसूचित जाति के सदस्यों को यह सलाह दी कि वे बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपने को बौद्ध कहें। फलस्वरूप लगभग ३० लाख अनुसूचित जाति के सदस्य, विशेषकर महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए, जो आज नव-बौद्ध कहलाते हैं। आर्य समाज के प्रयास से जो अस्पृश्य स्वीकार किए गए वे अपने को 'आर्य' या 'आर्य भगत' कहलाना पसंद करते हैं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों को हम चाहे कोई नाम दें इसमें संदेह नहीं कि उनकी सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक स्थिति अभी भी अत्यंत दयनीय है और तथाकथित उच्च जातियों के सदस्यों का व्यवहार उनके साथ मानवोचित और बराबरी का नहीं है।

भारत को स्वाधीन हुए आज ३७ साल हो चुके हैं। १९५० में स्वतंत्र भारत का संविधान बना जिसमें धर्म निरपेक्ष और लोकतांत्रिक समतापरक समाज बनाने का उद्देश्य घोषित किया गया और उसी के अनुच्छेद १७ में पहली बार भारत ने अस्पृश्यता के उन्मूलन का संकल्प किया।

१९४७ तक बीसवीं सदी के आरंभ में आज से ६०-७० साल पहले तक अनुसूचित जाति के सदस्यों को किन-किन अनर्हताओं-मुसीबतों, मजबूरियों, पराधीनता, असहायता और शोषण, और क्रूरता का शिकार होना पड़ता था, इसकी जानकारी भी मानव जाति के इस मेहनतकश वर्ग की स्थिति और समस्याओं को समझने के लिए जरूरी है।

सारे देश में लगभग १५ प्रतिशत लोग, हर सात में से एक भारतीय, इस दलित वर्ग का सदस्य था। आज ७० करोड़ की भारतीय जनसंख्या में ये लोग लगभग १० करोड़ हैं। गांव या शहर के सबसे खराब समझे जाने वाले हिस्से में अलग रहने पर ये मजबूर थे। जिस जगह पर ये अपने टूटे फूटे घर, झुग्गी-झोपड़ी बनाते थे, वह भी इनकी न थी। इन्हें जब चाहे वहां से हटाया जा सकता था। इन्हें अपवित्र माना जाता था और इनकी छाया तक से भी परहेज किया जाता था और यह समझा जाता था कि उसके पड़ने से और छूने मात्र से उच्चजातीय व्यक्ति अपवित्र हो जाता है। सार्वजनिक सड़कों पर बेरोकटोक चलना भी इनके लिए मुश्किल था। पूर्ववर्ती मद्रास प्रांत के परियनों को तो अपने गले में एक डिब्बा लटकाकर बजाना पड़ता था ताकि आने जाने वाले जान जाएं कि अछूत गुजर रहा है और वे उनसे २० हाथ की दूरी पर रहें और उसकी छाया भी उन पर न पड़े। इन लोगों को अपनी मन मरजी का साफ, सम्मानित काम करने की इजाजत न थी। सारे नीचे गंदे समझे जाने वाले काम इनके जिम्मे थे, जैसे मल मूत्र उठाना, उसे ढोना, डालना, मुर्दा जानवरों को उठाना, उनकी खाल उतारना और उसे रंग कर चमड़ा बनाना, जमींदारों और ब्राह्मणों की बेगार करना।

इन सब नीचे और गंदे और भारी समझे जाने वाले कामों के लिए इन्हें जो मजदूरी और बख्शीश मिलती थी वह बहुत ही कम और उनके परिवार का पेट भरने और तन ढकने के लिए भी काफी न थी। वे अक्सर भुखमरी का शिकार होते, बीमारियों से ग्रसित होते और असमय में ही मृत्यु को प्राप्त होते थे। उनके छोटे-छोटे बच्चे कच्ची उम्र में ही मां बाप के साथ मेहनत मजदूरी पर लग जाते। साक्षरता और शिक्षा उनके लिए वर्जित थी। यही नहीं, वे अच्छे नाम तक न रख सकते थे। उन्हें घसीटा, गोबर, मंगता जैसे निन्दा सूचक नामों से संतुष्ट होना पड़ता।

ये बेचारे अच्छे कपड़े और जूते पहनने तक से वंचित थे। ये नंगे पैर रहते और लंगोटी या ऊँची धोती पहनते। सोने के आभूषण पहनना भी इनके लिए मना था। इस तरह नंगे पांव, नंग धड़ंग, मोटे झोटे स्वल्प वस्त्रों में इन दीनहीनों को दूर से ही पहचाना और दुत्कारा जा सकता था। इनका फर्ज था कि वे उच्च जातीय को देखकर, चाहे वह उनसे उम्र में छोटा हो या मूर्ख और चरित्रहीन, वे रास्ता छोड़ दें, और झुककर उसका अभिवादन करें।

इन अभागों को सार्वजनिक साफ कुओं से जिनसे अन्य सब पानी भरते थे, पानी तक लेने की इजाज़त न थी। न ये किसी मंदिर और देवालय में जाकर ही भगवान के सामने अपना दुखड़ा रो सकते थे। उनमें से चाहे कोई कितना ही पढ़ लिख जाए, कितना ही सच्चरित्र हो, उसे बड़ी जात के लोगों के बराबर बैठने का हक न था। उनके साथ खाने-पीने उठने-बैठने का तो सवाल तक न था।

यहां तक की उनकी हंसी-खुशी पर भी पाबंदी थी। वे अपने वर-वधू को पालकी या घोड़े पर बैठाकर, बाजे गाजे के साथ नहीं निकाल सकते थे। इस प्रकार भारतीय समाज का

एक बड़ा और बुनियादी अंग भारतीय समाज का होता हुआ भी, उससे अलग हो चुका था। उसके साथ जो असभ्य और अमानवीय व्यवहार हो रहा था, उसे देखते हुए यह स्वाभाविक ही था कि उसका मन और आत्मा दुःखी हों और वह अंदर-अंदर असंतोष, आक्रोश और घृणा की आग से जले। हिंदू धर्म के लिए अछूतपन सबसे बड़ा कलंक था, भारतीय संस्कृति के लिए अंत्यजों के प्रति किया जा रहा व्यवहार सर्वथा संवेदनाशून्य और क्रूर था और सभ्यता से कोसों दूर।

मानवता और भारतीयता के प्रति इस कलंक और अपमान को मिटाना किसी भी सच्चे राष्ट्रवादी का पहला और पुनीत कर्तव्य था। बिना अपने इस सातवें अंश को आजाद किए भारत की राजनैतिक आजादी झूठी ही कही जाएगी। अतः स्वामी दयानंद के अनुयायी आर्य समाजियों, गांधी और अम्बेडकर जैसे सहृदय देश भक्तों ने इस गंभीर सामाजिक समस्या के महत्व को समझा और इसे दूर करने की दिशा में प्राणपण से प्रयास किए।

यहां हम संक्षेप में स्वतंत्रता से पूर्व अनुसूचित जाति की स्थिति को सुधारने के लिए जो तीन प्रमुख आंदोलन किए गए हैं उनका जिक्र करेंगे। इनमें पहला प्रयास था—आर्यसमाज का जिसका कार्य क्षेत्र मुख्यतः पंजाब और उत्तर प्रदेश था (१९०० से २५ तक) अन्य दो आंदोलनों के प्रमुख सूत्रधार थे—महात्मा गांधी (१९१७ से १९४८ तक) और बाबा साहेब अम्बेडकर (१९२० से १९५६ तक)। बाहर से देखने में इन आँदोलनों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अंतर लगता है और था भी। पर इसमें कोई शक नहीं कि ये तीनों आंदोलन भारत के इस विशाल दलित वर्ग के दुख से दुखी थे। वे इन्हें सक्षम, स्वाधीन, स्वाभिमानी और भारत के निर्माण में बराबर का साझेदार बनाना चाहते थे।

यह भी सही है कि गांधीजी और अम्बेडकर दोनों ने सुधार की व्यवहारिक नीतियों को लेकर एक दूसरे की आलोचनाएं और प्रत्यालोचनाएं कीं। पर इन दोनों का अंतिम लक्ष्य एक ही था और दोनों ही एक दूसरे का सम्मान करते थे। इसी लिए बाद में एक ऐसा भी समय आया जिसने इन दोनों को एक दूसरे के करीब ला दिया और बाबा साहेब अम्बेडकर को स्वतंत्र भारत की संविधान निर्मात्री समिति का अध्यक्ष बनाया गया।

बीसवीं शताब्दि में हरिजनोद्धार के स्वैच्छिक प्रयास

२०वीं शताब्दि के पहले चतुर्थांश में अछूतों की असमर्थताओं को दूर करने और उन्हें हिंदू समाज के बराबर के सम्मानित सदस्य के रूप में अपनाने का पहला प्रयास मुख्यतः उत्तर भारत में आर्यसमाज के नेताओं द्वारा किया गया। अछूतों को अपवित्र करार देकर हिंदू समाज ने अभिशप्त और लांछित कर दिया था। इसके दो आधार बनाए जाते थे एक धार्मिक अनुष्ठानिक और दूसरा यह कि अछूत गंदे समझे जाने वाले काम करते हैं। इसके लिए आर्यसमाज ने शुद्धि संस्कार का आविष्कार किया जिसके अनुसार अछूत जातियों के सदस्य जो हिंदू धर्मावलंबियों के व्यवहार से क्षुब्ध होकर ईसाई या मुसलमान या सिक्ख बन गए या

हिंदू समाज में वहिष्कृत कर दिए गए, उन्हें सार्वजनिक रूप से नहला धुलाकर, हवन कर, यज्ञोपवीत पहनाकर उनके साथ सहभोज कर उन्हें आर्यसमाज में दीक्षित कर लिया जाता था और इस प्रकार बाकी हिंदू समाज को भी उन्हें उचित सम्मान देना पड़ता था। इस प्रकार आर्यसमाज ने १९००-१९०३ के बीच पंजाब में रहटिया, ओड़ और मेघ अस्पृश्य जातियों को, हिमाचल, गढ़वाल और कुमाऊं पहाड़ियों में डोम और बाजगियों को शुद्ध किया और ये लोग जनेऊ पहनने लगे, सार्वजनिक जल स्रोतों से पानी लेने लगे और स्वाभिमान से पढ़ने लगे। इन्होंने मद्य-मांस भक्षण छोड़ दिया और उनमें नई चेतना जागी।

मोहनदास करमचंद गांधी (१८६९-१९४८) ने १९१५ के बाद से भारत को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। उसी वर्ष उन्होंने अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की। गांधीजी उन गिने चुने राजनैतिक नेताओं में से थे जो अस्पृश्यता के सामाजिक कलंक से अत्यंत क्षुब्ध थे। अपने आश्रम में एक अछूत परिवार को ठहराने पर वे अड़ गए। १९२० से कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर संभालते ही उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध अपना अभियान छेड़ दिया। उन्होंने लिखा "बिना अस्पृश्यता का पाप धोए और बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज्य नहीं मिल सकता"। (यंग इंडिया, दिसम्बर २९, १९२०)। उन्होंने कहा "मैं दुबारा जन्म लेना नहीं चाहता। पर यदि मुझे दुबारा जन्म लेना ही पड़े तो में अछूत जन्मना चाहूंगा"। "यंग इंडिया अप्रैल २७, १९२१)। असहयोग आंदोलन के स्वयंसेवकों के लिए १९२१ में निम्न प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी कि "मैं अस्पृश्यता की बुराई को दूर करना जरूरी और न्यायपूर्ण समझता हूं और मैं हरसंभव मौके पर अछूतों से निजी संपर्क बनाऊंगा और दलित वर्गों की सेवा करुँगा।" छब्बीस साल बाद उन्होंने लिखा, "यदि मेरा बस चले तो जो द्विज हिंदू लड़कियां मेरे प्रभाव में आवें, मैं चाहूंगा कि वे हरिजन पति चुनें।" (हरिजन जुलाई ७, १९४६) उनके अनुसार, भंगी का पेशा ब्राह्मण के बराबर है और सब पेशे समान रूप से सम्माननीय हैं। जीवन के अंतिम क्षण में गांधीजी ने घोषणा की "मुझे यह सोचकर खुशी होगी कि एक मजबूत दिलवाली, ईमानदार और सच्चरित्र भंगी लड़की भारत की प्रथय राष्ट्रीपति बने।"

डा० भीमराव अम्बेडकर (१८९२-१९५६) ने स्वयं महाराष्ट्र के महार अछूत परिवार में जन्म लिया था। सौभाग्य से उन्होंने अमेरिका और इंग्लैंड में उच्चतम शिक्षा प्राप्त की। भारत लौटने के बाद वे सक्रिय रूप से अछूतों के कल्याण और उन्हें मानव अधिकार दिलाने के संघर्ष में लग गए और अंतिम समय तक, तैंतीस साल तक उनके जीवन का यही मिशन था। १९२३ में उन्होंने अछूतों के संगठन का काम शुरू किया। अनेक उच्चजातीय हिंदू भी उनके अंतरंग सहयोगी थे। उन्होंने अछूतों की स्वाधीनता के लिए अनेक संघर्ष किए। १९३६ में इंडीपेंडेंट लेबर पार्टी नाम से एक राजनैतिक दल बनाया और वे अपने जीवन काल में हरिजनों के सर्वाधिक सम्मानित, उच्च शिक्षित और समर्पित नेता थे। गांधीजी के परंपरागत नरम रवैये से उनका प्रायः विरोध रहा और वे गांधीजी के जीवन दर्शन को दकियानूसी समझते रहे। अम्बेडकर की रणनीति लोकतांत्रिक राजनैतिक सुधारों के परिप्रेक्ष्य में विकसित

हुई। उनका ध्यान अछूतों के राजनैतिक अधिकारों पर केंद्रित रहा। शिक्षा को उन्होंने सामाजिक उन्नति के लिए सबसे प्रभावी साधन माना। लोकतंत्र, भातृत्व और स्वाधीनता उनकी मूल प्रेरणा थी जिसे उन्होंने मराठी के सीधे सादे शब्द 'माणुसकी' 'मानवीयता' में व्यक्त किया। १९३५ के लगभग उन्होंने यह अनुभव किया कि दलितों के लिए इसे पाना न तो किसी विदेशी धर्म के अंदर और न ही हिंदू धर्म के अंदर संभव है। अतः उन्हें इसकी प्राप्ति केवल बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर ही हो सकती है।

१९२४-२५ में त्रिवांकुर राज्य में वाईकाम सत्याग्रह ने अछूतों के पक्ष में सार्वजनिक रूप से कुछ करने का पहला अवसर प्रदान किया। इस रियासत के इल्लावा अछूतों के धार्मिक नेता श्री नारायण गुरु ने १९१८ में वहां की सरकार से यह अनुरोध किया कि वह सब हिंदुओं और अछूतों के लिए मंदिर खोल दें। १९२१ में उन्होंने धमकी दी कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो वे ईसाई बन जाएगें। गांधीजी इस विवाद में पड़े और उन्होंने वाईकोम मंदिर के नम्बूदरी ब्राह्मण ट्रस्टियों से बातचीत की। उन्होंने उनसे पूछा "यह कहां तक जायज़ है कि हिंदुओं के एक पूरे वर्ग को सार्वजनिक सड़कों पर चलने से रोका जाए जबकि उनका गैर हिंदू, अपराधी और बदमाश, यहां तक कि कुत्ते और जानवर भी इस्तेमाल करते हैं ? क्या वे अपराधियों और पशुओं से भी गए बीते हैं ? अंत में मंदिर के अधिकारियों को झुकना पड़ा। पर कहीं १९३६ में जाकर इन मंदिरों के पट अछूतों के लिए खुले।

अस्पृश्यता के समर्थन में कट्टरपंथी शास्त्रों की दुहाई देते रहे। डा० अम्बेडकर ने ऐसे शास्त्रों के विरुद्ध अभियान चलाया और १९२७ में सबके सामने मनुस्मृति को जलाया। इसमें ब्राह्मण जी० एन० सहस्रबुद्धे ने उनका साथ दिया। १९३० तक अम्बेडकर सामाजिक सुधार के काम में गांधीजी के सहयोग का समर्थन करते रहे, पर उन्होंने यह भी अनुभव किया कि दलित वर्ग को अपने राजनैतिक अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए। १९३१ में उन्होंने इसे मुख्य मुद्दा बनाया और गोल मेज सम्मेलन में इसी पक्ष को रखा। फलस्वरूप मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार प्रस्तावों में हिंदू दलित वर्ग को पहली बार मुसलमानों की तरह पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। गांधीजी इससे बहुत विक्षुब्ध हुए। उनका मत था कि यदि ऐसा हुआ तो हरिजन सदा के लिए हिंदू समाज से अलग हो जाएंगे। उन्होंने इसके विरोध में येरवदा (पूना) जेल में अनशन शुरू किया। गांधीजी के प्राण बचाने के लिए बहुत दबाव पड़ा और अंत में गांधीजी और डा० अम्बेडकर के बीच एक समझौता हुआ जो पूना पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके अंतर्गत दलितों या अनुसूचित हिंदू जातियों के लिए विधान सभाओं में लगभग उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित कर दिए गए, यद्यपि उनके चुनाव में सभी हिंदू वोट देने के अधिकारी हो गए। यही व्यवस्था १९४५ तक चली।

१९३२ में गाँधीजी से प्रभावित लोगों ने बंबई में अखिल भारतीय अस्पृश्यता-विरोधी लीग नाम की संस्था बनाई जिसकी पहली बैठक का सभापतित्व पंडित मदन मोहन मालवीय ने किया। घनश्याम दास बिड़ला इसके सभापति और अमृतलाल ठक्कर मंत्री बने। इसकी केंद्रीय

समिति में कई अछूत सदस्य भी थे–मद्रास के एम० सी० राजा, और रावबहादुर श्रीनिवासन और डा० अम्बेडकर ने शीघ्र ही गांधीजी के इस संगठन का नाम बदलकर सर्वेंट्स आफ अंटचेबिल सोसायटी--हरिजन सेवक संघ रख दिया गया। इस संघ का उद्देश्य शांतिपूर्ण तरीके समझा बुझा कर कुओं, सड़कों, स्कूलों, मंदिरों और शमशानों में हरिजनों के प्रवेश को सुनिश्चित करना था। सहभोज जैसे समाज सुधार इसके दायरे से वाहर थे। १९३३-३४ में गांधीजी ने सारे देश में १२,५०० मील का दौरा किया जिसका मुख्य उद्देश्य अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रचार था और हरिजन सेवक संघ के लिए चंदा इकट्ठा करना था। गांधीजी ने इसी समय 'हरिजन' नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी निकालना शुरू किया जिसे वे मृत्यु पर्यंत चलाते रहे। उन्होंने साल में एक दिन हरिजन दिवस मनाने का आयोजन किया। उनके रचनात्मक कार्यक्रम की चौदह बातों में से एक हरिजनोद्धार भी थी। चूंकि अछूतों से घृणा और उनके नीचे समझे जाने का एक मुख्य कारण उनका मैला उठाना था, अतः पायखाना साफ करने का काम गांधीजी ने स्वयं अपने हाथ से शुरू किया। उनके आश्रमों में यह नियम था कि वहां के सब आवासी मिलकर बारी-बारी से मैला उठाने का काम करेंगे। गांधीजी अपने को भंगी कहते थे। बाद के दिनों में वे अक्सर भंगी बस्तियों में ठहरते और उन्होंने एक हरिजन कन्या को गोद भी ले लिया था।

गांधीजी जीवन भर अस्पृश्यता की अमानुषिक प्रथा के खिलाफ प्रचार करते रहे। यही नहीं वे जो कहते थे, उसे करते भी थे। उन्होंने अपने पुत्र का अंतर्जातीय विवाह किया। किंतु हरिजनोद्धार के विषय में गांधीजी का दृष्टिकोण मूलतः नैतिक, परोपकारी, अहिंसक, शैक्षणिक रहा जो करुणा और सद्भाव की भावना पर आधारित था। पर उसमें कुछ विचित्र विरोधाभास भी थे। उदाहरण के लिए हरिजन सेवक संघ के संचालक मंडल में सिर्फ शुरू में एक बार अछूत सदस्य रखे गये। उन्हें दुबारा नहीं रखा गया और बाद में यह उसकी नीति बन गई। गांधीजी की मृत्यु के बाद तथाकथित गांधीवादियों में भा हरिजनोद्धार कार्यक्रम के प्रति विशेष उत्साह न रहा और यह कार्य ढीला पड़ गया।

गांधीजी से भिन्न, डा० अम्बेडकर की अस्पृश्यता उन्मूलन की नीति को क्षतिपूर्ति राजनैतिक कार्रवाई-कंपन्शेशन-कम-पॉलिटिकल एक्शन-की नीति कहा जा सकता है। उन्होंने सर्वथा नई विचार धारा और नीति का प्रसार किया। उनकी राय में गांधीजी की हरिजन सेवक संघ की परोपकार वृत्ति नीचे और दलित लोगों के लिए संरक्षणात्मक दया का भाव दर्शाती है और उससे ऊँची और नीची जाति का सामाजिक फासला बना रहता है।

शुरू में १९२३ से लेकर १९३१ तक डा० अम्बेडकर ने कुछ-कुछ गांधीजी का रास्ता अपनाया। १९२७ में दक्षिण बंबई के छोटे नगर महाड़ में दलित वर्ग सम्मेलन का उद्घाटन करने के बाद हजारों लोगों को एक जुलूस की शक्ल देकर वे उस अछूत जन समूह को उस तालाब का पानी पीने के लिए ले गए जहां से वे पहले पानी न ले सकते थे। इसी सम्मेलन के दौरान उन्होंने मनुस्मृति की प्रतियों की होली जलाई। बाद में यह मामला अदालत में गया।

इस सत्याग्रह ने दलित वर्गों में असाधारण चेतना और जागृति पैदा की और अम्बेडकर अछूत महार समुदाय की एक महान विभूति बन गए। १९२९ में उन्होंने पूना के पार्वती मंदिर में प्रवेश के लिए आंदोलन किया और अछूतों का एक विशाल जुलूस शंकर भगवान, शिवाजी महाराज, चोखा मेला (१४वीं शताब्दी का एक महार संत कवि) और डा० अम्बेडकर का जयघोष करते हुए मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ गया। यद्यपि मंदिर प्रवेश में उन्हें इसमें तत्काल सफलता न मिली और यह मंदिर कहीं जाकर १९४७ में अछूतों के लिए खुला। इसके बाद १९३० और १९३३ के बीच में महार जाति के सहयोग से उन्होंने नासिक में कई सत्याग्रह किए। इनमें कोलाराम मंदिर का सत्याग्रह बहुत प्रसिद्ध हुआ जिसमें हजारों अछूत शामिल हुए। यहां पर उनका विरोध पुराणपंथी हिंदुओं के अलावा कुछ स्थानीय कांग्रेसियों ने भी किया।

अम्बेडकर भारत की स्वाधीनता के प्रबल समर्थक थे पर साथ ही उन्हें इस बात की आशंका थी कि यदि दलितों को उनके राजनैतिक अधिकार नहीं मिलते तो स्वराज्य में भी उनके ऊपर उच्च जातीय हिंदू अपनी हकूमत करते रहेंगे। इसीलिए उन्होंने १९३२ में लंदन में हुए गोल-मेज सम्मेलन में अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन की मांग की। इसका आधार समता का सिद्धांत था और जो क्षतिपूर्ति की कल्पना का ही अंग था। इसके अधीन विधान सभा ऐसे कानून बना सकती है जिससे एक निश्चित अवधि तक असमर्थ दलित लोगों को संरक्षण प्रदान किया जाए ताकि वे उस बीच उठकर अन्य लोगों के समकक्ष आ सकें और लोकतंत्र की प्रक्रिया में बराबर के साझीदार बन सकें।

कानूनी संरक्षण

भारत के स्वतंत्र होने के बाद डा० अम्बेडकर को भारतीय संविधान निर्मात्री सभा का अध्यक्ष होने के नाते अपने विचारों को साकार रूप देने का अवसर मिला। संविधान के १४वें से लेकर १७वें अनुच्छेद में १० वर्ष की अवधि के लिए अनुसूचित जातियों के सदस्यों को कुछ संरक्षण प्रदान किये गये और साथ ही अस्पृश्यता उन्मूलन की घोषणा की गई।

यह आशा की जाती थी कि संविधान के लागू होने पर अछूतों की समस्यायें एक दशक में ही हल हो जाएंगी किंतु पिछले ३७ सालों के अनुभवों ने अम्बेडकर की आशावादिता पर तुषार-घात कर दिया है। क्षतिपूर्ति का दृष्टिकोण जो विक्टोरियन युग की देन थी स्वयं उदारता और दानवृत्ति पर आधारित था।

अनुसूचित जातियों के प्रति क्षतिपूर्ति की नीति और उसके तहत बने हुए कानूनों का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि हरिजनों के उत्थान के स्वैच्छिक प्रयास जो स्वतंत्रता से पूर्व बहुत पर्याप्त प्रबल और क्रांतिकारी थे, प्रायः ठप हो गये और हमारे अधिकांश नेता और जनता यह समझने लगी कि अब यह काम केवल सरकार का है।

१९५५ में लोक सभा ने अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित किया। इसमें अस्पृश्यता

का प्रचार और व्यवहार कानूनन अपराध ठहराया गया। सार्वजनिक भोजनालयों, आवासगृहों, धर्मशालाओं, सरायों, होटलों, मुसाफिरखानों, मनोरंजन स्थलों, सड़कों, देवालयों, जलाशयों, शमशानों या सार्वजनिक सेवाओं, वाहनों, अस्पतालों आदि के उपयोग में, किसी भी स्थान पर जमीन खरीदने, मकान बनाने, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जुलूस निकालने, आभूषण पहनने पर अछूतों पर अब कोई रोक नहीं रही। और यदि कोई उन्हें ऐसा करने से रोकता है, तो उसे एक महीने से छः महीने तक की सजा हो सकती है और ५०० रुपये तक जुर्माना। इसी तरह अछूतों को किसी ऐसे काम करने जिन्हें वे नहीं करना चाहते, जैसे मुर्दा जानवर उठाना, उन्हें ऐसा करने के लिए कोई मजबूर नहीं कर सकता। यदि कोई अधिकारी भी अछूतों के उत्पीड़न की जाँच में लापरवाही बर्तते तो उसके लिए भी सजा का प्राविधान था।

अगले २० सालों में उपरोक्त अधिनियम कैसे लागू हुआ और उसका क्या प्रभाव पड़ा इसकी भी संक्षिप्त जानकारी जरूरी है। इस अधिनियम को ध्यान से पढ़ने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें अनेक छिद्र थे। इसमें दी गई सजाएं भी काफी हल्की थीं। और जिस प्रकार इस कानून को दो दशकों में लागू किया गया वह सर्वथा असंतोषजनक था। एक पड़ताल से यह पता चला कि उत्पीड़न और भेदभाव के बहुत थोड़े ही मामले अलादतों में गए। शुरू के साल में सारे देश में वे ६९३ थे जो १९७१ में ३७३ रह गए। मुकदमे घिसटते रहते थे जिसके कारण लोगों की दिलचस्पी कम हो गई। सजाएं भी बहुत हल्की दी गई। मुकदमें जिस तरह से चले उनमें अधिकांश लोग बरी हो गए। जिन्हें सजा भी दी गई उन पर नाम मात्र का जुर्माना किया गया जो कई बार ३ रुपए से लेकर १० रुपए ही था।

१९६९ में सरकार ने अस्पृश्यता अपराध अधिनियम के कार्यान्वयन की पड़ताल के लिए श्री एलिपेरुमल की अध्यक्षता में यह जानने के लिए एक जांच समिति नियुक्त की कि स्थानीय अधिकारियों को इस कानून की कितनी जानकारी है और उसका कैसे कार्यान्वयन हुआ है। इस समिति ने अपनी रपट में बताया कि उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में ग्रामीण क्षेत्रों में किसी भी सरकारी कर्मचारी को अस्पृश्यता अपराध कानून का पता न था। तीस में से केवल दो ही पुलिस अधिकारी इस कानून की धाराओं के बारे में कुछ बता सके। दूसरे राज्यों में भी यही हाल था।

१९५५ के कानून की कमियों को दूर करने के लिए १९७६ में नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम नाम से एक नया कानून लोक सभा ने पारित किया। इसमें १९५५ के कानून की कमियों को दूर करने के प्रयास किए गए। बावजूद इसके, अनुसूचित जातियों ओंर जनजातियों की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार नहीं हो पा रहा है और उनके ऊपर कुछ इलाकों में हमले और अत्याचार बहुत बढ़ गए हैं। बिहार और मध्य प्रदेश के ग्रामीण इलाके इस प्रसंग में पर्याप्त कुख्याति अर्जित कर चुके हैं।

अनुसूचित वर्ग की राजनीति

जैसा कि हम बता चुके हैं डा० अम्बेडकर के प्रयासों के फलस्वरूप १९३५ में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार मिला और इस प्रकार पहली बार उनके राजनैतिक महत्व और लोकतांत्रिक अधिकारों को मान्यता मिली जिसके आगे कट्टरपंथी हिंदुओं को भी झुकना पड़ा। केन्द्रीय और प्रांतीय विधान सभाओं में अब मोटे तौर पर पांच में से एक स्थान अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के सदस्यों के लिए सुरक्षित हो गया। क्षेत्र विशेष में दो-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होता था जिसमें सब गैर-मुसलमान मतदाता मिलकर एक अनुसूचित और एक हिंदू को चुनते थे। उस समय मुसलमानों को भी पृथक प्रतिनिधित्व प्राप्त था, पर वे अपने प्रतिनिधियों को स्वयं चुनते थे।

अंग्रेजी राज में उक्त व्यवस्था १९४५ के चुनावों तक चली। १९५० में स्वीकृत स्वतंत्र भारत के संविधान में भी प्रायः इसी प्रणाली को स्वीकार किया गया। फर्क सिर्फ यही था कि अब मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन समाप्त हो गया और वे भी सामान्य मतदाता हो गए। अनुसूचितों के लिए सुरक्षित सीट पर अब मुसलमान भी हिंदुओं और अन्य सभी धर्मावलम्बी मतदाताओं के साथ अपना वोट देते हैं। इसके अलावा १९४५ तक मताधिकार, शिक्षा, सम्पत्ति आदि के बन्धनों के साथ सीमित था। १९५२ से २१ वर्ष से अधिक आयु के सभी स्त्री-पुरुषों-बालिगों को यह अधिकार मिल गया। इस बीच सिर्फ एक ही तब्दीली हुई। पहले एक विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्र में एक सामान्य और एक अनुसूचित सीट होती थी जिसे—डबल-मेम्बर कंस्टिट्यूएंसी—दो सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता था। इससे निर्वाचन क्षेत्र भी दुगुना बड़ा हो जाता था और साधारण निर्धन, निर्बल, अनुसूचित उम्मीदवार के लिए दुगने बड़े इलाके में चुनाव लड़ना मुश्किल पड़ता था। इसकी आलोचना हुई और इसमें संशोधन हुए। अब अनुसूचित निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय भी बन गए हैं।

यह उत्सुकता स्वाभाविक है कि हम यह जानें कि इस प्रकार के पृथक प्रतिनिधित्व का अनुसूचित जाति और जनजातियों पर क्या प्रभाव पड़ा। उससे जनसाधारण अनुसूचितों या हरिजनों को क्या लाभ पहुंचा?

आज लोक सभा के ५४४ सदस्यों में से ११९ अर्थात् २२ प्रतिशत अनुसूचित सदस्य हैं। इसी प्रकार राज्यों की विधान सभाओं के २८६४ सदस्यों में ८५० अर्थात् २२ प्रतिशत स्थान अनुसूचित सदस्यों के लिए सुरक्षित हैं।

विभिन्न समाजशास्त्रीय अध्ययनों से यह तथ्य स्पष्ट हुआ है कि अनुसूचितों के लिए सुरक्षित स्थानों ने हरिजनों के राजनैतिक महत्व और प्रतिष्ठा को बढ़ाया है। उनमें जागृति पैदा की और उनके वोट के राजनैतिक अधिकार और उसके प्रयोग करने के उत्साह ने उच्च जातियों के उम्मीदवारों को भी हरिजनों के पास जाने और उनका वोट पाने के लिए उनके साथ अच्छा

व्यवहार करने और दिखाने के लिए बाध्य होना पड़ा। छूतछात में ढील आई। पर इसके कुछ दुष्परिणाम भी देखने में आए।

निर्वाचन प्रक्रिया अत्यन्त खर्चीली होने तथा राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण तथा अधिकांश अनुसूचित उम्मीदवारों के निहित स्वार्थों ने, उन्हें साधन सम्पन्न शासक दल पर आश्रित कर दिया। उनके लिये स्वतन्त्र रूप से अपने बलबूते पर या विरोधी दल के टिकट पर चुनाव लड़ना और जीतना मुश्किल हो गया है। इसलिए अधिकांश निर्वाचित अनुसूचित वर्ग के सदस्य भी शासक दल के पिछलग्गू और प्रायः हाथ उठाने वाले और अपनी गद्दी को ही बचाने वाले बन गये हैं। अनुसूचितों में ही एक सुविधा भोगी, अवसरवादी—'नया वर्ग' बन गया है जो अनुसूचितों के नाम पर अपना निजी संरक्षण कर रहा है—अपने ही निजी स्वार्थों को पूरा कर रहा है। इस स्थिति के विरुद्ध भी अनुसूचित वर्ग के सच्चे हितैषियों में असंतोष और आक्रोश बढ़ रहा है।

यह चिंता का विषय है कि कैसे ईमानदार, योग्य और सच्चे अनुसूचित जनप्रतिनिधि हमारे विधान मण्डलों और लोक सभा में पहुंचे।

समाधान की भावी दिशा

यह सवाल हमारे सामने अभी भी रह जाता है कि भारतीय समाज में अनुसूचित जातियों की असंतोषजनक स्थिति और समस्याओं से कैसे निपटा जाए? क्योंकि अगर शीघ्र ही इनके समाधान की दिशा में कोई सही प्रभावी कदम नहीं उठाए जाते, तो इससे सभ्य राष्ट्रों के सामने हमारा सिर ही नीचा नहीं होता, बल्कि यह किसी भी समाज के लिए, विशेषकर भारत जैसे देश के लिए, जिसने महात्मा बुद्ध, गाँधी, जयप्रकाश नारायण, और अम्बेडकर जैसे सपूत पैदा किए, बड़े शर्म की बात है। लोकतन्त्र की सुरक्षा और किसी भी समाज की सुख और समृद्धि के लिए यह परम आवश्यक है कि इसके सब सदस्यों को शिक्षा और विकास के समान अवसर और सुविधायें प्राप्त हों। समाज के विभिन्न वर्गों में आपस में सौहार्द और सद्भाव हो। कोई किसी का शोषण न करे। कोई किसी पर अत्याचार न कर सके।

यह तो स्पष्ट ही है कि यह भावना केवल कानून और दण्ड से ही पैदा नहीं होती। कुछ समाज विरोधी अपराधियों से निपटने में कानून कुछ अंश में सहायक होते हैं, पर उसका अनुपालन और कार्यान्वियन मुख्यतः स्वयं जनता की सद् शिक्षा और संस्कार पर निर्भर करता है। लोक शिक्षा का यह काम केवल उपदेश और प्रवचन देकर ही पूरा नहीं हो जाता। इसके लिए निरन्तर सहभागिता और साझेदारी पहली शर्त है।

भारत के सभी प्रबुद्ध नागरिक, विशेषकर राजनैतिक, सामाजिक और शिक्षा के क्षेत्रों में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता, इस बात का आग्रह करें कि बच्चे, युवा, बूढ़े, स्त्री और पुरुष सभी अपने-अपने कार्यों में बिना किसी भेदभाव के अनुसूचित जातियों के सदस्यों के साथ मिलकर काम करें, पढ़ें-लिखें, खायें-पीएं, खेलें-कूदें, मनोरंजन करें, यहाँ तक कि बिना झिझक के और बिना

लालच के एक दूसरे के साथ विवाह सम्बन्ध भी स्थापित करें और देश तथा समाज निर्माण के काम में एकजुट हो आगे बढ़ें। इस प्रकार का सामाजिक आंदोलन और अभियान हमारे प्रत्येक देशवासी के लिये आनन्ददायक और प्रेरणादायक सिद्ध होगा और हमें भारतीय कहने में गर्व होगा।

यदि जाति अहंकार से ग्रसित तथाकथित उच्चजातीय बहुसंख्य वर्ग इस सामाजिक परिवर्तन और लोकतांत्रिक मानवीय व्यवहार के लिए स्वयं तैयार नहीं होता, तब अनुसूचित जाति और जनजातियों के सर्वहारा श्रमिकों को स्वयं अपने को राजनैतिक रूप से संगठित करना होगा, अपने मानवाधिकारों के लिए संघर्ष करने होंगे। इसके लिए मजबूत ग्रामीण सर्व-हारा संगठन बनाने होंगे जिनका नेतृत्व डा० अम्बेडकर जैसे प्रबुद्ध, मेधावी और समाजसेवक लोगों के हाथों में हो और जो अन्य वर्गों के प्रबुद्ध सदस्यों का जिनके दिलों में दलितों के लिए दर्द है, सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकें। तभी हरिजनों और अन्य सब भारतवासियों का कल्याण हो सकेगा और भारतीय समाज हमारे सपनों का एक सभ्य, सुसंस्कृत और समतापरक समाज बन सकेगा।

'अगम सत की भूमि पर' –समीक्षा लेख

लक्ष्मीनारायण लाल

मेरे एक मित्र जो काफी वर्षों तक सत्तावादी राजनीति में रहे हैं, एक समय उनके जीवन में ऐसा आया कि उन्होंने बड़े साहस के साथ यह ऐलान किया कि अब वे दलीय राजनीति की दलदल से बाहर रहकर साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यों में अपना सारा समय लगायेंगे। एक दिन उन्होंने बताया कि, "आजकल मैं अपना काम कर रहा हूं। पर लोग मुझसे तब भी पूछते रहते हैं कि आजकल आप क्या कर रहे हैं ?" उन्होंने दुःखी होकर बताया कि कितनी सारी रचनात्मक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, लेखकीय बातें बताता हूं, जो कर रहा हूं तथा जिसमें सारा समय लगा रहा हूं, लेकिन सारा तर्क बेकार हो जाता है और पूछने वाले का सवाल बरकरार रहता है—"यह सब तो ठीक है, लेकिन कर क्या रहे हैं ?"

यानी, एक बार राजनीति में रह कर आया व्यक्ति सिवा राजनीति के, और कहीं का रह नहीं जाता। तभी तो बार बार एक ही प्रश्न दोहराया–तिहराया जाता है–"तो अब क्या यही सब करते रहेंगे, वह नहीं करेंगे ?"

विचित्र स्थिति है। एक ओर राजनीति के प्रति कटुता और राजनीतिज्ञों के प्रति घृणा और दूसरी ओर यह तेवर भी कि अब आप राजनीति में नहीं हैं, तो बेकार हैं।

एक ओर राजनीति और राजसत्ता के प्रति घृणा और दूसरी ओर उसी के प्रति गुलामी-निश्चित रूप से यही वह मूल बिंदु है जहाँ से हम हर दिशा और हर चीज में विभक्त हुए हैं। और बड़ी गहराई से हममें विभाजन हुआ है। पहले लोग इस प्रश्न का समाधान कभी समाज में, कभी राजनीति में और कभी अध्यात्म में ढूंढते थे। पर जैसे जैसे देश, समाज और व्यक्ति की समस्यायें उत्तरोत्तर और गहराती चली जा रही हैं तथा अब तक सोचे और किये गये सारे समाधान समझ के बाहर हो रहे हैं, वैसे वैसे कुछ बिरले सोचने वालों की नजर राजनीति, राजसत्ता, व्यवस्था के परे जाकर समस्या के मूल को पकड़ने की दिशा में जा रही है।

स्वामी दयानंद का आर्य समाज, विवेकानंद का रामकृष्ण आश्रम, तिलक का "स्वराज्य", अरविंद का "अतिमानव", गांधी का "दरिद्रनारायण", राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का "हिन्दू

डा० लक्ष्मी नारायण लाल, विचारक, लेखक, ५४ ए, एम आई जी फ्लैट्स, ए-२, पश्चिम विहार, नई दिल्ली।

राष्ट्र", साम्यवादियों का 'अंतर्राष्ट्रीय वाद', समाजवादियों का 'लोक कल्याण' आदि—इन सारे क्षेत्रों में लोग अपनी अपनी भाषा में बड़े जोश और जोर के साथ यह कहते नहीं थकते थे कि सारी समस्याओं का समाधान वस्तुतः उन्हीं के पास है। पर जैसे-जैसे देश, समाज की चहुंमुखी समस्यायें गहराती चली जा रही हैं और समाधान सबकी समझ के बाहर हो रहा है, लोगों में "समाधान" का आत्मविश्वास छिन्न भिन्न हुआ है। इसी का उदाहरण है कि सारे राजनीतिक दलों से लेकर सारे संप्रदायों और संघों में लोग लगातार कितने-कितने गुटों में विभक्त हो चुके हैं और हो रहे हैं। बढ़ती हुई सामाजिक हिंसा, सर्वव्यापी भ्रष्टाचार, हर क्षेत्र में व्यक्ति की अनास्था, जैसी समस्याओं को समझाने में सारे के सारे आधुनिक दर्शन, महापुरुषों के सूत्र और उनके मंत्र अपनी विश्वसनीयता खो चुके हैं।

सारी समस्याओं की जड़ में बल्कि वर्तमान सभ्यता के संकट को देखने और जानने के लिए सत्ता, राजनीतिक, अर्थव्यवस्था, शासन व्यवस्था के परे जाकर अपने ही भीतर जो हम में घट चुका है उसको बड़ी गंभीरता और सावधानी से जिन लोगों ने देखना शुरू कर दिया है, उनमें श्री अवधकिशोर शरण मेरे लिये अनन्य हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत विचार "समाज पुनर्निर्माण में धर्म, परंपरा और जीवन-दर्शन" उस निर्मल दृष्टि का एक ऐसा उदाहरण है, जो अपने आप में एक अभूतपूर्व 'साक्षात्कार' है—यह मैं अपने लिए तो साधिकार कह सकता हूं। प्रोफेसर शरण की दृष्टि को समझने के लिये यह जानना अति-आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की औपनिवेशिकता वस्तुतः मनुष्य की चेतना ही बन जाती है। यह औपनिवेशिकता का भयंकर फल है। इसलिए उस मानसिकता के साथ लड़ाई, प्रज्ञा के धरातल पर ही करनी पड़ती है। इस लड़ाई की प्रक्रिया उपनिवेशवासी ही आरंभ करते हैं। और इस लड़ाई में विजय अंततः उपनिवेशवासी जनसमुदाय की ही होती है। सारे महापुरुषों में केवल गांधी जी ने उस 'लड़ाई' में अपने आचरण से इस बात को बड़े ही सुदर ढंग से दिखा दिया है कि कहीं भी स्वतंत्रता एकांगी नहीं है। उसे बांटकर नहीं देखा जा सकता। संसार के सारे गुलाम, प्रताड़ित लोग एक हैं। साथ ही साथ गांधी जी ने यह भी दिखा दिया कि अत्याचारी भी अपने अत्याचार की संस्कृति में जकड़ा हुआ छटपटा रहा है। हालांकि अत्याचारियों के संबंध में यह बात सर्वविदित नहीं है। इसलिए यह बात यहां इसी प्रज्ञा के धरातल पर ही उठाई गई है—भारत के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के संदर्भ में।

ऐसा नहीं है कि प्रज्ञा के धरातल पर पहले यह बात उठाई नहीं गई है। बल्कि भारतीय संस्कृति और समाज के संदर्भ में इस कदर बातें उठाई गई हैं कि उसके बाहर की दुनिया बार बार अदृश्य हो गई है। उसके लिए तब संघर्ष, आंदोलन और लड़ाई सब कुछ अप्रासंगिक हो गया है। ऐसा लगता है कि संकट का समाधान ढूंढते-ढूंढते लोग वर्तमान सभ्यता के संकट से स्वयं ही दूर हट जाते हैं। भारतीय संस्कृति में गोता लगाने वाले लोग इस बात के उदाहरण हैं कि इस प्रकिया में वे खुद समाज और संस्कृति से अलग कट गये हैं। सिर्फ गांधी जी के साथ ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने प्रज्ञा के धरातल पर ही लड़ाई की चेतना जगानी चाही थी। लेकिन उनमें भी कुछ ऐसे अंतर्विरोधी थे जो एक भारतीय को अंततः जड़ और कुंठित बना

देते हैं। दरअसल वह आधुनिक और भारतीय दोनों सभ्यताओं से लड़ रहे थे। दोनों के अंत-र्विरोधों से टकरा रहे थे। लेकिन उनकी भी ये सीमा थी कि हिंदू धर्म को श्रेष्ठ बताना उन्होंने कभी नहीं छोड़ा, जिसकी कीमत खुद चुकानी पड़ी और पूरे देश को चुकानी पड़ रही है।

हमारे औपनिवेशिक मानस की एक जबर्दस्त पहचान यह रही है कि हम एक ओर आधुनिक वादी हैं, आधुनिक सभ्यता के गुलाम हैं और स्वभावतः कहीं भीतर ही भीतर उससे नफरत भी करते हैं। दूसरी ओर हम आधुनिक पश्चिम सभ्यता को नकार कर अपनी प्राचीन सभ्यता के गर्भ में चले जाते हैं। इन दोनों परस्पर विरोधी बातों का परिणाम यह होता है कि हम अपने जीवन और विचारों में जाने-अनजाने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का गुलाम बनने के लिए सदा तैयार हैं।

समाज और संस्कृति के बारे में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। एक के अनुसार मानव समाज और संस्कृति संरचना एवं विकास में अर्थ की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में समाज और संस्कृति की रचना मनुष्य के अधीन है। वही उसका कर्ता है, वही उसका नियामक हैं। दूसरे दृष्टिकोण में समाज और संस्कृति बुनियादी तौर पर धर्म और ईश्वर के अधीन हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो यह जीवन मूल्यों और आदर्शों के अधीन है। यदि इन दोनों दृष्टिकोणों की सही पहचान करने की कोशिश की जाये तो पहले दृष्टिकोण को पदार्थवादी तथा दूसरे दृष्टिकोण को अध्यात्मवादी दृष्टिकोण कहकर समझा जा सकता है। पदार्थवादी विचारक और दृष्टि समाज और संस्कृति विषयक अपने सारे चिंतन को जगत के भौतिक स्वरूप पर आधारित करके देखता है। संपूर्ण जीवन को केवल भौतिक उन्नति के रूप में प्राप्त करने का साधन मानता है और जगत को निरंतर आगे बढ़ता हुआ मानकर वर्तमान को अतीत की अपेक्षा अधिक समझदार, अधिक गतिशील एवं अधिक मूल्यवान मानता है। इस दृष्टिकोण के पीछे इतिहास बोध, औद्योगिक विकास दृष्टि से प्राप्त, विज्ञान सम्मत उसकी आधुनिक चेतना है।

इससे बिल्कुल विपरीत दिशा, अध्यात्मवादी की है। वह अपने सारे दृष्टिकोण को इस आधार पर विकसित कर लेता है कि जगत का भौतिक स्वरूप स्वभावतः अस्थायी एवं विनाशशील है। जीवन वस्तुतः किसी अदृश्य, अलौकिक, अगम सत्ता के अधीन है। इन दोनों दृष्टिकोणों को सही-सही रूप में समझने, समझाने और सही संदर्भों में उसे हमारी चेतना से जोड़ने वाले लोगों की इतनी कमी होती चली गई कि आज प्रायः हम यही समझने लगे हैं कि पदार्थ और भौतिकता अध्यात्म के खिलाफ है और अध्यात्म मौलिकता के खिलाफ। ऐसा क्यों हुआ ? यह प्रोफेसर शरण के विचार में बड़े सुंदर ढंग से (यद्यपि सांकेतिक ढंग से) व्यक्त किया गया है। भारत के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण क्षेत्र के कई विचारकों और नियामकों—स्वामी दयानंद, विवेकानंद, तिलक से लेकर श्री करपात्री जी और महर्षि महेश योगी तक ने यद्यपि यह बात कही है कि हमारे इस भौतिक वादी युग को ऐसे अध्यात्म की जरूरत है जो भौतिकता से भय न माने और उसे भयावह न करे। इन्होंने इस संबंध में जितनी बातें की हैं और कर्म

किये हैं, उनका वर्तमान भारतीय समाज और संस्कृति पर कितना असर पड़ा है इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। स्वतंत्रता से पूर्व श्री अरविंद ने अध्यात्मिकता को जिस भाषा और कर्म स्तर से प्रस्तुत किया, उसका हमारे समाज पर क्या असर हुआ, कहीं कुछ दिखाई नहीं पड़ता। स्वतंत्रता के बाद ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानंद सरस्वती के शिष्य महर्षि महेश योगी और दक्षिण भारत के संत श्री सत्यसाई बाबा और श्री बृंदावन के अनंत श्री स्वामी अखंडानंद आदि संतों ने अपनी भाषा में भारत के सांस्कृतिक पुर्निर्माण में सनातन धर्म, परंपरा और जीवन-दर्शन को बताते हुए यही कहा है कि आज के युग को ऐसे अध्यात्मवाद की अवश्यकता है जो भौतिकता का तिरस्कार न करे, बल्कि भौतिकता का आह्वान करे, उसको और बढ़ाए। उसकी झिलमिल ज्योति, अपने दिव्य प्रकाश से, संसार की सजीव क्षणभंगुरता में पारमार्थिकी सत्ता की नित्यता का अभिनव संचार कर सके, जो दुःखभरे, अज्ञान भरे, अशांति भरे, अंधकार भरे जीवन की नीरवता में आंनद भर सके, ज्ञान भर सके, जीवन का प्रकाश ला सके।

इस प्रत्यक्षवादी युग को ऐसे अध्यात्म की आवश्यकता है, जो परोक्ष की जटिलताओं में जीवन को उलझाए न रखे, अध्यात्म की कल्पनाओं में जीवन को भुलाए न रखे, भगवत्प्राप्ति की आशा में जीवन की इतिश्री न कर दे। प्रत्यक्ष की सहज सुलभता में ही परमानंद की प्रप्ति करा सके, जो जीवन मुक्ति की सुदूर परिभाषा को जन-जन के जीवन की चरितार्थ आशा कर सके।

जरूरत है इस युग को ऐसे अध्यात्म की, जो बुद्धिहीन, हृदयहीन नास्तिकता में पले हुए तथा कथित बुद्धि जीवियों को "यो बुद्धे परतस्तु सः" का अनुभव करा सके, परमानन्दमयी परा-विद्या की रसानुभूति कराके सहज ही परमात्मोन्मुख हो जाने के लिये उन्हें स्वतंत्र छोड़ दे।

इन दोनों दृष्टिकोणों के विचारकों और नियामकों को स्वभावतः दो ही विकल्प इस क्षेत्र में इनके सामने हैं। भौतिकवादी के लिए एक मात्र विकल्प है साम्यवाद। अध्यात्मवादी, शंकराचार्य की दिग्विजय की पुनरावृत्ति करने की सोचता है। वह वैदिक सिद्धांत और ज्ञान की पुनर्प्रतिष्ठा तथा फिर से यहां रामराज्य का स्वप्न देखता है। जबकि अंग्रेजी राज्य और स्वतंत्र भारत की राज्य व्यवस्था ने जड़ से यहाँ शिक्षा का विनाश किया है, धर्म को धर्मनिर-पेक्षता की गहरी खाई में पाट दिया है, यह सच्चाई वह नहीं देखना चाहता। स्वभावतः जिसका फल यह है कि यहाँ जिस तरह से साम्यवाद की, विशेषकर मार्क्स की सूक्ष्मता विलुप्त हुई है, उससे कई गुना ढंग से धर्म, संस्कृति, अध्यात्म की अर्थवत्ता, प्रासंगिकता नष्ट की गई है। भक्ति, वेदांत और योग की इतनी चर्चायें होती हैं, पर जैसा भारतीय मानस हमारी सांस्कृतिक दासता, अंग्रेजों के उपनिवेशवादी राज से निर्मित हुआ है, स्वभावतः उसके पल्ले कहीं कुछ नहीं पड़ता। चिंता, शोक और दुख तथा नाना प्रकार की दुर्बलताओं में मनुष्य जीवन पंगु हो गया है। लोग अब यह सोचने पर मजबूर हुए हैं कि धर्म एक अलग चीज है, जिससे हमारे कर्म, व्यवहार और आचरण का कोई संबंध नहीं है। हमारा प्रत्यक्ष जगत बिल्कुल अलग चीज

है और ईश्वर, धर्म बिल्कुल अलग। दोनों में कहीं कोई वास्ता नहीं। भारतीय राज्य व्यवस्था कुशिक्षा से निर्मित भारतीय आधुनिकता के तहत ये माना जाने लगा है कि सहज धर्म का व्यापक क्षेत्र हर तरह से दुष्कर और असाध्य है। अध्यात्मविहीन भारतीय मानस प्रसन्नतापूर्वक बल-हीन होकर भौतिक दीनता की सीमा पर जा रहा है।

ऐसा इस देश में कई बार हो चुका है। आदिशंकराचार्य के समय में भी एक माता काशीपुरी में विलाप करती हुए रो रही थी—"को वेदानुद्धरिष्यति ?" अर्थात् कौन वेदों का उद्धार करेगा ?

नीचे सड़क पर एक ब्रह्मचारी गंगा स्नान को जा रहा था, उसने मकान के भीतर से सुनी मां की आवाज—"को वेदानुद्धरष्यति ?" उसने रुककर उत्तर दिया—"मां रोदिषि वरा-नने ! एष भट्टो हि जीवति"— मां ! विलाप मत कर, यह कुमारिल भट्ट अभी जीवित है।

ब्रह्मचारी ने संकल्प किया वैदिक सत्यता के पुनरुत्थान का। फल हुआ वैदिक प्रामाणि-कता लोक में प्रतिष्ठित हुई। लोक–कल्याण के लिए वैदिक मार्ग प्रशस्त हुआ। शंकराचार्य ने कुमारिल भट्ट का संकल्प पूरा किया। व्यक्ति के जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा–वेदांत, योग तथा भक्ति से मानव–जीवन की चरितार्थता के लिए राजमार्ग प्रशस्त हुआ।

ऐसा ही समय १९ वीं शताब्दी में आया था जब भारत माता के विलाप को स्वामी दयानंद ने सुना और आर्य समाज की स्थापना की। २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ऐसा ही विलाप सुनकर अरविंद ने पांडिचेरी में उसके प्रति कोई निदान ढूंढना चाहा और तमाम जगह आर्य समाज आश्रमों की तरह अरविंद आश्रम खोले गये। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महात्मा गांधी ने पश्चिम के भौतिकवाद और यूरोप की आधुनिकता को जिस रूप में देखा और 'हिंद स्वराज्य' पुस्तक के माध्यम से हम भारतवासियों को दिखाना चाहा, इन तीनों स्तरों और क्षेत्रों में कहीं कुछ न हुआ–सिर्फ जड़ता और कुंठा ही बढ़ी। इस सब सांस्कृतिक ह्रास और असफलता के पीछे क्या सच्चाइयां रही हैं, इनको जानना एक बुनियादी कार्य था, जो नहीं हो सका। यद्यपि इन सारे मुद्दों पर तमाम विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है, लेकिन कहीं कोई बात पकड़ में नही आती। मैं स्वयं इन प्रश्नों और समस्याओं के प्रति अत्यंत जिज्ञासु रहा हूं कि वह आधारभूत तथ्य क्या हैं, जिनकी वजह से भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में इतने अंत विरोध प्रत्यक्ष दिखते हैं, पर पकड़ में क्यों नहीं आते ? समाज और संस्कृति में इनकी पृष्ठ-भूमि क्या है ? वे मूलभूत घटनाएं क्या हैं, जिनसे हमारा ऐसा वर्तमान भारत बना हुआ है, जिसे जितना जानने की कोशिश करो, समझ में कुछ नहीं आता। इन्हीं प्रश्नों और जिज्ञासाओं को लेकर मैं तमाम विद्वानों, संतों, धर्मावलंबियों के पास गया हूं, पर मेरी शंकाए इस दिशा में और बढ़ती चली गईं। उनका निवारण नहीं हो सका।

प्रोफेसर अवधकिशोर शरण से मेरी भेंट, मेरे जीवन का एक सौभाग्यपूर्ण क्षण रहा है। मुझे 'देखने' और 'जानने' की विलुप्त सूक्ष्मता और प्रासंगिकता प्रोफेसर शरण के सत्संग से प्राप्त हुई। आज जिस तरह से भारतवर्ष के हर क्षेत्र में दुःख और अंतर्विरोध चारों तरफ से हमारे

सामने प्रगट हो रहा है, उसके समाधान में आज कोई विवेकानंद, अरविंद, दयानंद यहां तक कि महात्मा गांधी खड़े नहीं हो सकते। क्योंकि, जिस तरह से भारतीय मानस ने इस्लामी और अंग्रेजी राज्य के साथ आचरण किया और आज भी जिस तरह से स्वतंत्र भारत के धर्म-निरपेक्ष और समाजवादी लोकतंत्र के साथ इसका संबंध चल रहा है, उसमें कहीं भी कोई सांस्कृतिक पुर्ननिर्माण की गुँजाइश नहीं है। इस सत्य का अनुभव मुझे पहली बार प्रोफेसर शरण के सत्संग से हुआ। अपने प्रस्तुत लेख में प्रोफेसर शरण ने अपनी सांकेतिक भाषा में उस सत्य को हमें दिया है, यह हम सबका सौभाग्य है। उसकी सारभूत बानगी में उन्हीं के शब्दों में, यहां उद्धृत करने का लोभ नहीं टाल पा रहा हूं।

"इस्लाम, इस्लामी संस्कृति एवं मुसलमानी राज्य हिंदू धर्म एवं संस्कृति के लिए बिल्कुल भिन्न प्रकार की चुनौती थे। और इस चुनौती का सामना बौद्ध एवं जैन धर्मों को भी करना था। जो संबंध बौद्ध और हिंदू धर्म के हो सकते थे, उनका कोई प्रश्न ही इस्लाम के संदर्भ में नहीं उठता। इस्लाम के रूप में हिंदू, बौद्ध, जैन सभी भारतीय धर्मों को एक विदेशी धर्म, संस्कृति एवं राजशक्ति का सामना करना था। मुसलमानी साम्राज्य, हिंदू, बौद्ध, जैन धर्म उस अर्थ में तो पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सका कि बड़ी से बड़ी संख्या में हिन्दू-बौद्ध जैन अथवा अन्य गैर इस्लामी मतावलंबी, उत्तरोत्तर इस्लाम स्वीकार करते जायें। बहुत बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन हुए। इसमें संदेह नहीं पर हिंदू धर्मावलंबी अल्पसंख्यक कभी नहीं हुए जो कि मुसलमानी साम्राज्य का घोषित धार्मिक अभीष्ट था। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि मुसलमान सम्राटों व राजाओं ने राजनीतिक प्रभुत्व को प्रमुखता दी और इस्लाम का धार्मिक प्रभुत्व गौण होता गया। इस प्रकार इस्लाम की समानता, उसकी सावयवी पूर्णता खंडित हुई। हिंदुओं (बौद्ध, जैनों) ने इस्लाम का राजनीतिक प्रभुत्व स्वीकार किया पर उसका धार्मिक प्रभुत्व अस्वीकार करते रहे। इसका दोनों पक्षों के लिए एक परिणाम यह भी हुआ कि हिंदुओं ने इस्लामी धर्म का तो पूर्ण बहिष्कार किया, पर इस्लामी संस्कृति का नहीं। अनेक रूपों में भिन्न स्तरों पर इस्लामी संस्कृति हिंदुओं द्वारा अंगीकृत हुई। इस प्रकार हिंदू धर्म की सनातनता, सर्वव्यापकता तथा अखंड संपूर्णता बाधित होती है। भारत में हिंदू (बौद्ध एवं जैन) धर्म और संस्कृति के उत्तरोत्तर ह्रास के इतिहास का यह अति दुःखद और निर्णायक अध्याय है। ह्रास और अधोगति की यह परंपरा अंग्रेजी राज्य में और भी हीन रूप धारण करती है और आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता तथा विदेशी राजप्रभुता के आश्रय में विशेष रूप से हठ होती है। स्वतंत्र भारत में यह अधोगामी प्रवृत्ति, यह विनाशकारी परंपरा अपनी चरमावस्था को प्राप्त होती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि भारत में इस्लाम और इस्लामी संस्कृति के ह्रास का भी आरंभ यहीं से होता है। परंतु इस स्थापना का विवेचन हमारे लेख का विषय नहीं है।

सभी सनातन धर्मों का मूलाधार पूर्ण, शाश्वत, अखंडनीय परम सत्य होता है। हिंदू धर्म में इहलौकिक. पारलौकिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक बाह्य, स्थूल और आंतरिक सूक्ष्म भूमियों का भेद पर्याय ज्ञान के रूप में कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। इनकी अभि-

न्नता का ज्ञान और तदनुसार आचार व्यवहार हिंदू धर्म की प्राण शक्ति है। धर्म और संस्कृति, धार्मिक और राजनैतिक–सामाजिक जीवन हिंदू परंपरा में अविभाज्य है। हिंदू धर्म और इस्लामी संस्कृति, हिंदू धर्म अथवा हिंदू संस्कृति एवं मुस्लिम राजसत्ता कभी भी एक साथ स्वीकार नहीं हो सकती। ब्राह्मणों और पंडितों ने इस विभाजन को मान्यता दी उसके परिणाम-स्वरूप अंततः सत्य के प्रति यह खंडित मिथ्या दृष्टि ही हिंदुओं की वास्तविक दृष्टि बनती गयी और इस प्रकार हिंदू धर्म और संस्कृति के स्वभाव स्वरूप के पुनरुद्धार की संभावना उत्तरोत्तर क्षीण होती गयी। इस प्रकार मन, वचन और कर्म की एकता में ब्राह्मणों और पंडितों ने एक ऐसी दरार डाल दी जो दुर्भाग्यवश निरंतर गहरी और विस्तृत ही होती गयी देश, काल के अनुसार अनेक रूपों में यह दरार उभरी, पर प्रायः निम्नतर भूमियों पर ही।"

भारतीय मानस की असहायता, उसकी नंपुसकता यहीं से उत्पन्न होती है। इसका फल यह हुआ है कि हिंदू, मुस्लिम और ईसाई—इन तीनों व्यवस्थाओं और सभ्यताओं का हम सब-को प्रतिकूल बोझ उठाना पड़ा है जिसका बोझ इतना अदृश्य पर इतना भारी है कि इसके कष्ट की अनुभूति को प्रकट करने के लिए हमारे पास कोई भाषा ही नहीं रह जाती। भाषा के अभाव में फिर इसके खिलाफ कुछ कर्म करने की संभावना कहाँ से हो सकती है? ऐसी स्थिति में केवल राजनीतिक आंदोलन बिल्कुल नाकाफी है, बल्कि एक तरह से बुनियादी संकट पर पर्दा डालने के साधन हैं। जैसा मैंने पहले कहा कि सारा संकट पहले प्रज्ञा के धरातल पर ही देखना होगा। उसी में से कर्म का संकल्प लेना होगा। बड़े साहस के साथ यह देखना होगा कि स्वयं हिंदू सभ्यता ने हमें कहां, किस कदर गुलाम बनाया। प्राचीन सभ्यता ने हमें कहां दबोच रखा है और पंगु बनाया है? इस भूमि पर किस कदर आधुनिक सभ्यता का उपनिवेश हम पर हावी हुआ अर्थात् आधुनिक सभ्यता ने हमें कहां गुलाम बनाया? हमारी पिछली गुलामी की प्रक्रियाओं ने हमें आज कहाँ ला खड़ा कर दिया कि हम सभ्यताओं से टकराते नहीं, बल्कि उन्हें अपने क्लीवत्व में चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं।

आज हम जिस आधुनिक सभ्यता में सांस ले रहे हैं उसके अपने विशेष मानदंड हैं। इस मानदंड का एकमात्र लक्ष्य है दुनिया के बड़े हिस्से को नये प्रकार का उपनिवेश बनाना। यहीं हमें बड़े साहस के साथ यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक सभ्यता ने हमें जिस तरह उपनिवेश बनाया है प्राचीन सभ्यता ने हमें उसी तरह समता विरोधी बनाया है। इसी में बल्कि इसी कारण दोगलेपन का एक और तत्व आ जुड़ा है।

हमारे समय में इस संकट को काफी हद तक गांधी जी ने देखा। उनकी अहिंसा की दृष्टि ऐसी थी जो पराजित हिंदुत्व को फिर से विजयी बनाने के लिए एक सार्थक उपक्रम था। गांधी से पहले १५० वर्षों के अंग्रेजी शासन काल में किसी सामाजिक अथवा राजनैतिक नेता ने "अहिंसा" को हिंदू धर्म अथवा भारतीय चिंतन के एक स्थायी गुण के रूप में प्रतिपादित नहीं किया था। राजा राममोहन राय एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो "दया" पर बहुत जोर देते थे। गाँधी के बहुत पहले स्वामी विवेकानंद ने बड़े व्यंग्य से यह कहा था कि अँग्रेजों ने पुराने

भारतीय ग्रंथों से शिक्षा लेकर अपने "भोगवादी", "संसारवादी" और "पुरुषार्थवादी" कार्यों में सफलता पाई है और भारतीय लोग बेवकूफों की तरह ईसाई उसूलों को अपनाकर अकर्मण्यता "पलायनवाद" और "स्त्रियोचित गुणों" के पीछे भाग रहे हैं। पता नहीं विवेकानंद का यह चिंतन ठीक है या नहीं, पर आवश्यक बात यह है कि गाँधी जी ने इसी ज्ञान को सर्वथा एक दूसरा मोड़ दे दिया।

इसी आधार पर गांधी, अंग्रेज और भारतीय दोनों को ही मुक्ति दिलाना चाहते थे। भारत में शासक वर्गों ने अपने लिए कुछ ऐसे नियम बनाये थे जो स्वयं उनके लिए बाधक सिद्ध हो रहे थे। कई अंग्रेज विद्वानों ने उन्हें झूठा "मान" झूठा "पुरुषत्व" का नाम दिया है। गांधी ने इसे समझा और इससे अपना काम निकाला। उसको राजनीति के क्षेत्र में काम में लाने के लिए सबसे पहले उन्होंने "जैविक" आधारों पर राजनैतिक असमानता और न्याय को चुनौती दी। औपनिवेशिक संस्कृति में लिंग के आधार पर तीन विभक्तियां की गई हैं–पुरुषत्व, नारीत्व और क्लीवत्व, अर्थात् पुरुषत्व नारीत्व से ऊंचा है, नारीत्व क्लीवत्व से। इसके फलस्वरूप "क्षत्रियत्व" को एक नया महत्व मिला और "क्षत्रियत्व" को असली भारतीयता मान लिया गया। इस प्रकार इसे महत्व देने से उपनिवेश बनाने वाले अपने ही जाल में फंस गए। "बड़ा पुरुषार्थ", "बड़ा क्षत्रियत्व" ने भारतीयों पर अच्छा प्रभाव डाला।

गांधी की अहिंसा को सही अर्थों में 'नया साहस' कहा गया है—मनुष्य को कापुरुषत्व से ऊपर उठाकर सच्चे अर्थों में एक पुरुष बनाता है। वह यह स्वीकार करता है कि उसके अंदर पुरुष और नारी दोनों की शक्तियां उद्वेलित हो रही हैं। "क्षत्रियत्व" की दृष्टि से यह साहस हिंसा से नहीं जुड़ा है। लेकिन कभी कभी यह आवश्यक हिंसा को अपनाकर ही आगे बढ़ता है। विशेषतया जब इस साहस को अन्याय, असमानता और अत्याचार का सामना करना पड़ता है। अपने को अत्याचार का शिकार बनने देना, हिंसा से अधिक घृणित है। गांधी के मन में यह बात थी कर्मठता और साहस दोनों को आक्रमणात्मक हिंसा से मुक्त रखा जा सकता है। इस गुण को उन्होंने नारीत्व और मातृत्व का समरूप माना है। इस दृष्टिकोण ने क्षत्रियों के दृष्टिकोण को नकारा हो या नहीं लेकिन इसने औपनिवेशिक संस्कृति को अवश्य नकारा। औपनिवेशिक संस्कृति पाश्चात्य ब्रह्मांड ज्ञान पर बहुत अच्छी तरह आधारित है। उसका मूल तत्व यह है कि कर्मठता खोना हिंसात्मक न होना, पुरुषार्थ के ह्रास का द्योतक है। गांधी की अहिंसा इसके विपरीत है। इसी अर्थ में गाँधी महात्मा हैं। वह सनातन धर्म की मूल धुरी के समीप हैं, 'सभी सनातन धर्मों का मूलाधार पूर्ण, शाश्वत, अखंडनीय परम सत्य होता है।'

वर्तमान शताब्दी को विशेषकर भारतीय समाज को उस यातनादायी बाह्य और आंतरिक शक्ति के साथ जूझना पड़ रहा है जिसे "आधुनिकता" की सर्वजयी तकनीकी ज्ञान का बल प्राप्त है। भारतीय समाज को ग्रहण करने के साथ ही साथ स्वयं को उससे बचाने के लिए एक विचित्र प्रकार की कार्यकुशलता और सृजनात्मकता ओढ़नी पड़ रही है। जो लोग इस अंतर्विरोध के शिकार हो चुके हैं वे किस हास्यास्पद स्थिति में स्वयं को पाते हैं इसका उदाहरण हम अपने चारों ओर पा सकते हैं। एक उदाहरण मैंने अपने मित्र का दिया जो काफी वर्षों तक

सत्यवादी राजनीति में रहे हैं। पर आज वे स्वयं अपने आपको किस हास्यास्पद स्थिति में पा रहे हैं! इसके मूल में कारण वही है जहां हम अपने भीतर से, प्रज्ञा के स्तर पर खंडित और विभक्त हुए हैं वहीं से केवल एक यही चेतना हममें काम कर रही है कि जो भी जहाँ से कोई "शक्तिशाली" हमें दिखाई देता है हम स्वभाववश उसके व्यवहार और आचरण का अनुकरण करने को सदा तत्पर रहते हैं। इस अनुकरणीय प्रवृत्ति में हम अब तक यह भूल चुके हैं कि शक्तिशाली का अनुकरण करने का मतलब है उसकी अधीनता स्वीकार करना और साथ ही उसकी संस्कृति का बहिष्कार करना। इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि इस नकारात्मक प्रवृत्ति के व्यवहार से उन्हें लगता है कि वे उसकी व्यवस्था को महत्वहीन कर रहे हैं और साथ ही साथ स्वयं को उससे बड़ा साबित कर रहे हैं। इसी को प्रोफेसर शरण अकसर अपनी बातचीत में "नीलकंठवाद" कहते हैं।

आशीष नंदी ने अपनी पुस्तक "इंटीमेट एनीमी" में किपलिंग और अरविंद का औपनिवेशिक मानस निर्माण के संदर्भ में बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इस अध्ययन से उन सारे लेखकों जैसे नीरद चौधरी, नायपाल आदि, तथा उन भारत के आलोचकों खासकर हिंदू सभ्यता और सनातन धर्म के निंदकों पर विशेष प्रकाश पड़ता है जो महज आत्मरक्षा की भावना के कारण ही इस तरह की सतही आलोचना करते हैं। वस्तुतः वे आलोचक नहीं हैं बल्कि उसके अभिन्न अंग हैं। जिसे वे नहीं देख पाते।

भारतीय अध्यात्म और भारतीय भौतिकवाद दोनों को ध्यान से देखें तो हम पायेंगे कि दोनों एक दूसरे के पूरक ही नहीं बल्कि दोनों एक ही अखंडता के स्वरूप हैं। आज हम अध्यात्म और भौतिकता दोनों को एक अजीबोगरीब नजर और दहशत से देखते हैं जिसके पीछे हमारी अंतः चेतना में यही बैठ गया है, आज हमें पूछता कौन है? असल में तो होगा वही जो साहब लोग "चाहेंगे" या उनके जांनशीन चाहेंगे, जिसके लिए यह कहावत अब भी हमारे बुजुर्गों की जुबान पर है—

"बूट डासन ने बनाया मैंने एक मजमूं लिखा।
मुल्क में मजमूं न फैला और जूता चल गया॥"

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों तथाकथित विद्वान लोग गांधी जी की आलोचना में कहा करते थे कि वैराग्य ने हमारे देश को तबाह कर दिया। किंतु महाभारत काल में यदि हम भारत के अधोपतन काल की शुरुआत समझे तो क्या कोई कह सकता है कि उस समय अहिंसा, वैराग्य और क्षमा का दौर दौरा था? यदि पृथ्वीराज के समय से भारतवर्ष का विशेष अधोपतन मानें, तो कोई यह नहीं बता सकता कि कब पृथ्वीराज ने त्याग, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपनाया था? उनके पीछे अब तक कब हमने वैराग्य, अहिंसा, सत्य और संतोष की उपासना की! भारतवर्ष में लोग प्रायः वर्तमान सभ्यता के संकट को कुछ इसी तरह की भाषा में प्रश्न उठाते रहे हैं, क्योंकि इससे आगे वे प्रश्न उठा ही नहीं सकते। इसके पीछे हमारे हिन्दू मानस और चरित्र में जो बुनियादी तौर पर अलगाव और टूटन तत्त्व विद्यमान है उसे देख पाना संभव नहीं होता।

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में महात्मा गाँधी के साथ जो घटनाएं घटित हुईं; यदि आज हम उन्हें याद करें तो हम वर्तमान औपनिवेशिक मानस की पूरी तैयारी का जायज़ा ले सकते हैं। घटना है द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के दिनों की। लंदन में कुछ स्वयंभू नेताओं ने अंग्रेजों से यह कहा कि हिंदुओं के प्रतिनिधि हम हैं, महात्मा जी नही। उन दिनों, फिर सहज ही यह प्रश्न उठा कि सच! आखिर महात्मा गांधी किसके प्रतिनिधि हैं? गांधी ने इसके उत्तर में कहा, "मेरी दवा तो हिंदू समाज को प्रिय नहीं, वह समझ भी नहीं सकता कि मेरी दवा क्या है। गुंडेपन की दवा गुंडापन है, ऐसा ही वह मानता है। ऐसी हालत में जब तक हिंदू मेरी दवा का मर्म नहीं समझें, हिंदू सभा को अपने कब्जे में करना मैं मुनासिब नही समझता।"

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों की एक बानगी और भी देखने लायक है जहाँ हिंदू सभ्यता के संकट का एक गंभीर चित्र मिलता है। वर्धा के पास एक छोटा–सा सिंदी ग्राम है। वहा मीराबहन (मिस स्लेड) ने ग्रामोत्थान कार्य प्रारंभ किया। वहां एक छोटी-सी झोपड़ी बनाकर वे रहने लगीं। जब पहले-पहल वहां पहुंची तब कौतूहलवश लोग इकट्टे हो गये और उनसे तरह तरह के प्रश्न पूछने लगे। पानी की जरूरत पड़ी, तब एक नौजवान पानी ले आया और घड़े में पानी डालकर चला गया। पर यह कौतूहल कब तक ठहरता? आखिर दूसरे दिन मीरा बहन को पानी की जरूरत पड़ी तब घड़ा लेकर कुएं पर पहुंची। जिन चेहरों पर पहले मैत्री का प्रकाश था, वहीं आँखें दिखाने लगे और बोले, "आप यहाँ पानी नहीं निकाल सकतीं, पानी चाहिए तो अपना अलग कुंआ बनवा लो।" एक बनिये के कुंए पर गयीं, महारों (हरिजनों की एक उपजाति) के कुंए पर गयीं, मांगों (हरिजनों की एक दूसरी उपजाति) के कुंए पर गयीं, पर मीराबहन के घड़े को कुंए में डलवाकर कुंआ कौन अपवित्र कराये। गांव वाले मीराबहन की प्रार्थना में आते, अपना दु:ख-दर्द सुना जाते, पर अपने कुंए में मीराबहन का घड़ा नहीं जाने देते। मीराबहन दवा देती हैं, तब सब लोग ले जाते हैं, ब्राह्मण लोग भी ले जाते हैं, पर बिना स्पर्श किये दवा ऊपर से डालनी पड़ती है, नहीं तो ब्राह्मण अपवित्र हो जाते। मीराबहन कितना ही उपकार क्यों न करें, पर पानी नहीं मिलने का।

हिंदू मानसिकता की यह दारुण कथा है।

पर इस तरह की कथाओं का मर्म क्या है, कहां है? इसे पहली बार हमें प्रोफेसर शरण ने बताया है। इसे मैं ईश्वर की कृपा ही मानता हूं कि उसने इनके माध्यम से यह मर्म की बात हम तक पहुंचाई। उन्होंने बड़े साहस, धैर्य और आस्था के साथ हमें समझाया:

☐ हिंदुओं द्वारा मुस्लिम साम्राज्य की दासता स्वीकार करने में ही हिंदू धर्म व हिंदू संस्कृति का विघटन एवं विनाश निहित था।

☐ हिंदू धर्म मूलतः राज्य व्यवस्था है, जो हिंदू धर्मानुसार ही होगी अन्यथा कदापि नहीं होगी। राजा हिंदू धर्मानुयायी ही हो सकता है। अपने सामाजिक, ऐतिहासिक रूप में हिंदू धर्म राज्याश्रित धर्म है। राजा यज्ञ का मुख्य यजमान है और धर्म का इहलौकिक रक्षक व नियामक है। हिंदू धर्म किसी भी प्रकार समाज एवं राज्य निरपेक्ष नहीं है।

□ हिंदू सनातन धर्म में सभी शक्तियों का मूल स्रोत लोकोत्तर, अनिर्वचनीय, पराशक्ति में ही माना गया है। हिंदू समाज श्रुति, स्मृति एवं शास्त्र सम्मत राजशक्ति को मान्यता दे सकता है। इस प्रकार लगभग ८०० साल तक अधिकांश हिंदू समाज द्वारा विधर्मी राजशक्ति की अधीनता स्वीकार करना मूलगामी धर्मच्युतता का ही रूप मानना पड़ेगा। विधर्मी से संघर्ष न लेने के कारण, जिस दिन से धर्मच्युतता की प्रतिक्रिया छूआछूत, पवित्र-अपवित्र, ऊंच-नीच के धरातल पर प्रकट हुई उस दिन से हिंदू धर्म की प्राणशक्ति जैसे चिरकाल के लिए कुंठित हो गई और अपने ऐतिहासिक तथा उच्चतर केंद्रीय उत्तरदायित्वों के प्रति उदासीन होने का शास्त्र-सम्मत आधार मिल गया।

इसी कुंठा और अंतर्विरोध के कारण उत्तरोत्तर, खासकर 'आधुनिकता' द्वारा भारत को पूरी तरह औपनिवेशिक गिरफ्त में लेने के बाद आज हम मानने लगे हैं कि धर्म, सामाजिक आचरण नहीं है। हम धर्म के बाह्य रूप को गौण तथा धर्म के वैयक्तिक पक्ष तथा आचार-विचार की आंतरिकता को महत्व देने लगे हैं, जबकि धर्म का लक्ष्य मन, वचन और कर्म की एकता स्थापित करना है। सनातन विचार में अध्यात्म, धर्म एवं संस्कृति एक ही परम तत्व की विभिन्न भूमियों की अभिव्यक्ति है, इसीलिए वे सब अभिन्न हैं, अखंड हैं। अध्यात्म के बिना धर्म, धर्म के बिना संस्कृति की कोई स्थिति नहीं है।

प्रोफेसर शरण ने प्रज्ञा प्रकाश से जिस तरह जो बातें बताई हैं उनके प्रति कुछ भी और कह सकने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं करबद्ध प्रार्थना करता हूं–उन जिज्ञासुओं, विद्वानों और विशेषकर नई पीढ़ी से, कि वे प्रज्ञा के इन बिंदुओं से स्वयं को जोड़ें, जिससे संवाद शुरू हो। यद्यपि यह संवाद शुरू होना कोई आसान काम नहीं है क्योंकि हम उस सभ्यता की संतान हैं जो भक्ति–पूजा, कीर्तन के समय राजा रामचन्द्र की जय मनाने में और शेष समय शंहनशाह औरंगजेब से लेकर लार्ड माउण्टबेटन की जय मनाने में किसी प्रकार की विसंगति या किसी प्रकार का कोई कपट नहीं देखता।

प्रोफेसर शरण ने जिस प्रसंग में अमीर खुसरों के गीत को अपने विचारों में याद किया है, मैं उसी गीत का सहारा लेकर प्रोफेसर शरण के व्यक्तित्व और उनकी ईश्वर प्रदत्त प्रज्ञा के प्रति इतना ही कह सकता हूं—बात अगम कही दीनी, मो से नैनां मिलाय के।

●

दलित समस्या एवं समाधान*

राम गोपाल सिंह

यहाँ दलित से आशय उन लोगों से है जो संविधान की धारा ३४१ (१) तथा (२) के अन्तर्गत अनुसूचित जाति की श्रेणी में रखे गये हैं।[1] देश में इनकी संख्या करीब साढ़े दस करोड़ है जो देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का एक उल्लेखनीय भाग (१५.७५%) है।[2] संविधान में इनकी अलग पहचान इनकी सामाजिक निर्योग्यताओं तथा आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने तथा इन्हें विशेष सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से निर्मित की गई है। गरीबी, गन्दगी, बीमारी और अशिक्षा की शिकार ये जातियाँ समाज से बहिष्कृत और नागरिक अधिकारों से वंचित रही हैं। आज भी दरिद्रता की रेखा के नीचे जीने वाले परिवारों में अनुसूचित जातियों का अनुपात देश की सम्पूर्ण जनसंख्या में उनके अनुपात से कहीं ज्यादा है। इनके पास भूमि व जीविका के अन्य संसाधनों का स्वामित्व नहीं के बराबर है। इनमें आधे से अधिक लोग भूमिहीन अथवा छोटे व सीमांत कृषक हैं, जो आजीविका के लिये कृषि-मजदूरी पर निर्भर करते हैं। अभी हाल तक इनमें अधिकांशतः अपने भूस्वामी के यहाँ पूर्णतः या अंशतः बंधुआ मजदूर थे। ये खाल निकालने और चमड़े का काम, नाली और गली में सफाई जैसे गन्दे और कम आमदनी वाले काम करते रहे हैं। आज भी दलित अधिकांशतः अभावग्रस्त और दरिद्र हैं।

दलितों की निर्योग्यतायें ऐतिहासिक व शास्त्रीय हैं। समाज में सुविधा भोगी और सुविधा-हीन तबके तो पूर्व वैदिक और उत्तर वैदिक काल में भी थे। किन्तु छुआछूत जैसी निर्मम सामाजिकार्थिक बेड़ियों में मनुष्य द्वारा मनुष्य को जकड़ने का चलन पुष्यमित्र शुंग के समय से आरंभ हुआ। यह मौर्यवंश, जिसने बौद्धधर्म को राज्य धर्म और अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप दिया था, के पतन और ब्राह्मण धर्म की स्थापना का एक काल था[3] (प्रसाद, १९६५)। ब्राह्मण धर्मशास्त्रों,

* "दलित समस्या के विशेष संदर्भ में डा० अम्बेदकर की सामाजिक संरचना की परिकल्पना" सम्बन्धी शीर्षक पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली, द्वारा लेखक को रिसर्च प्रोजेक्ट स्वीकृत हुआ था। प्रस्तुत आलेख उक्त प्रोजेक्ट रिपोर्ट का एक भाग है। आर्थिक सहायता के लिये लेखक आयोग का आभारी है।

राम गोपाल सिंह रीडर, समाजशास्त्र विभाग, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल (मध्य प्रदेश)।

स्मृतियों और सूत्रों की रचना कमोवेश इसी काल में हुई। स्मृतिकारों ने मुख्यतः निम्न तीन बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित किया[४]—(१) ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्थायी बनाते हुए विभिन्न जातियों के बीच ऊँच नीच के स्तरण को अधिक स्पष्ट व कठोर बनाना (२) अल्पायु विवाह का अनुमोदन तथा अन्तर्विवाही नियमों को कठोर बनाना जिससे अन्तर्जातीय समागम को पूर्णतः रोका जा सके और (३) इस व्यवस्था को न मानने वालों को समस्त सामाजिक एवं नागरिक अधिकारों से वंचित तथा समाज से बहिष्कृत करते हुए पशुवत जीवन व्यतीत करने को बाध्य करना। शंकराचार्य ने आगे चलकर छठी शताब्दी में सामाजिक भेदभाव के इन नियमों को अधिक कठोर बनाया (भारद्वाज, १९७९ : ३)।

दलित समाज की प्रमुख निर्योग्यतायें निम्न थीं—(१) अध्ययन, अध्यापन व आत्म-विकास के अवसरों से वंचित (२) धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन, वाचन और श्रवण पर निषेध (३) पूजा पाठ और मन्दिर में प्रवेश करने पर निषेध (४) उत्तम तथा स्वच्छ वस्त्र एवं आभूषण धारण करने की मनाही (५) झोपड़ी व छप्पर के अतिरिक्त अच्छे मकान बनाने और उसमें रहने पर प्रतिबन्ध (६) रथ व घोड़े की सवारी पर मनाही (७) सवर्ण बस्तियों में आवासीय मकान बनाने और रहने पर प्रतिबन्ध (८) सार्वजनिक घाटों, तालाबों और कुओं से पानी लेने पर प्रतिबन्ध (९) सार्वजनिक धर्मशालाओं, भोजनालयों आदि में प्रवेश पर प्रतिबन्ध (१०) सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित (११) गदहा, कुत्ता व सुअर के अतिरिक्त अन्य पशुओं को रखने का निषेध (१२) मृत मवेशियों को फेकने, खाल निकालने तथा चमड़े का काम, गली कूचों, मैला और गन्दगी की सफाई जैसे निम्न गन्दे और कम आमदनी वाले कार्यों के अतिरिक्त आजीविका अपनाने की मनाही (१३) राजनैतिक व शासन सम्बन्धी अधिकारों पर प्रतिबन्ध (१४) अस्त्र शस्त्र धारण करने और युद्ध कौशल सीखने पर प्रतिबन्ध (१५) समान नागरिक अधिकारों से वंचित।[५] (१६) सवर्णों के स्पर्श से वंचित। यहाँ तक कि दलितों का सुबह मुंह देखना, उनकी परछाई पड़ना द्विजों के लिये अशुभकारक समझा जाता था।

व्यवहारिक तौर पर विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक निर्योग्यतायें देश के सभी भागों में और सभी अस्पृश्य जातियों पर समान रूप से लागू नहीं थीं। किन्तु कमोवेश सभी इलाकों में दलित जातियों के लोग शोषित, निर्धन, बहिष्कृत और उत्पीड़ित अवश्य थे। यहाँ सर्वप्रथम दलितों की कुछ मुख्य सामाजिक समस्याओं और उनके निराकरण के लिये किये गये प्रयासों की चर्चा की जायेगी।

दलितों की समस्याओं के सभाधान के सन्दर्भ में संवैधानिक प्रयास सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। सभी नागरिकों के लिये सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता, तथा अवसर की समानता प्रदान करना संविधान के प्रमुख उद्देश्य निरूपित किये गये हैं। अनुसूचित जातियों, जनजातियों को उनकी परंपरात्मक निर्योग्यताओं तथा कमजोर सामाजिक, आर्थिक आधार को देखते हुए संविधान में उन्हें दोहरी सुरक्षा व अधिकार प्रदान किये गये—एक तो सामान्य नागरिक के रूप में प्राप्य

अधिकार दूसरे दलित अर्थात् अनुसूचित जातियों के सदस्य के रूप में प्राप्त संरक्षण व अधिकार।

सामाजिक भेद-भाव

दलित समस्या का आधारभूत पक्ष है—सामाजिक भेद भाव। दलितों के साथ सामाजिक भेद भाव आज भी बरता जाता है चाहे वे हिन्दू, मुस्लिम, सिख अथवा इसाई समाज के अंग हों। अस्पृश्यता किसी न किसी रूप में आज भी बनी हुई है। संविधान के अनुच्छेद १५ के अनुसार धर्म, वंश, जाति, लिंग भेद, जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर किसी भी नागरिक के ऊपर निम्न कोई शर्त या प्रतिबन्ध नहीं होगा।

(क) दूकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों पर प्रवेश अथवा

(ख) ऐसे कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक स्थानों के जिनकी व्यवस्था पूर्ण अथवा आंशिक रूप से राज्य निधियों में से की जाती है अथवा जो सामान्य जनता के उपयोग के लिये समर्पित कर दिये गये हैं, उपयोग करने के विषय में।

संविधान की धारा १७ के द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया और इसका किसी प्रकार का आचरण निषिद्ध कर दिया गया। अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी प्रकार की अनर्हता लगाना कानून की दृष्टि से दण्डनीय अपराध निरूपित किया गया। धारा २५ (२) (ब) सभी सार्वजनिक प्रकृति की धार्मिक हिन्दू संस्थाओं को सभी हिन्दुओं के लिये खोल दिये जाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। संविधान की धारा ३५ (अ) (२) के तहत 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम १९५५' पारित हुआ। इस कानून में आगे चलकर आवश्यक संशोधन किये गये। संशोधित कानून "नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम १९५५" के नाम से दिनांक १९ नवम्बर १९७६ से लागू हुआ। इन सब कोशिशों से छुआछूत कम जरूर हुई है लेकिन गई नहीं है। आज भी हरिजनों के कुएँ अलग हैं, बस्तियाँ अलग हैं यहाँ तक कि श्मशान घाट भी अलग हैं। शहरी कालोनियाँ अथवा सरकारी बंगलों का आवंटन हो, पुलिस भोजनालय हो अथवा स्कूल और कालेजों के छात्रावास हों, अछूतों के साथ भेदभाव गया नहीं है (घोष, १९७०:२१; रिपोर्ट, १९७४ : १९७–२८६; १९७६ : ११०–११; १९८१ : २०१–३०; राम, १९८० : २१; सिंह, १९८१ : ३१–४३)। अस्पृश्यता विरोधी कानून के अन्तर्गत दर्ज मामलों का विवरण सारिणी क्रमांक १ में दर्शाया गया है।

अस्पृश्यता अपराध कानून १९५५ लागू हुए करीब दो दशक हो गये किन्तु अस्पृश्यता का आचरण अभी भी समाज से गया नहीं है। १९५५ से १९७१ तक अस्पृश्यता संबंधी अपराधों की पकड़ अधिक नहीं हो पाती थी। किन्तु १९५५ के कानून में संशोधन हेतु अस्पृश्यता अपराध संशोधन बिल (१९७२) लाये जाने के साथ अस्पृश्यता संबंधी प्रकरणों पर शासन ने सख्ती बरतनी शुरू की। परिणाम स्वरूप १९७२ से ऐसे अपराधों की पकड़ और अपराधियों

सारिणी क्रमांक—१

अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध

वर्ष	पुलिस के पास दर्ज मामलों की संख्या	चालान किये गये मामलों की संख्या	दोषी सिद्ध हुये मामलों की संख्या	बरी हुये	समझौता हुआ	विचाराधीन मामलों की संख्या
१९५५	१८०	१८०	८	१२	१२	७६
१९५६	६९३	५९९	१४९	१०६	१५६	१८८
१९५७	४९२	४१५	८७	३५	८५	२०
१९५८	५५०	४९७	१२७	८३	९२	१७५
१९५९	४८१	४०१	१०५	७०	८२	१४४
१९६०	५०९	४३८	८९	७४	१२२	१५३
१९६१	४८९	४३८	१८७	१४१	१३८	५२
१९६२	३८९	३३८	७७	९१	८१	८९
१९६३	३९७	३१६	७८	४८	८०	११०
१९६४	४८४	४२५	११६	७१	६७	९१
१९६५	३६६	३२१	१३६	५२	४६	८७
१९६६	४८८	४४७	११९	८९	८५	७६
१९६७	३५३	३१३	१३६	५६	५६	८५
१९६८	२१४	१८४	३५	३९	५३	८४
१९६९	३२९	२७२	४८	२५	७०	११६
१९७०	३६४	२९१	५०	५९	१०७	२५८
१९७१	६२६	४३९	९१	९६	१३	११४
१९७२	१,५१५	१,४१६	६३१	२५३	२३३	२९९
१९७३	२,९४९	२,३५६	१,२०७	३१२	३८८	४४९
१९७४	१,९०८	१,५८८	६६९	२४७	२८८	३८४
१९७५	३,५२८	२,५८८	९३६	४८०	६११	५६१
१९७६	५,१०८	४,४२७	९२५	८६७	३४१	२,५६४
१९७७	३,४२५	२,३२०	५५१	१.४६३	—	—
१९७८	४,२५७	३,१५०	१९८	१,१३६	—	३,९९१
१९७९	४,४०१	२,६६२	२६१	१,०६९	—	४,४९७

स्रोत : आयुक्त अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति की इक्सीसवीं रिपोर्ट १९७१–७२ और १९७२–७३ पृ० ३८२; सत्ताइसवीं रिपोर्ट १९७९–८० और १९८०–८१ भाग १ पृ० २०५; भाग २ पृ० ३५०; बाकी १९८१ पृ० १६

को दण्ड दिये जाने के प्रकरणों में तेजी से वृद्धि परिलक्षित हुई जो नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम (१९५५) के लागू होने के वर्ष (१९७६) में सर्वाधिक रही। हालांकि संशोधित अधिनियम में पूर्व अधिनियम के प्राविधानों की तुलना में अधिक कसावट आई है फिर भी इसमें कतिपय कमियाँ रह गई हैं। इसे लागू करने संबंधी प्राविधानों में भी कुछ खामियाँ हैं जिनकी वजह से यह अधिनियम भी अस्पृश्यता के उन्मूलन में बहुत प्रभावकारी साबित नहीं हुआ है (देवी, १९८१ : ७७-८२)। हरिजनों के साथ छुआछूत के बर्ताव और उन पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम के उपबन्धों को अधिक प्रभावकारी ढंग से लागू करने के उद्देश्य से मध्य प्रदेश सहित १७ राज्यों जिनमें अनुसूचित जातियों की उल्लेखनीय संख्या है, विशेष सेल स्थापित किये गये हैं।[६]

अत्याचार

मोटे तौर पर अत्याचार से आशय सभी प्रकार के शोषण और उत्पीड़न से है जो गैर दलितों द्वारा गरीब, कमजोर और अपनी रक्षा करने में असमर्थ दलित जातियों के लोगों के ऊपर ढाये जाते हैं। किन्तु शासकीय आंकड़ों में अस्पृश्यता तथा बंधुआ मजदूरी आदि से संबंधित अपराधों के प्रकरण अलग दर्ज किये जाते हैं। अत्याचार की श्रेणी में केवल हत्या, बलात्कार, आगजनी तथा हिंसा सम्बन्धी अधिक गम्भीर किस्म के अपराध शामिल किये जाते हैं जिसमें पीड़ित व्यक्ति को गम्भीर शारीरिक क्षति अथवा आर्थिक हानि उठानी पड़ती है।

हरिजनों पर अत्याचार का इतिहास बहुत पुराना है। शेरपुर, बेलछी, पिपरा, नारायण पुर के दृष्टांत पुराने घावों को ताजा करने के लिए कम नहीं हैं। सारिणी २ में दिये गये अपराध सम्बन्धी प्रकरणों से स्पष्ट होता है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर हाल के वर्षों में दलितों पर अत्याचार में सामान्यतः वृद्धि हुई है।

सारिणी—२
अनुसूचित जातियों पर अत्याचार

वर्ष	अत्याचारों की समस्या
१९७६	६,१३३
१९७७	१०,८७३
१९७८	१५,०५३
१९७९	१३,८८४
१९८०	१३,३४१

स्रोत : अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की सत्ताइसवीं रिपोर्ट भाग १ १९७९-८१ पृ० ३३१।

दलितों पर अत्याचार के प्रकरणों में त्वरित कार्यवाही करने के लिए विभिन्न राज्यों में विशेष हरिजन सेल स्थापित किये गए हैं। साथ ही पुलिस व अर्ध सैनिक दलों में दलितों की भर्ती किये जाने पर भी ध्यान दिया जा रहा है। अत्याचार पीड़ित व्यक्तियों को शासन की ओर से राहत के रूप में आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है। इन सब प्रयासों के अतिरिक्त सबसे अधिक ध्यान हरिजनों के शैक्षणिक व आर्थिक विकास पर दिया जा रहा है। विशेष रूप से इसलिए कि यदि दलित शिक्षित व आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर हो जाते हैं तो गैर दलितों को उन्हें सताना मुश्किल पड़ेगा। अत्याचारों से वे अपनी रक्षा स्वयं कर सकेंगे। दलितों के शैक्षणिक व आर्थिक विकास पर नीचे चर्चा करते समय हम देखेंगे कि छठी पंचवर्षीय योजना में उनके विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है।

शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास

संविधान की भूमिका, मौलिक अधिकार तथा नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों तथा समाज के अन्य पिछड़े वर्गों के लोगों के शैक्षणिक व आर्थिक हितों की अधिकाधिक पूर्ति पर विशेष बल दिया गया है। उनके विकास और कल्याण के लिए कार्य करना राज्यों का मुख्य दायित्व बताया गया है। समानता और सामाजिक न्याय पर आधारित आर्थिक विकास को गति देने के लिए संविधान की धारा ३८ और ३९ (अ) (ब) और (स) के तहत शासन ने सन् १९५० में योजना आयोग की स्थापना की। दलित जातियों के उत्थान को मद्दे नजर रखते हुए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इनके लिए पृथक से आर्थिक संसाधनों व कार्यक्रमों की व्यवस्था की गई। आरम्भिक योजनाओं में इन जातियों की शिक्षा, आर्थिक विकास तथा स्वास्थ्य एवं आवास की दशाओं में सुधार पर विशेष ध्यान दिया गया।

अशिक्षा

हालांकि आजादी के उपरांत गत तीन दशकों में साक्षरता में उल्लेखनीय प्रगति हुई है,[९] फिर भी अनुसूचित जातियों का मुश्किल से पाँचवां भाग ही साक्षर हो सका है।

सारिणी—३
अनुसूचित जातियों में साक्षरता

क्रमांक	जनगणना वर्ष	अनुसूचित जातियों में साक्षरता प्रतिशत	सामान्य साक्षरता प्रतिशत
१	१९६१	१०.२७	२४.००
२	१९७१	१४.७१	२९.३५
३	१९८१	२१.३८	३६.१७

स्रोत : रिपोर्ट, १९७० : ७६

सेन्सज आफ इन्डिया १९८१ सिरीज १ भाग (२) व (२) प्राइमरी सेन्सज एब्स्ट्रेक्टस्, शिड्यूल्ड कास्ट्स

किन्तु सामान्य साक्षरता वृद्धि को देखते हुए अनुसूचित जातियों में साक्षरता वृद्धि की दर संतोषजनक कही जा सकती है।

व्यवसायिक पिछड़ापन

जाति पर आधारित समाज व्यवस्था में व्यवसाय जाति के आधार पर निश्चित होता है। व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है उस जाति का व्यवसाय ही वह अपना सकता है। बहुत कुछ इसी वजह से जाति व्यवस्था को संस्थागत शोषण का चरम रूप कहा जाता है। परम्परात्मक रूप से अपने भूस्वामी की तथा निम्न व गन्दे कार्यों का सम्पादन ही दलितों की नियति में रहा है। लाभकारी व्यवसाय अभी हाल तक द्विजों की झोली में थे। दलित जातियों अथवा हरिजनों का बहुसंख्य भाग (५२%) आजीविका के लिए कृषि मजदूरी पर निर्भर करता है। शेष में से अधिकांश अट्ठाइस प्रतिशत (२८%) कृषक (प्राय: छोटे व सीमांत कृषक) हैं। परम्परात्मक रूप से हरिजन (अर्थात् अनुसूचित जातियों के लोग या दलित) चमड़े का काम, बुनकरी, मछली पकड़ना, टोकरी, चटाई व रस्सी बनाना तथा कपड़े की धुलाई और नाली, कूची की सफाई जैसे गन्दे, निम्न और अलाभकारी कार्य करते रहे हैं। आज भी इन जातियों के लोग आजीविका के लिए कमोवेश परम्परात्मक व्यवसायों पर ही निर्भर करते हैं। (राव : १९८१ : ३४२)। अनुसूचित जातियों का बहुत कम भाग ही सफेद पोश व्यवसाय अपना सका है।[८] इनकी निर्धनता का मुख्य कारण इनमें भूमि तथा अन्य आर्थिक संसाधनों का अभाव तथा निम्न व अलाभकारी व्यवसायों में सन्नद्ध होना है।

अनुसूचित जातियों की निम्न आर्थिक स्थिति का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि १९७१ की जनगणना के अनुसार इन जातियों के लोगों का अधिसंख्य भाग (८२.३%) अपनी आजीविका के लिए अर्थव्यवस्था के प्राथमिक सेक्टर पर निर्भर करता है। द्वैतीयक और तैतीयक सेक्टरों में क्रमशः केवल ८.१ तथा ९.४ प्रतिशत लोग ही लगे हैं। विभिन्न सरकारी व गैर सरकारी प्रयासों के बावजूद १९६१ से १९७१ के दशक के दौरान इनकी आर्थिक स्थिति में गिरावट ही आई है। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि इस दशक में प्राथमिक सेक्टर में काम करने वाले अनुसूचित जातियों के प्रतिशत में वृद्धि हुई है। जबकि द्वितीयक और तृतीयक सेक्टरों में इनके प्रतिशत में कमी आई है। अनुसूचित जातियों में भूमिहीन श्रमिकों की संख्या १९६१ से १९७१ के दशक के दौरान ३४५ प्रति हजार से बढ़कर ५१८ प्रति हजार हो गई है जबकि कृषकों की संख्या ३७८ प्रति हजार से घटकर २७९ प्रति हजार रह गई है।[९]

बंधुआ मजदूरी

बंधुआ मजदूरी काम के बदले में आदमी के श्रम को गिरवी रखने की प्रथा है। अनुसूचित आति एवं जनजाति के आयुक्त की इक्कीसवीं रिपोर्ट (१९७४ ; २४०) के अनुसार एक

व्यक्ति किसी ऋण के बदले में अपने को अथवा कभी-कभी अपने परिवार के किसी सदस्य ऋणदाता को गिरवी रख देता है। गिरवी कर्ता अथवा उसके नामित व्यक्ति को केवल ऋण चुका देने पर ही छोड़ा जाता है। जब तक ऋण नहीं चुकाया जाता तब तक स्वयं उस आदमी को अथवा उसके परिवार के किसी सदस्य को दैनिक भोजन के बदले में ऋणदाता का काम करना पड़ता है। चूंकि उसे कोई पैसा नहीं मिलता इसलिए उसे अपनी मुक्ति के लिये आवश्यक धन जुटाने हेतु परिवार के किसी सदस्य पर निर्भर रहना पड़ता है। यह निस्संदेह बहुत कठिन होता है। यह सम्बन्ध (संविदा) कभी-कभी महीनों, कभी कभी वर्षों, यदा कदा सारी जिन्दगी चलता रहता है और विरल रूप में पुरुष उत्तराधिकारी तक समाप्त नहीं होता।

दलितों से बेगार लेने की प्रथा भी थी। बेगार प्रथा में श्रमिक को अपने भूस्वामी के यहाँ कतिपय अंश कालिक श्रम के लिए बिना मजदूरी के काम करना पड़ता था। जमींदारी प्रथा के समय आमतौर पर असामी को समय असमय जमींदार की कतिपय सेवायें करनी पड़ती थीं, जिनका उसे अलग से कोई पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता था। हरिजनों से जबरन काम कराने का चलन अभी भी गांवों में है। भूस्वामी हरिजनों से कम मजदूरी पर कठिन मेहनत उनकी इच्छा के विरुद्ध जोर जबरदस्ती से कराते हैं। सामान्यतः हरिजन एवं आदिवासियों की गरीबी से भूस्वामी, महाजन, व्यापारी तथा ठेकेदार आदि दो प्रकार से नाजायज फायदा उठाते हैं। एक तो ये इन्हें रुपये या जीवन की आवश्यक वस्तुएं कर्ज स्वरूप ऊंची व्याज की दरों पर देते हैं। दूसरे ऋण देने का अहसान जताकर ये इनसे बेगार या जबरन काम भी लेते हैं।

संविधान की धारा २३ के अनुसार सभी प्रकार के बंधुआ या जबरन श्रम को निषिद्ध कर दिया गया है। बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत बंधुआ श्रम प्रथा की कठोर निंदा की गई है। बंधक श्रम संबंधी संविदा को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया है। राज्य सरकारों ने भी इस दूषित पद्धति के विरुद्ध कानून बनाये हैं। मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो बंधुआ श्रमिक रखता है उसे तीन वर्ष की कैद और / अथवा एक हजार रुपये जुर्माने किये जाने का प्राविधान है (रिपोर्ट १९७६ : ११६)। इस प्रकार कानूनी दृष्टि से तथा जबाबदारी के तौर पर अधिकांश राज्यों ने करीब दस वर्ष पूर्व ही सरकारी तौर पर घोषित कर दिया कि उनके यहाँ से बंधुआ मजदूरी की प्रथा समाप्त हो गई है। पहले की तुलना में हम कह सकते हैं कि आज यह प्रथा बहुत कमजोर या मृतप्राय हो गई है। फिर भी यह पूर्णतः समाप्त नहीं हुई है। विशेष रूप से दूर दराज या भीतरी इलाकों में आदमी द्वारा आदमी को गिरवी रखने की यह कुप्रथा किसी न किसी रूप में देश में आज भी विद्यमान है। जून १९७८ में देश के ११ राज्यों में एक सर्वेक्षण किया गया जिसमें १.०४ लाख बंधुआ मजदूर पहचाने गये। इनके पुनर्वास के लिए वर्ष १९७८–७९ के दौरान एक करोड़ रुपये स्वीकृत किये गये (रिपोर्ट, १९८० : ३८)।

मजदूरी की निम्न दर और निर्धनता

हम देख चुके हैं कि आधे से अधिक (५२%) हरिजन जातियों के लोग कृषि मजदूरी

पर निर्भर करते हैं। एक तो खेती बारह मासी व्यवसाय नहीं है। इसमें तीन से ६ महीने तक मजदूर लगभग बेकार होते हैं। दूसरे खेती कम लाभकारी व्यवसाय होने से भूस्वामी अपने मजदूरों को अधिक मजदूरी देने की स्थिति में भी नहीं होते। देश के प्रायः सभी भागों में खेतिहर मजदूरों को जितना कठोर श्रम करना पड़ता है और उन्हें जितनी कम मजदूरी मिलती है उतनी शायद किसी अन्य मजदूर को नहीं। कृषि में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के अधिक प्रयास भी नहीं हुए हैं। जो मजदूरी सरकार ने निश्चित भी की है व्यवहारिक तौर पर उसका भुगतान बहुत कम होता है। केन्द्रीय सरकार ने १५ सितम्बर १९८० से अकुशल कर्मचारियों के लिए न्यूनतम दैनिक मजदूरी क्षेत्र के अनुसार ५.१० रु० से ७.५० रु० निश्चित किया है। मध्य प्रदेश में ५ मई १९७९ से खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी प्रथागत सुविधाओं के साथ ५ रुपये निर्धारित की गई है।[१०]

ग्रामीण क्षेत्रों में १९७९–८० के मूल्यों के अनुसार प्रति व्यक्ति मासिक आय ७६ रु० या उससे कम और शहरी क्षेत्रों में ८८ रु० या उससे कम आय वाले व्यक्ति निर्धनता की रेखा के नीचे जीवन बिता रहे हैं।[११] यदि हम औसत परिवार पांच व्यक्ति का लें, जिसमें दो कमाने वाले और तीन गैर कमाने वाले हों और उसके साथ खेतिहर मजदूर को मिलने वाली कम मजदूरी तथा साल में औसतन तीन से चार महीने की बेकारी आदि तथ्यों को ध्यान में रखें तो हम पायेंगे कि अनुसूचित जातियों के वे सभी (५२%) लोग जो कृषि मजदूरी पर जीवन निर्वाह कर रहे हैं, देश की जनसंख्या के उस ३०% भाग में आयेंगे जो सर्वाधिक निर्धन कहलाते हैं। अनुसूचित जातियों के शेष में से अधिकांश लोग भी इसी वर्ग में आयेंगे।

ऋण ग्रस्तता

मजदूरी की निम्न दर और निर्धनता का जीवन बिताने के कारण अनुसूचित जाति के लोगों का ऋणग्रस्त होना स्वाभाविक है। घरेलू खर्च तथा विवाह, मृत्यु व अन्य सामाजिक एवं धार्मिक संस्कारों को पूरा करने के लिए इन्हें साहूकारों से ऋण लेना पड़ता है। अनुसूचित जाति और जनजाति के आयुक्त की इक्कीसवीं रिपोर्ट (१९७४ : १७,२३७–३९) के अनुसार अनुसूचित जातियों के आधे से अधिक परिवार ऋण ग्रस्त हैं। आयुक्त की तेइसवीं रिपोर्ट (१९७६ : ७४–७५) के अनुसार ग्रामीण इलाकों में इन जातियों के छोटे व सीमांत कृषकों में ६५% से ७०% परिवार कर्ज में डूबे हुए हैं।

दलित समस्या के समाधान का प्रयास

दलितों की मुक्ति के लिये किए गए संघर्ष का इतिहास बहुत पुराना है। किन्तु आधुनिक काल के पहले दलितों की विमुक्ति के लिए जो प्रयास हुए, इनका क्षेत्र प्रधानतः धार्मिक व आध्यात्मिक था। आधुनिक शिक्षा, विज्ञान एवं पाश्चात्य मूल्यों के प्रचार व प्रसार के फलस्वरूप आध्यात्मिक विमुक्ति की तुलना में दलितों की सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति के लिए संघर्ष तेज हुआ। परवर्ती ब्रिटिश काल में एक तरफ सामाजिक सुधारकों ने दलितों की सामाजिक स्थिति

में सुधार के लिए आह्वान किया तो दूसरी ओर प्रांतीय सरकारों ने उन्हें समान नागरिक अधिकार और सुविधायें मुहैय्या कराने के उद्देश्य से आवश्यक कानूनों का निर्माण किया। हालांकि ब्रिटिश व प्रांतीय सरकारों ने हरिजनों की सामाजिकार्थिक स्थिति में सुधार के लिए कार्य किया किंतु इस दिशा में ठोस प्रगति आजादी के बाद ही सम्भव हो सकी।

स्वतंत्र भारत के संविधान में, जैसा कि पहले कहा गया है, सभी नागरिकों को स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक न्याय पर आधारित आवश्यक मौलिक अधिकार प्रदान कर दिया गया। अस्पृश्यता अपराध घोषित की गई। हरिजनों पर अत्याचार को रोकने के लिए केन्द्र व राज्य स्तर पर आवश्यक व्यवस्थायें की गईं। इनकी परम्परात्मक निर्योग्यताओं को देखते हुए उनकी विधान सभा व लोक सभा में सीटें आरक्षित की गयीं तथा सरकारी व अर्ध सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्रदान किया गया जिनका लाभ उन्हें अभी तक प्राप्त हो रहा है। इनकी शिक्षा तथा आर्थिक विकास पर बहुत जोर दिया गया। दलित जातियों के उत्थान को मद्दे नजर रखते हुए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इनके लिए पृथक से आर्थिक संसाधनों की व्यवस्था की गई और विविध कार्यक्रम क्रियान्वित किये गये। प्रारम्भिक पंचवर्षीय योजनाओं में हरिजनों की शिक्षा, आर्थिक विकास तथा स्वास्थ्य एवं आवास की दशाओं में सुधार पर विशेष बल दिया गया। अनुसूचित जातियों और जनजातियों की समस्याओं का शीघ्र ही प्रभावकारी समाधान खोजने का कार्य प्रधानमन्त्री के संशोधित बीस सूत्रीय कार्यक्रम में शामिल किया गया है। इन प्रयासों का मूल लक्ष्य यह है कि अनुसूचित जातियों/ जनजातियों की परम्परात्मक निर्योग्यताओं को दूर कर शिक्षा व सामाजिकार्थिक विकास का विशेष सुविधायें मुहैय्या कराते हुए उन्हें शेष जनता के साथ बराबरी में खड़ा किया जा सके। जिससे छूत-अछूत का सामाजिक भेदभाव मिट जाये।

शैक्षिक विकास

अनुसूचित जातियों में शिक्षा के प्रसार में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। जहाँ तक साक्षरता का प्रश्न है भले ही उनमें साक्षरता का प्रतिशत सामान्य लोगों की तुलना में कम हो किन्तु साक्षरता में वृद्धि की दर कम ही रही है। शासन में अनुसूचित जातियों के आर्थिक व शैक्षणिक पिछड़ेपन को देखते हुए उनके बच्चों को शिक्षा की ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से विशेष छात्रवृत्तियों का प्रावधान किया है। उच्च और तकनीकी शिक्षा में उनके प्रवेश के लिए आरक्षण एवं रियायतें दी गई हैं। मैट्रिक पूर्व हरिजन एवं आदिवासी छात्र को इसके माता पिता की आय को देखते हुए ४५ रु० मासिक वजीफा दिया जाता है। मैट्रिकोत्तर छात्रों के लिए छात्रवृत्ति की राशि उनके पाठ्यक्रम पर निर्भर करती है।

ऐसे अनुसूचित जाति/जनजाति के परिवारों के बच्चों को जिनकी मासिक आय ७५० रु० से कम है सभी पाठ्यक्रमों में पूरी छात्रवृत्ति की पात्रता है। ऐसे छात्र छात्राओं जिनके माता पिता की आय सभी स्रोतों से १००० रु० से ७५० रु० के बीच है उन्हें इंजीनियरी व मेडिकल में पूरी छात्रवृत्ति किन्तु शेष पाठ्यक्रमों में आधी छात्रवृत्ति की पात्रता है।

सारिणी—४

अनुसूचित जाति / जनजाति की पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्ति की संशोधित दर

क्र० सं०	पाठ्यक्रम	अध्ययन वर्ष	अनुरक्षण भत्ते की दर गैर छात्रावासी छात्र	छात्रा	(रुपये प्रतिमास) छात्रावासी छात्र	छात्रा
१.	११वीं कक्षा	—	५०	६०	७५	८५
२.	१२वीं कक्षा	—	५५	७०	८०	९५
३.	स्नातक स्तर के सामान्य कोर्स	द्वितीय वर्ष और उसके बाद	७०	८५	११५	१३०
४.	इंजीनियरी, मेडिकल, टेक्नालाजी आदि में प्रमाणपत्र कोर्स तथा आर्ट व कामर्स के पोस्ट ग्रेजुएट	प्रथम वर्ष	१००	११०	१२५	१३५
		द्वितीय वर्ष	१०५	११५	१३०	१४५
५.	मेडिकल इंजीनियरी डिग्री कोर्स	प्रथम वर्ष	१००	११०	१८५	१९५
		द्वितीय वर्ष	१००	११५	१८५	२००
६.	इंजीनियरी में डिप्लोमा कोर्स, मेडिकल, टेक्नोलाजी और विज्ञान में पोस्ट-ग्रेजुएट	प्रथम	१००	११०	१२५	१३५
		द्वितीय और बाद के	१०५	१२०	१३०	१४५
७.	बी. बी. एस-सी/बी.एस सी. (कृषि)	प्रथम	१००	११०	१८५	१९५
		द्वितीय और बाद के	(१००)	११५	१८५	२००

स्रोत : अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति कल्याण सम्बन्धी संसदीय समिति पांचवी और छठी पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए लाभ, साइक्लोस्टाइल रिपोर्ट ? पृ० २९-३१ गृह मंत्रालय, अनुसूचित जाति तथा पिछड़ा वर्ग प्रभाग।

प्रतियोगी परीक्षाओं हेतु प्रशिक्षण

अनुसूचित जाति के छात्र, छात्राओं को परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण हेतु १९८२ तक रोजगार दफ्तरों के माध्यम से देश में १५ प्रशिक्षण तथा मार्ग दर्शन केन्द्र खोले गये हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्र द्वारा १७ राज्यों और २ संघ शासित क्षेत्रों जिनमें अनुसूचित जाति/जनजाति की उल्लेखनीय संख्या है। भारतीय तथा राज्य सिविल सेवाओं, बैंकिंग व अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने वाले अनुसूचित जाति/जनजाति के उम्मीदवारों को परीक्षापूर्ण प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधा जुटाने के लिए आवश्यक वित्तीय सहायता दी गई हैं।

आर्थिक विकास

सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति की कितनी ही ऊँची-ऊँची बातें क्यों न की जायें लेकिन जब तक दलितों की आर्थिक और भौतिक स्थिति में सुधार नहीं किया जाता उनकी दशा में कोई फर्क नहीं आ सकता। इस तथ्य से गाँधी, अम्बेडकर तथा राजनेता और योजनाकार अच्छी तरह अवगत थे। बहुत कुछ इसीलिए शासन के बीस सूत्रीय कार्यक्रम (विन्दु ७) और विशेषरूप से छठी योजना के उद्देश्यों के निर्धारण में अनुसूचित जातियों/जनजातियों के आर्थिक विकास कार्यक्रम को उच्च प्राथमिकता दी गई है। वास्तव में आर्थिक पिछड़ेपन का घनिष्ठ सम्बन्ध इन जातियों की सामाजिक निर्योग्यताओं और इन पर होने वाले अत्याचारों से है। क्योंकि यह देखा गया है कि इनके ऊपर अत्याचार प्रायः तब अधिक होता है जब ये अपने हक जैसे उचित मजदूरी अथवा आवंटित जमीन पर कब्जा किए जाने की मांग करते हैं।

छठी योजना प्रारूप में इस बात को बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया कि हालांकि पिछली पांचों योजनाओं में अनुसूचित जातियों के लोगों में सामाजिकार्थिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया। फिर भी गत तीन दशकों में हुए विकास में सामाजिकार्थिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े लोगों की स्थिति में आपेक्षित सुधार नहीं हो सका है। यह महसूस किया गया कि विगत योजनाओं में इन वर्गों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के विशेष कार्यक्रमों को लागू करने तथा आवश्यक संवैधानिक व प्रशासनिक प्राविधानों के बावजूद इन जातियों की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार न हो पाने का मुख्य कारण इन्हें आपेक्षित आर्थिक सहायता का प्राप्त न हो पाना है। इसलिए छठी योजना (१९८०–८५) में ऐसे कार्यक्रमों को स्थान दिया गया है जिनमें योजना का लाभ इन जातियों के सही लोगों को सही समय पर मिल सके। इन कार्यक्रमों का लक्ष्य निम्न है—

(१) छठी योजना काल (१९८०–८५) में कम से कम ६० प्रतिशत अनुसूचित जाति के परिवारों को इस लायक बनाया जायेगा कि वे गरीबी की रेखा के ऊपर उठ सकें।

(२) इन जातियों का शैक्षिक पिछड़ापन दूर करना।

(३) इनके रहने व काम करने की दशाओं में सुधार करना।

(४) इनकी व्यवसायिक गतिशीलता को उन्नत करना।

(५) इनकी महिलाओं व बच्चों के विकास पर विशेष ध्यान देना।

उपरोक्त लक्ष्यों को मूर्तरूप देने के लिए वर्तमान योजना में निम्न उपकरणों का प्राविधान किया गया है—

(अ) राज्य व केन्द्र स्तर पर विशेष कम्पोनेन्ट योजनाओं का निर्माण।

(ब) राज्यों की इन योजनाओं के लिए केन्द्र द्वारा विशेष केन्द्रीय सहायता और

(स) राज्यों में अनुसूचित विकास निगमों की स्थापना और उसके लिए केन्द्र द्वारा वित्तीय सहायता।

अनुसूचित जातियों के आर्थिक विकास के लिए आज कई योजनायें कार्य कर रही हैं। इनमें कुछ योजनायें अनुसूचित जातियों सहित सभी वर्गों के गरीबों के आर्थिक विकास के लिए हैं। जबकि कुछ (विशेष रूप से उपरोक्त तीन) केवल अनुसूचित जातियों/जनजातियों के निर्धन लोगों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करती हैं।

समग्र ग्रामीण विकास कार्यक्रम

छठी योजना पत्रक (पृष्ठ १६) के अनुसार लगभग ४८.१३ प्रतिशत (ग्रामीण ५०.८२ प्रतिशत तथा शहरी ३८.१९ प्रतिशत) जनसंख्या दरिद्रता की रेखा के नीचे जीवन यापन कर रही है।[१२] इस प्रकार देश के करीब ३५ करोड़ व्यक्ति अथवा ७ करोड़ परिवार (प्रति परिवार औसत सदस्य संख्या ५ मानते हुए) निर्धनता का जीवन बिता रहे हैं। इन परिवारों के विकास के लक्ष्य को सामने रखकर १९७८–७९ से देश के २०० विकास खण्डों में समग्र ग्रामीण विकास योजना लागू की गई जिसे २ अक्टूबर १९८० से देश के सभी ५००४ विकास खण्डों में क्रियान्वित किया गया।

समग्र ग्रामीण विकास कार्यक्रम देश के सात करोड़ निर्धन परिवारों की दरिद्रता को मिटाने का एक महत्वाकांक्षी कार्यक्रम है। इसमें ऐसे परिवारों को जो निर्धनता की रेखा के नीचे जीवन बिता रहे हैं अर्थात् जिनकी वार्षिक आय ३,५०० रुपये से कम है, सहायता के लिए चुना जाता है। इनमें जिन परिवारों की आय सबसे कम है उन्हें सम्बन्धी विकास खण्ड के अन्तर्गत आर्थिक सहायता के लिए चुनाव करते समय प्राथमिकता दी जाती है। ऐसे परिवारों में अधिकांशतः भूमिहीन मजदूर, सीमांत किसान तथा दस्तकार वर्ग के लोग आते हैं जिनमें अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के परिवारों का बाहुल्य होता है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत छठी योजना काल (१९८०–८५) के दौरान एक विकास खण्ड में ३,००० निर्धन परिवारों जिनमें कम से कम ३० प्रतिशत अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों में से हों, को लाभ पहुंचाने का लक्ष्य है। साथ ही इस बात का प्राविधान भी किया गया है कि कुल ऋण व अनुदान का कम से कम ३० प्रतिशत भाग इन वर्गों के परिवारों को दिया जाय। वर्ष १९८०–

८१ में ६.६४ लाख तथा १९८१–८२ में ९.८२ लाख अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के परिबारों को सहायता दी गई (रिपोर्ट,१९८३ ब : ४६)।

विशेष कम्पोनेन्ट योजना

विशेष कम्पोनेन्ट योजना १९८० में लागू की गई। यह योजना विशेष रूप से गरीवी की रेखा के नीचे जीवन बिताने वाले अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के परिवारों के आर्थिक विकास से सम्बन्धित विविध स्कीमें होती हैं। इसका लक्ष्य यह है कि छठी योजना में कम से कम ५० प्रतिशत अनुसूचित जाति के परिवारों को गरीवी की रेखा से ऊपर उठाया जा सके।

इस योजना के लिए राज्य सरकारें आवश्यक परिव्यय की व्यवस्था करती हैं। केन्द्र सरकार राज्यों द्वारा तैयार की गई विशेष कम्पोनेन्ट योजनाओं के लिए विशेष केंद्रीय सहायता उपलब्ध कराती है। छठी योजना में इस प्रयोजनाओं के लिए ६०० करोड़ रुपयों का प्राविधान किया गया है। इसके अन्तर्गत इन जातियों के परिवारों को प्रधानतः निम्न सेक्टरों में लाभ दिया जाता है।

(१) कृषि और सम्बद्ध सेक्टर—विशेष रूप से पशुपालन, डेरी, कृषि, लघु, सिंचाई, मछली पालन, मुर्गी पालन, सुअर पालन, बकरी पालन तथा भेड़ पालन।

(२) उद्योग —विशेष रूप से कुटीर व ग्रामोद्योग, करघा, दस्तकारी और रेशम उत्पादन।

(३) —शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास और पानी की सफाई।

(४) —ग्रामीण विकास।

विशेष कम्पोनेन्ट योजना संबंधी कार्यक्रम मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—

(अ) व्यक्ति व परिवार के आर्थिक विकास की ओर उन्मुख कार्यक्रम—ऐसे कार्यक्रमों का उद्देश्य अनुसूचित जातियों/जनजातियों के परिवारों को उनकी आय में वृद्धि करने वाले आवश्यक संसाधनों, उपकरणों तथा उनके प्रयोग सम्बंधी तकनीकी जानकारी हासिल कराना है जिससे वे अपनी आजीविका कमाने के लिए शोषकों और पीड़कों पर निर्भर न करें। वर्ष १९८१–८२ तथा १९८२–८३ में क्रमशः १८,८६ लाख तथा २२.८९ लाख परिवारों को इस योजना के माध्यम से निर्धनता की रेखा के ऊपर उठाने का लक्ष्य था।

(ब) बस्ती उन्मुख योजना—इस योजना का उद्देश्य अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की पुरानी व नई बस्तियों को आवश्यक सुविधायें एवं सेवायें जैसे पीने का पानी, नाली, स्वास्थ्य सेवा, मकान के लिए भूमि, बिजली, शिक्षा तथा व्यवसायिक मार्ग निर्देशन आदि मुहैय्या कराना है।

सारिणी—५

विशेष कम्पोनेन्ट योजना से लाभान्वित बस्तियाँ

क्रमांक	मद	लाभान्वित होने वाला	१९८१–८२ अनुमानित उपलब्धि	१९८२–८३ प्रस्तावित लक्ष्य
१.	पीने का पानी	अनुसूचित जातियों की बस्तियाँ	१५,८५१	११.३००
२.	गली में रोशनी	अनुसूचित जातियों की बस्तियाँ	१२,५४३	१२,६६६
३.	लिंक रोड	अनुसूचित जातियों की बस्तियों को मुख्य मार्ग से जोड़ना	१,६८७ कि.मी.	१,०१५ किमी.
४.	आवास	मकानों की संख्या	९५,९७३	९६,२३५
५.	शिक्षा	प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों जो अनुसूचित जातियों की बस्तियों में स्थापित किये गये की संख्या	८६	३,०८७
		स्कूलों की संख्या जो अनुसूचित जातियों की बस्तियों में स्थापित किये गये	८४६	२,६००

स्रोत : रिपोर्ट १९८३ व : १५–१६

देश के उन्नीस राज्यों और तीन केन्द्र शासित प्रदेशों जिनमें अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की उल्लेखनीय संख्या है ने विशेष कम्पोनेन्ट योजना क्रियान्वित की है। सारिणी ५ से स्पष्ट होता है कि इस प्रयोजना की परिव्यय राशि और लाभान्वित परिवारों की संख्या में निरंतर वृद्धि हुई है।

विशेष केन्द्रीय सहायता

भारत सरकार राज्यों की विशेष कम्पोनेन्ट योजनाओं को विशेष केंद्रीय सहायता भी देती है। इस सहायता से प्राप्त की गई अतिरिक्त आय राज्यों द्वारा उनकी विशेष कम्पोनेन्ट योजनाओं में परिव्ययों के साथ केवल आय उत्पन्न करने वाली आर्थिक विकास योजनाओं के लिए प्रयोग की जाती है ताकि निर्धनता की रेखा के नीचे अनुसूचित जातियों के अधिक से अधिक परिवारों की आर्थिक प्रगति करने में सहायता की जा सके। विशेष केंद्रीय सहायता से राज्य सरकारों को विशेष कम्पोनेन्ट योजनाओं में अधिक परिव्यय निर्धारित करने के लिए प्रेरित किया जा सका है।

सारिणी—८
अनुसूचित जातियों के परिवारों के आर्थिक विकास योजनाओं पर परिव्यय

क्रमांक	वर्ष	राज्य परिव्यय योजना	विशेष कम्पोनेन्ट योजना परिव्यय	विशेष केंद्रीय सहायता
१.	१९७९–८०	५९६७.०३	२४०.५४	५.००
२.	१९८०–८१	६९५६,८२	५४७.८४	१००.००
३.	१९८१–८२	८३८१.८१	६३७.७६	११०.००
४.	१९८२–८३	९४४५.४९	६६०.७८ (लगभग)	१२०.००

स्रोत : रिपोर्ट, १९८२ अ : ४७

अनुसूचित जाति विकास निगम

ऋण प्राप्त करने की प्रक्रिया के जटिल होने तथा वित्तीय सहायता की प्राप्ति में विलम्ब आदि के कारण अनुसूचित जाति के परिवारों को शासन की विभिन्न परिवारोन्मुख विकास योजनाओं से लाभ उठाने में कठिनाई होती थी। इस समस्या के निवारण के लिए अनुसूचित जाति/जनजाति की काफी आबादी वाले सत्रह राज्यों में अनुसूचित जाति विकास निगम स्थापित किये गये। इस योजना के अंतर्गत राज्यों को केंद्र की सहायता, निगमों में राज्य सरकार के अपने निवेश के ४९:५१ के अनुपात में दी जाती है। छठी योजनाकाल (१९८०–८५) के लिए केंद्र द्वारा इस स्कीम पर ६५ करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया है।

सारिणी—९
अनुसूचित जाति विकास निगमों की धनराशि

वर्ष	राज्य सरकारों का अंशदान (लाख रुपयों में)	भारत सरकार द्वारा प्रदत्त राशि (लाख रुपयों में)
१९७८—७९	७१०.५५	५०.००
१९७९—८०	७०३.१६	१२२४.००
१९८०—८१	१४०३.००	१३००.००
१९८१—८२	१३६७,५६	१३३२.८७
१९८२—८३	——	१३५०.८७ (परिव्यय का प्रावधान)

स्रोत : रिपोर्ट, १९८२ : ४९; रिपोर्ट १९८३ अ : ४७

निगम का मुख्य कार्य शासन की विभिन्न योजनाओं से इन जातियों के आर्थिक विकास के लिए जो कार्य आरम्भ किये गये हैं उन्हें गति देना है। इसके साथ ही अनुसूचित जातियों के गरीब परिवारों को आय बढ़ाने वाले उपकरणों व संसाधनों में पूंजी निवेष के लिए आवश्यक ऋण देना है। सामान्यतः निगम १२,००० रुपये तक की योजनाओं को ले सकता है।

निगम से अनुसूचित जातिंयों के गरीबी की रेखा के नीचे वाले परिवारों को लाभ दिया जाता है। इस श्रेणी में जैसा पहले कहा गया है, वे परिवार आते हैं जिनकी वार्षिक आय ३५०० रुपए (ग्रामीण) तथा ४३०० रुपए (शहरी) तक होती है।[13] कृषि मजदूरों, सीमांत किसानों, छोटे किसानों, साझे खेतिहरों तथा बटाइदारों को बिना आय प्रमाणपत्र के निगम से सहायता प्राप्त करने का पात्र माना गया है।

अनुसूचित जातियों के विकास संबंधी सम्पूर्ण नोडल मानिटरिंग के वास्ते गृह मंत्रालय के अनुसूचित जाति तथा पिछड़ी जाति विकास प्रभाग में हाल में एक संयुक्त निर्देशक की देख रेख में एक छोटे से मानिटरिंग सेल की मंजूरी की गई है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भूतकाल में जो कठोर शास्त्रीय निर्योग्यतायें दलितों पर थीं वे अब किस्से, कहानी या किताबी बातों के रूप में रह गई हैं। फिर भी दलितों की सामाजिकार्थिक स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। दलितों की गिरी हुई सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का कारण जाति व्यवस्था है। जाति व्यवस्था के बाबत दो तर्क दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि जाति संरचना आर्थिक शोषण का विषम यंत्र है जिसमें निम्न जातियों को साधारण पारिश्रमिक पर उच्च जातियों की सेवा तथा निम्नतर या बहिष्कृत जातियों को अन्य जातियों की पतित सेवा करने के लिए बाध्य किया जाता है। धार्मिक मान्यतायें एवं शास्त्रीय सिद्धांत तो मात्र इस आर्थिक शोषण को सामाजिक एवं वैचारिक आधार प्रदान करने के लिए बने हैं। दूसरा तर्क यह दिया जा सकता है कि जाति व्यवस्था एक धार्मिक व सामाजिक घटना है जो कालांतर में सामाजिकार्थिक शोषण का साधन बन गई। उपरोक्त दोनों में से हम चाहे कोई भी दृष्टिकोण अपनायें किंतु इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि जातिगत भेदभाव और अस्पृश्यता आर्थिक प्रभुत्व और शोषण के शक्तिशाली उपकरण हैं। (राम, १९८० : ५४)।

आर्थिक मुक्ति का प्रश्न दलितों के लिए सामाजिक एवं आध्यात्मिक विमुक्ति से यदि अधिक नहीं तो कम महत्वपूर्ण भी नहीं है। वास्तव में आर्थिक आत्म निर्भरता साधन है जबकि सामाजिक एवं आध्यात्मिक विमुक्ति साध्य या लक्ष्य। बिना आर्थिक आत्म निर्भरता प्राप्त किये दलितों की सामाजिक विमुक्ति संभव नहीं है। अम्बेडकर (संद० कीर, १९८१ : २१८) दलितों से कहते थे कि तुलसी की माला पहनने, या राम भजन गाने से तुम कर्ज से मुक्त नहीं होओगे और न ही इससे जो लगान तुम देते हो उसमें कटौती होगी अथवा तुम्हें कोई रियायत मिलेगी। तीर्थ करने से तनखाह नहीं मिलती। अम्बेडकर ने दलितों को भौतिक समृद्धि के लिए प्रयास करने की सलाह दी। जिसके लिए उनका कहना था कि राजनैतिक अधिकारों के प्रति सजग होने की जरूरत है। दलित चूंकि जीवन के प्रति तार्किक दृष्टिकोण अपनाने की जगह

बेकार के अंध विश्वास, आडम्बर और छलविद्या में लिप्त हैं इसलिए समाज में अवसरवादी, चालाक और स्वार्थी तत्वों को उनका शोषण करने का भरपूर अवसर मिल जाता है।

दलित समस्या का वास्तविक समाधान है समाज से दलित और गैर-दलित के भेदभाव का पूर्णतः समाप्त किया जाना। इसके लिए गैर-दलितों को नीचे गिराने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अधिक सुरक्षित उपाय हैं गैर-दलितों को बिना छुये हुये दलितों को ऊपर उठाना। इसके लिए एक तरफ दलितों की आर्थिक उन्नति के लिए क्रांतिकारी कार्यक्रमों को लागू करना होगा तो दूसरी तरफ जाति संरचना एवं उसकी प्रेरणास्रोत परम्परात्मक हिंदू सामाजिक वैचारिकी (वर्ण, कर्म, पुनर्जन्म संबंधी शास्त्रीय सिद्धांत) के स्थान पर वैकल्पिक प्रति सामाजिक-वैचारिकी (काउंटर सोशल आइडियोलाजी) एवं संरचना की स्थापना करनी होगी। स्वातंत्रोत्तर भारत में नये संविधान के लागू होने तथा योजनाबद्ध विकास कार्यक्रमों की शुरुआत से उक्त दोनों ही कार्यों का श्री गणेश तो हो गया है किंतु गत साढ़े तीन दशकों में बात कुछ बनती नहीं दीखती।

बीस सूत्री कार्यक्रम और छठी योजना को अमली जामा पहनाने के लिए बड़ा हो हल्ला हो रहा है। लेकिन लगता है कि योजना की समाप्ति वर्ष १९८५ के अंत तक फिर वही ढाक के तीन पात वाली कहावत चरितार्थ होनी है। क्योंकि योजना का बोझ लिए कर्मचारी गाँवों में अपनी चिर परिचित मंथर गति से चल रहा है। अधिकारी वर्ग विकास के नाम पर जीपों और गाड़ियों में सैर सपाटे कर रहा है। दौड़-धूप और दिखावा अधिक है काम कम है। उसकी रुचि दफ्तरों और बंगलों में अपने पुराने ठाठ-बाठ और रोब-दाब को बनाये रखने तथा अधिकतम सहूलियतों को दरपेंचने में अधिक है। निर्धनों के उत्थान के प्रति आपेक्षित कमिटमेंट का उसमें अभाव है। नौकरशाही की नकेल जिसके हाथों में हैं वह यदि नौकरशाही के हाथों बिका न भी हो तो भी उस पर इसकी पकड़ ढीली है। वह अपना अधिकांश समय और शक्ति कुर्सी की लड़ाई में ज़ाया करता है।

दलितों का सामाजिक एकीकरण तब तक संभव नहीं है जब तक कि उन्हें सामाजिक समानता प्राप्त नहीं होती। राष्ट्रीय सम्पत्ति और आय में उन्हें उचित हिस्सा नहीं मिलता। किंतु विगत अनुभव यह सिखाता है कि हम समाजवाद का ढोल चाहे कितना ही पीटें जाति एवं पूंजीवादी व्यवस्थाओं के रहते यह सम्भव नहीं है। आने वाले वर्ष इस दिशा में निर्णायक सिद्ध होंगे।

टिप्पणियाँ

१, अनुसूचित जातियों की सूची विभिन्न राज्यों के राज्यपालों से विचार विमर्श के पश्चात राष्ट्रपति द्वारा 'शिड्यूल्ड कास्ट आर्डर १९५०'' के तहत जारी की गई। जो बाद में १९५६ में संशोधित की गई।

२. १९८१ की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियों की संख्या १०४५७४६२३ है।

३. ब्राह्मण धर्म हिंदू धर्म की एक शाखा है। कालांतर में हिंदू धर्म विशेष रूप से हिंदू धर्म के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष पर ब्राह्मण धर्म की पकड़ इतनी मजबूत हो गई कि आज हिंदू धर्म का सामाजिक अधिदेश (सोशल गास्पल आफ हिंदुइज्म) और कुछ नहीं ब्राह्मण धर्म ही है। इस रूप में ब्राह्मण धर्म को हिंदू धर्म का पर्याय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

४. मनु, बृहस्पति, गौतम, नारद, अपस्तम्ब, याज्ञवल्क्य आदि।

५. मनु ने हत्या जैसे जघन्य अपराध करने पर भी एक ब्राह्मण के मात्र सर के बाल घुटवाने के दण्ड का प्रावधान किया है। किंतु शूद्रों के प्रति मनु सहिता अधिकांश स्मृतिकार अत्यधिक अनुदार रहे हैं। उदाहरण स्वरूप हत्या जैसे जघन्य अपराध के अलावा किसी ब्राह्मण को गाली देने, द्विज कन्या के साथ सहवास अथवा प्रेम करने जैसे साधारण अपराधों के लिए भी शूद्रों व अन्त्यजों के लिए मृत्यु दण्ड की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार शूद्रों व अन्त्यजों द्वारा वेद का उच्चारण करने, वेदों का अध्ययन अथवा शिक्षण करने, द्विजों से जुबान लड़ाने अथवा उन पर थूकने का अपराध करने पर उनकी जीभ अथवा होंठ काटने, वेदों का श्रवण करने का अपराध करने पर कान में गर्म शीशा डालने, ब्राह्मण पुरोहित को उसकी जिम्मेदारी पर मुंह और कान में गर्म तेल डालने, द्विजों पर हाथ उठाने पर हाथ काटने, उनके ऊपर पैर चलाने पर पैर काटने, उनके ऊपर पेशाब करने पर पेशाब का अंग काटने जैसे कठोर दण्ड निश्चित किये गये। (काम्बले, १९८२ : १२—१९)।

६. भारत सरकार गृह मंत्रालय नई दिल्ली रिपोर्ट १९८२-८३ पृ० ४९।

७. १९४७ में देश में साक्षरता लगभग १० प्रतिशत थी।

८. रिपोर्ट (१९८१ : २००)।

९. रिपोर्ट (१९८० : ३०)।

१०. रिपोर्ट (१९८१ भाग १ पृ० १४१; भाग २ पृ० २३३-३४)।

११. रिपोर्ट (१९८१ : १), १९७७-७८ के मूल्यों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति मासिक आय ६५ रुपये या उससे कम तथा शहरी क्षेत्र में ७५ रुपये अथवा कम मासिक आय वाले लीग दरिद्रता की रेखा के नीचे जीवन यापन करते थे (सिंह, १९८२)।

१२. १९७७-७८ के मूल्यों के आधार पर (देखिए नोट ११)।

१३. कीमतों के सूचकांक में वृद्धि के साथ इनमें समय-समय पर संशोधन होता है।

सन्दर्भ

बाली, एल० आर० १९८१ अनटचेबिलिटी : विल इट एवर वैनिश, जालंधर, भीम पत्रिका प्रकाशन

भारद्वाज, ए० एन० १९७९ प्राब्लम्स आफ शिड्यूल्ड कास्ट्स एण्ड शिड्यूल्ड ट्राइब इन इण्डिया, दिल्ली, लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स

देवी, लक्ष्मी १९८२ द प्रोटेक्शन आफ सिविल राइट्स एक्ट १९५५ (संशोधित १९७६) : सम आब्जर्वेशन्स, इण्डियन जर्नल आफ सोशल वर्क्स ४३ (१) : ७७-८२

काम्बले, एन० डी० १९८१ एस्ट्रासिटीज आन शिड्यूल्ड कास्ट्स इन पोस्ट इण्डिपेण्डेन्ट इण्डिया (१५ अगस्त १९४७ से १५ अगस्त १९७९ तक), नई दिल्ली, आशीष पब्लिशिंग हाउस

— १९८२ द शिड्यूल्ड कास्ट्स, दिल्ली, आशीष पब्लिकेशन्स

कीर, डी० १९८१ डा० अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन्स, बाम्बे, पापुलर प्रकाशन

प्रसाद, एन० १९६५ जाति व्यवस्था, दिल्ली, राज कमल प्रकाशन

राव, जे० जे० १९८० कास्ट चैलेंज इन इण्डिया, नई दिल्ली, विजन बुक्स

— १९८१ भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, नई दिल्ली, राज कमल प्रकाशन

राव, ऊषा एन० जे० १९८१ डिप्राइव्ड कास्ट्स इन इण्डिया, इलाहाबाद, चुग पब्लिकेशन्स

रिपोर्ट १९७४ अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के आयुक्त की रिपोर्ट, १९७१–७२ और १९७२–७३ (इक्कीसवीं रिपोर्ट)

— १९७६ रिपोर्ट आफ द कमिश्नर फार शिड्यूल्ड कास्ट्स एण्ड शिड्यूल्ड ट्राइब्स, १९७४-७५ (ट्वेन्टी थर्ड रिपोर्ट)

— १९८० रिपोर्ट आफ द कमीशन फार शिड्यूल्ड कास्ट्स एण्ड शिड्यूल्ड ट्राइब्स, १९७८-७९ (फर्स्ट रिपोर्ट)

— १९८१ अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट १९७९—८१ (सत्ताइसवीं रिपोर्ट भाग १ एवं भाग २)

— १९८२ भारत सरकार, गृह मन्त्रालय, नई दिल्ली, रिपोर्ट १९८१-८२ (हिन्दी प्रति)

— १९८३अ : भारत सरकार गृह मंत्रालय, नई दिल्ली रिपोर्ट १९८२-८३ (अंग्रेजी प्रति)

— १९८३ ब : कमेटी आन द वेलफेयर आफ द शिड्यूल्ड कास्ट्स एण्ड शिड्यूल्ड ट्राइब्स (३६वीं रिपोर्ट) नई दिल्ली, लोक सभा सेक्रेटेरिएट

? अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति कल्याण सम्बन्धी संसदीय समिति (पांचवीं और छठी पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए लाभ) साइक्लोस्टाइल्ड रिपोर्ट, गृह मंत्रालय, अनुसूचित जाति तथा पिछड़ा वर्ग विकास प्रभाग

सिंह, आर० जी० १९८१ अस्पृश्यता और परिवर्तनशील सामाजिक समीकरण, सामाजिकी २ (२) : ३१-४३

— १९८२ रूरल माडर्नाइजेशन, कान्ट्रेडिक्शन्स एण्ड चेंज, नई दिल्ली, इण्टेलेक्चुअल पब्लिशिंग हाउस ।

प्रजनन के सामाजिक-सांस्कृतिक निर्धारक
उ० प्र० के ग्राम दरबाड़ा का वैयक्तिक अध्ययन

जगदीश सिंह राठौर

भारत सामाजिक-सांस्कृतिक विविधताओं का देश है। देश की ये विविधतायें जनसंख्या की प्रजनन दर में विभिन्नताओं को उत्पन्न करती हैं। देश में किये गये कुछ आनुभविक अध्ययनों की उपलब्धियों से स्पष्ट होता है कि स्त्रियों की प्रजनन दर सांस्कृतिक भिन्नता के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती है। इसके अतिरिक्त एक ही संस्कृति के अंतर्गत पाई जाने वाली सामाजिकार्थिक भिन्नतायें पुनः प्रजनन दर में विषमताओं को जन्म देती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक एवं समाजार्थिक परिस्थितियों के साथ-साथ प्रजनन दर भी परिवर्तित होती रहती है।

प्रस्तुत अध्ययन जो कि उत्तर प्रदेश के जनपद बिजनौर के ग्राम दरबाड़ा के वैयक्तिक अध्ययन पर आधारित है, में यह जानने का प्रयास किया गया है कि ग्रामीण समुदायों में प्रजनन दर को कौन-कौन से सामाजिक-सांस्कृतिक कारक प्रभावित करते हैं।

अध्ययन की प्रमुख उपलब्धियों को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—

धर्म

प्रजनन पर किये गये अनेकानेक अनुसंधान इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि धर्म प्रजनन विभेदों को उत्पन्न करने में एक महत्वपूर्ण कारक है। भारत में भी धर्म के आधार पर प्रजनन में विभेद पाये जाते रहे हैं। देश की विगत जनगणना रिपोर्टें यह प्रमाणित करती हैं कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में प्रजनन दर भिन्न-भिन्न पाई जाती है। चन्द्रशेखरन (१९६१) द्वारा बंगलौर नगर में किए गए अध्ययन में धर्म तथा प्रजनन में सह-सम्बंध देखा गया। इस अध्ययन में हिंदू स्त्रियों की तुलना में मुस्लिम स्त्रियों की प्रजनन दर अधिक पाई गई। मुकर्जी एवं सिंह (१९६१) ने लखनऊ में किये गये एक अध्ययन में पाया कि प्रति स्त्री गर्भावस्था दर मुस्लिम

डा० जगदीश सिंह राठौर, अध्यक्ष स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग, गुलाब सिंह हिन्दू कालेज, चाँदपुर (बिजनौर, उ० प्र०)।

स्त्रियों में ३.९ तथा हिंदू स्त्रियों में ३.६ थी। इसके साथ ही प्रजनन दर भी हिंदू स्त्रियों से (३.४) मुस्लिम स्त्रियों में अधिक (३.७) थी। ड्राइवर (१९६३) द्वारा किये गये अनुसंधान में भी देखा गया कि हिंदू तथा मुस्लिम स्त्रियों की औसत संतानों की संख्या क्रमश: ४.५ तथा ४.६ थी। कुरुप तथा जार्ज (१९६५) के अध्ययन में भी प्रति स्त्री, जो अपनी संतानोत्पत्ति पूर्ण कर चुकी थीं, औसत बच्चों की संख्या हिंदुओं में ६.४ तथा मुसलमानों में ७ थी। ब्राडले (१९६७) ने भी अपने आनुभविक अध्ययन में यह देखा कि हिंदू पत्नियों की अपेक्षा मुस्लिम पत्नियों ने अधिक संतानों को जन्म दिया। मजूमदार (१९६०) का अध्ययन भी इन्हीं निष्कर्षों की पुष्टि करता है। प्रस्तुत अध्ययन में भी, उपर्युक्त अध्ययनों के समानुरूप, हिंदू और मुस्लिम स्त्रियों के औसत बच्चों की संख्या क्रमश: ४,०७ तथा ५.५७ पाई गई। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन धर्म के आधार पर प्रजनन विभेदों तथा साथ ही हिंदू स्त्रियों की अपेक्षा मुस्लिम स्त्रियों की अधिक प्रजनन दर को प्रमाणित करता है।

जाति

जाति व्यवस्था भारत की एक केन्द्रीय एवं आधारभूत संस्था रही है। अतः भारत में जनसंख्या एवं प्रजनन पर किया गया कोई भी अध्ययन अधूरा ही रह जायेगा यदि जाति को एक महत्वपूर्ण परिवर्त्य मानकर विचार न किया जाय। जाति और प्रजनन के सम्बंध में अग्रवाल (१९७०) दाण्डेकर (१९५९) व्यान एवं गोर्डन (१९७१) आदि विद्वानों का आनुभविक विचार है कि जातीय आधार पर प्रजनन दर में कोई भिन्नता नहीं पाई जाती। इसके विपरीत सक्सेना (१९६९) ने अपने अनुसंधानात्मक अध्ययन में प्रजनन तथा जातीय संस्तरण में सह-सम्बंध पाया। ड्राइवर (१९६३) के अनुसार प्रजनन दर अनुसूचित जातियों में अधिकतम तथा ब्राह्मणों में निम्नतम पाई जाती है। पिल्ले (१९७२) महादेवन (१९७९) के अध्ययनों में भी जातीय आधार पर विभिन्नता पाई गई। प्रस्तुत अध्ययन में प्रति स्त्री औसत संतान की संख्या अनुसूचित जातियों में सर्वाधिक (५.००), पिछड़ी जातियों में निम्नतम (३.६६) तथा उच्च जातियों में यह संख्या मध्यम स्तर (३.७६) की पाई गई। इस प्रकार प्रस्तुत तथ्य जातीय विभिन्नता तथा प्रजनन विभेदों में सहसम्बंध स्थापित करते हैं।

आर्थिक स्थिति

पति पत्नी की आर्थिक स्थिति भी प्रजनन दर को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। यद्यपि इस सम्बंध में किये गये अनेक अध्ययनों के परिणामों में बहुत अधिक भिन्नता देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ अग्रवाल (१९७०) ने देहली के निकटवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों के अध्ययन के आधार पर देखा कि स्त्रियों की प्रजनन दर आर्थिक स्थिति से प्रभावित नहीं होती। ड्राइवर (१९६३) तथा दाण्डेकर (१९५९) के विचार से भी आर्थिक स्थिति तथा प्रजनन में कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बंध नहीं पाया जाता। इसके विपरीत कुछ विद्वान आर्थिक स्थिति और प्रजनन में सहसम्बंध को स्वीकृति देते हैं। किंतु इनमें भी दो प्रकार के विचार पाये जाते हैं। प्रथमतः कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि आर्थिक स्थिति में उन्नति के

साथ-साथ इच्छित संतानों की संख्या में भी वृद्धि होती जाती है। मुकर्जी (१९६१) द्वारा किये गये एक अध्ययन में स्त्री सूचनादाताओं ने बताया कि वर्तमान स्थिति में वे दो बच्चों के जन्म को प्राथमिकता देंगी जबकि आदर्श स्थितियों में वे चार बच्चों को प्राथमिकता देना पसंद करेंगी। द्वितीयत: कुछ विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि आर्थिक स्थिति में उन्नति के साथ-साथ संतानों की संख्या में कमी होती जाती है। चन्द्रशेखरन (१९६१) ने बंगलौर नगर में किये गये अपने अध्ययन में संकेत किया है कि उच्च आर्थिक स्तर के लोगों तथा छोटे परिवार की इच्छा में सह-सम्बंध पाया जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में भी इसी तथ्य की पुष्टि पाई गई। अध्ययन में उच्च आर्थिक स्थिति की स्त्रियों में प्रजनन दर ३.६६ तथा निम्न आर्थिक स्थिति की स्त्रियों में यह दर ४.८४ देखी गई। वास्तव में आधुनिक समय में अधिक संतान को परिवार पर बोझ समझा जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी समाज में वैयक्तिक गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है। कम संतान होने की स्थिति में ही व्यक्ति अपनी संतान के वैयक्तिक गुणों में अधिकाधिक वृद्धि के लिए प्रयास कर सकता है। अत: जीवन स्तर को उन्नत करने एवं उच्च बनाये रखने के लिए लोगों में कम संतान पैदा करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

शिक्षा

सामान्यत: ऐसा विश्वास किया जाता है कि उच्च स्तरीय औपचारिक शिक्षा तथा निम्न प्रजनन दर में सहसम्बंध पाया जाता है, अर्थात् प्रजनन को कम करने में उच्च शिक्षा की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ड्राइबर (१९६३) के अध्ययन में प्रजनन और शैक्षिक स्थिति में सहसम्बंध पाया गया। मुकर्जी के अध्ययन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है किंतु इसके विपरीत हुसेन (१९७०) ने लखनऊ नगर में किये गये अध्ययन में प्रजनन तथा शैक्षिक स्तर में नकारात्मक सम्बंध देखा।

वास्तव में अधिकांश ग्रामीण स्त्रियाँ अशिक्षित हैं अत: स्त्रियों की शिक्षा उनके प्रजनन व्यवहार को स्पष्ट करने में अधिक प्रासंगिक नहीं हैं। अत: उनके पतियों की शैक्षिक स्थिति के आधार पर उनके प्रजनन व्यवहार को समझा जा सकता है। ड्राइवर को, पतियों की शैक्षिक स्थिति के आधार पर स्त्रियों का वर्गीकरण करने पर उनके प्रजनन व्यवहार में, विभेद देखने को मिला। प्रस्तुत अध्ययन में भी पतियों की शिक्षा के आधार पर पत्नियों का वर्गीकरण करने पर ज्ञात हुआ कि जिन स्त्रियों के पति शिक्षित थे उनमें प्रजनन दर प्रति स्त्री ३.९५ थी जबकि अशिक्षित पतियों वाली स्त्रियों में प्रजनन दर ४.३४ थी। दाण्डेकर (१९५९) का अध्ययन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि शिक्षा का स्तर जितना उच्च होता है उत्पन्न बच्चों की संख्या उतनी ही कम होती है। चन्द्रशेखरन (१९६१) ने भी बंगलौर नगर के अध्ययन में देखा कि उच्च शैक्षिक स्तर के लोगों तथा छोटे परिवार की इच्छा में सहसंबंध पाया जाता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष ज्ञापित किया जा सकता है कि स्त्रियों की प्रजनन दर को शिक्षा प्रभावित करती है।

परिवार

ग्रामीण समुदायों में व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करने में परिवार की भूमिका आज भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। अतः प्रजनन दर भी पारिवारिक प्रभावों से अछूती नहीं है। अनेक विद्वानों द्वारा की गई गवेषणाओं की उपलब्धियों से भी ज्ञात होता है कि स्त्रियों की प्रजनन दर उनकी पारिवारिक व्यवस्था से बहुत अधिक प्रभावित होती है। डेविस एवं ब्लेक (१९५६) ने अपने अध्ययन में पाया कि संयुक्त परिवारों में एकाकी परिवारों की अपेक्षा उच्च प्रजनन दर पाई जाती है। इसके विपरीत ड्राइवर (१९६३), नाग (१९६५). महादेवन (१९७९), पकरासी एवं मेनेकर (१९६७) आदि विद्वानों ने अपनी गवेषणाओं के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि एकाकी परिवारों में प्रजनन दर संयुक्त परिवारों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। प्रस्तुत अध्ययन के दत्त भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं क्योंकि अध्ययन में एकाकी परिवारों से सम्बद्ध स्त्रियों की प्रजनन दर ४.७१ तथा संयुक्त परिवारों से सम्बद्ध स्त्रियों की प्रजनन दर ३.५७ पाई गयी। वास्तव में संयुक्त परिवारों में युवा पति पत्नी को, परिवार में पर्याप्त स्थान के अभाव में, मैथुन के अवसर एकाकी परिवारों की तुलना में कम मिल पाते हैं, फलस्वरूप उनमें प्रजनन दर कम रहती है।

आभार

प्रस्तुत अध्ययन में, डा० गौरी शंकर भट्ट, अध्यक्ष समाज शास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, देहरादून की प्रेरणा एवं उनके बैचारिक सहयोग के लिए मैं हृदय से आभारी हूं।

सन्दर्भ

१. अग्रवाल, एस० एन० १९७० "ए डेमोग्राफिक सर्वे आफ सिक्स अर्बनाइजिंग विलेजेज", एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

२. ब्रॉडले, ई० एल० १९६७ "सम आस्पेक्टस् आफ डिफरेन्शियल फर्टीलिटी इन बाम्बे ऐज एसेस्ड फ्राम रजिस्ट्रेशन, डेटा", प्रोसीडिंग्स आफ जनरल कान्फ्रेन्स आफ आई० यू० एस० एस० पी०, सिडनी।

३. चन्द्रशेखरन, सी० १९६१ "द मैसूर पापुलेशन स्टडी", पापुलेशन स्टडीज नं० ३४, यूनाइटेड नेशन्स डिपार्टमेन्ट आफ इकानमिक एण्ड सोशल अफेयर्स, न्यूयार्क।

४. दाण्डेकर, कुमुदिनी १९५९ "डेमोग्राफिक सर्वे आफ सिक्स रूरल कम्यूनिटीज", एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

५.	ड्राइवर, ई० डी०	१९६३	"डिफरेन्शियल फर्टीलिटी इन सेन्ट्रल इण्डिया", प्रिन्सटन यूनीवर्सिटी प्रेस, प्रिन्सटन ।
६.	डेविस, के० एण्ड ब्लेक, जे०	१९५६	"सोशल स्ट्रक्चर एण्ड फर्टीलिटी: ऐन एनालिटिकल फ्रेम वर्क", इकानमिक डिवेलपमेंट एण्ड कल्चरल चेन्ज, ४ (३) ।
७.	हुसैन, आई० जैड०	१९७०	"एजूकेशनल स्टेटस एण्ड डिफरेन्शियल फर्टीलिटी इन इण्डिया", सोशल बाइलॉजी, नं० १७ ।
८.	कुरुप, आर० एस० एण्ड जॉर्ज, एन० वी०	१९६५	"पापुलेशन ग्रोथ इन केरला : इट्स इम्पलीकेशन्स", डेमोग्राफिक रिसर्च सेन्टर, ब्यूरो आफ इकानमिक एण्ड स्टेटिसटिक्स, त्रिवेन्द्रम ।
९.	महादेवन, के०	१९७९	"सोशयोलाजी आफ फर्टीलिटी : डिटमीनेन्ट्स आफ फर्टीलिटी डिफरेन्शियल्स इन साउथ इण्डिया" स्टर्लिग पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली ।
१०.	,, ,, (पिल्ले)	१९७२	"कास्ट स्टेटस एण्ड फर्टीलिटी इन ए रूरल एरिया आफ तमिलनाडू", बुलेटिन जी० आई० आर० एच० एण्ड एफ० पी०, गांधीग्राम ।
११.	मजूमदार, डी० एन०	१९६०	"सोशल कन्टूर्स आफ ऐन इंडस्ट्रियल सिटी", एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ।
१२.	मुकर्जी, आर० के० एण्ड सिंह, बलजीत	१९६१	"सोशल प्रोफाइल्स आफ ए मैट्रोपोलिस्", एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ।
१३.	नाग, मोनी	१९६५	"फैमिली टाइप एण्ड फर्टीलिटी", प्रोसीडिंग्स आफ डब्ल्यू० पी० सी०, यू० एन०, बेलग्रेड ।
१४.	पकरासी, के० एण्ड मेलेकर, सी०	१९६७	"द रिलेशनशिप बिट्वीन फैमिली टाइप एण्ड फर्टीलिटी", मिलबैंक मेमोरियल फण्ड, क्वार्टरली ४५ (४) ।
१५.	सक्सेना, सी० वी०	१९६९	"ए स्टडी आफ फर्टीलिटी एण्ड फैमिली प्लानिंग इन द थ्री विलेजेज आफ उत्तर प्रदेश, इंस्टीट्यूट आफ इकानमिक ग्रोथ, देहली (मिमियोग्राफ्ड) ।
१६.	व्यान, जे० बी० एण्ड गोर्डन, जे० ई०	१९७१	"द खन्ना स्टडी : पापुलेशन प्राबलेम इन द रूरल पंजाब", हार्वर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज ।

आदिवासी स्तम्भ

प्रकृति की गोद में भील जनजाति

दुर्गा बन गोस्वामी

सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं की विभिन्नता को संजोये भारतवर्ष में आज भी जनजातियां अफ्रीका के पश्चात विश्व में दूसरा स्थान बनाये हुए हैं। १९८१ की जनगणना अनुसार भारत की जनसंख्या ६८५१८४६९२ तथा १९७१-८१ के दशक में जनसंख्या वृद्धिदर २५ प्रतिशत है। अतः जनजातियों की जनसंख्या में भी वृद्धि होना स्वभाविक है परन्तु अब तक जनजातियों के १९८१ के जनसंख्या आंकड़े प्रयोग योग्य उपलब्ध न होने के कारण १९७१ के जनसंख्या आंकड़ों को ही दृष्टिगत कर भील जनजाति की स्थिति की विवेचना की जा रही है। १९७१ की जनसंख्या, जनगणना अनुसार भारत की कुल जनसंख्या ५४८१५९६५२ में जनजातियों की जनसंख्या ४.१२ करोड़ अर्थात ७.५ प्रतिशत है। आदिवासी भारतीय प्राचीन निवासियों का परम्परागत जीवन दुर्गम पर्वत, सघन जंगल, नदियों की घाटियों एवं प्रकृति की गोद में संतोष, सच्चाई, ईमानदारी, विश्वासप्रियता के साथ स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र जीवन पीढ़ियों से बिता रहे हैं। परम्परागत जीवन में रूढ़िवादिता, खान पान, रहन सहन, रीति रिवाज के पुराने ढंग आर्थिक विकास में बाधक हैं। भारतवर्ष में जनजातियों के लगभग २०० वर्ग विभिन्न आर्थिक, सामाजिक परम्पराओं और रीति रिवाजों को संजोये हैं जिन में मुख्य रूप से नागा, गौंड, भील, संथाल, उरांव, मुंडा, करायकेता, हो, खरिया, कुकी, भौटिया, ओरांव, बैगा, खसिया, कुमुम्ब टिमान, गडिया, गारो, कोरबा, टोडा, मिकिर, कोट, लदाखी, वांट, गडढी, किन्नर, पगवाल, थारो, आज भी खानाबदोशी, स्थानान्तरित कृषि, पशुपालन के साथ प्रकृति पर आश्रित लघु उद्योगों पर निर्भर हैं। अन्य धर्मावलम्वियों एवं ईसाई मिशनरियों ने इन्हें प्रलोभन एवं सुविधायें प्रदान कर अनेक परिवारों को अपने धर्म में सम्मिलित किया है और सम्पर्क में आने पर शोषण एवं पथभ्रष्टता के शिकार बनने से बचने के लिए यह नगरो की चहल पहल से दूर भागते देखे जाते हैं।

दुर्गा वन गोस्वामी, वरिष्ठ भूगोल वेत्ता, भारतीय महापंजीयक कार्यालय, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

जन जातियों में भीलों का उनके अदम्य साहस, स्वामीभक्ति एवं सतत पारिश्रमिक प्रवृति के कारण भारतीय संस्कृति में अपना अनूठा स्थान रहा है। इन की स्वामीभक्ति तथा सहयोग से राजपूत राणा प्रताप को एक बार फिर खोई हुई राजसत्ता मिली थी। मुख्यतः विन्ध्या, पंचमहल, सतमाला, सतपुड़ा और अजन्ता के बीहड़ एवं विकट पर्वती श्रृंखलाओं में निवास करने वाली यह जनजाति अपनी सामाजिक परम्पराओं, रीति रिवाजों, में अटूट विश्वास रखते हुये रूढ़िवादिता से हटती जा रही है और समाज के अन्य प्रगतिशील वर्गों के साथ कदम मिलाते देखी जाती है। भीलों की सामाजिक परम्पराओं एवं रीतिरिवाजों में स्थानीय भिन्नता पाई जाती है जो मुख्यरूप से पंचमहल की पहाड़ियों, गुजरात के दक्षिणी भाग और महाराष्ट्र के उत्तर पश्चिमी भाग में सर्वाधिक है। नर्बदा एवं ताप्ती में पली पोसी इस जनजाति को वहां की उबड़ खाबड़ तथा पथरीली भूमि ने कठोर परिश्रमी एवं शौर्यवान बनाया है। सतपूड़ा तथा अरावली पहाड़ियों के सघन बन वृक्ष,, सागौन, टीक, श्वेर, बांस, आम, महुआ, वेल, खजूर, और वहां के बन जीवजन्तु चीता, शेर, हिरण, तेन्दुआ, खरगोश, सांप, एवं ज्वाला मुखी प्रक्रिया के मुख्य केन्द्रों की सख्त अग्नेय चट्टानों, चूने के पत्थर के समूहों, गर्म स्रोतों, एवं सतमाला पहाड़ियों की सुरम्य घाटियों में विचरण करने वाली यह निर्भीक जनजाति सरकारी सहयोग एवं सहायता से अब सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास की ओर प्रयत्नशील है। भील मुख्य रूप से राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, करनाटक, आंध्र-प्रदेश एवं कुछ त्रिपुरा में पाये जाते हैं।

भील जनजाति द्रविड़ वर्ग में लगभग ६०० ईसा पूर्व से भली प्रकार मध्यभारत एवं झाबुआ क्षेत्र में जानी जाती रही है। इन में कोरबा, कैमूर पर्वतमाला तथा नेगेटों पंचमहल के क्षेत्र मुख्य हैं जो कि आर्यों की निशाद जाति से भिन्न समझे जाते हैं। वैसे निशादों का क्षेत्र भी उत्तरी पश्चिमी महाराष्ट्र, दक्षिणी गुजरात, विन्ध्या एवं सतपुड़ा की सुरम्य घाटियां ही हैं। महाभारत में अर्जुन-किरात युद्ध का वर्णन, भील के बाण से श्रीकृष्ण का देहावसान, भिलनी शबरी के आश्रल में राम का झूठे बेर खाना, साथ ही "आइने अकबरी" में अबुल फजल द्वारा भीलों के शौर्य और स्वामि भक्ति का वर्णन भारतीय संस्कृति में उनका प्राचीन अलौकिक, स्थान शोभायमान करता है। भीलों के बाल घुंघराले, रंग काला, चाकलेट एवं भूरा रंग लिये होता है। इनके आकर्षक चेहरे, बड़े भरे जबड़े, चौड़े माथे, सुन्दर नाक, पतले ओंठ, सुदृढ़ संरचना के होते हैं। भीलों की स्त्रियां गौर एवं गेहुंआ वर्ण, विकसित शरीर, सीना और धड़ मजबूत तथा आकर्षण वाली होती हैं। इनका जीवन निर्धनता में लकड़ी काटने, कृषि कार्य, बाजारहाट के कामों में व्यस्त रहता है। भील हिन्दू होते हुए भी अपनी विभिन्न सामाजिक परम्पराओं तथा रीति रिवाजों में विश्वास रखते हैं और गोपाहन, हिमराओ, हनुमान इनके इष्ट देव हैं। छोटे छोटे मकानों तथा घास बाँस से बने छप्परों में दूर दूर तीन चार मील के अन्तर पर जीवन यापन करते पाये जाते हैं। बहुधा इन के मकानों में तीन कमरे होते हैं। सोने और खाने का कमरा एक होता है जिसे गोबर से लीप कर साफ किया जाता है और झोपड़ों के पीछे बांसों से घिरा एक बागीचा भी होता है जिसमें मिर्च, बैंगन, टमाटर आदि बो

लेते हैं। कृषि कार्य बैलों से करते हैं। ज्वार पकने के समय खेतों के मकानों पर चले जाते हैं। मक्का, तम्बाकू की कृषी भी करते हैं। हथियार बाँस की लाठी, हंसिया, रस्सी की गुफनी तीर कमान भाले आदि होते हैं। आजकल आधुनिक कृषि यन्त्रों का प्रयोग भी देखने में आता है। यह आज भी उत्सवों पर नये वाद्यों के साथ करतार, बांस की बांसुरी, परवाही, सीटी, शहनाई, पाइप, आदि का प्रयोग संगीत के साथ रोचक ढंग से करते देखे जाते हैं। यह थाली को लकड़ी से बजा कर गाने में बहुत आनन्द लेते हैं। तीरों की नोकें लोहे की रखते हैं। तीर कमान के प्रयोग के साथ अब वह आधुनिक अस्त्र बन्दूकों का प्रयोग भी शिकार में करते हैं। जाड़ों में सुअरों के साथ शेरों तक को फांस कर शिकार करते हैं। इनके खाने के साधारण बर्तन टोकनी, खातू, थोवल, हिकू, छिगनू, छापरी, करची, रूबी, देहलो मुख्य हैं। सम्भ्रांत परिवार आधुनिक बर्तनों का प्रयोग करते हैं। मुख्य वस्त्र फालों, बंडी, पगड़ी हैं जिस में पगड़ी सम्मान का प्रतीक है यहां तक कि पत्नी को तलाक देते समय पगड़ी उसी को देते हैं। लड़की के विवाह उत्सव पर उसे वस्त्र तथा दुल्हे को रेशमी पगड़ी देने की रीति प्रचलित है। नवरात्रि बड़े उत्साह से मनाते हैं और पुरुष इस अवसर पर उल्लास से स्त्रियों के वस्त्र एवं कानों में चाँदी के कुण्डल पहनते हैं। सोने की अंगूठी पहनना बहुत पसन्द किया जाता हैं। गहने कभी कभी २० पौंड भार तक के मिलते हैं और मृत्यु होने पर उनके साथ ही गाड़ दिये जाते हैं। इन के भोज्य पदार्थ बांटी, कोदरा, चोर, नागली, ज्वार. मक्का, लुर, अरहर और चने की दालें हैं। स्त्रियां कोदरी को नदी के पानी में अच्छी प्रकार धोती हैं उसे पका कर भिण्डी तथा इमली के साथ बड़े चाव से खाती हैं। प्रातः काल एवं दोपहर बाद वगैर चीनी की चाय का सेवन दिन में बहुत प्रचलित है। भीलों में तम्बाकू, गांजा, अफीम का सेवन भी देखा जाता है। मेहमानों के स्वागत एवं त्योहारों के अवसर पर मछली और महुआ की शराब और ताड़ी का प्रयोग समृद्धि एवं सम्मान का सूचक मानते हैं। दोपहर के समय दिन में लगभग दो घन्टे विश्राम कर कठोर परिश्रम करते, पशु चराते, जंगली फलों को एकत्रित करते और सांयकाल अलाव के चारों ओर बैठ कर बातें करते हैं। बच्चे घर के बाहर तीर कमान तथा लाठियों से खेलते नग्न किलकारी लगाते देखे जाते हैं। गांव का मुखिया 'बसावा' कहलाता है जो सभी प्रकार की व्यवस्था का उत्तरदायी समझा जाता है। उसका पद खानदानी होता है वह गांव के झगड़ों, सामाजिक तथा वर्गीय परम्पराओं के विरुद्ध गुत्थियों को सब के सहयोग से सुलझाता है। गांव के व्यक्ति उसे सभी प्रकार का सम्मान एवं प्रतिष्ठा देते हैं।

१९७१ के जनसंख्या आंकड़ों के भारतीय स्तर पर अध्ययन करने पर राज्यों के भीलों का वहां की जनसंख्या का प्रतिशत मुख्य रूप से राजस्थान (५.५८ प्रतिशत) गुजरात (५.४४ प्रतिशत) मध्यप्रदेश (३.८९ प्रतिशत) महाराष्ट्र (१.३५ प्रतिशत) देहली (०.०१ प्रतिशत) त्रिपुरा (०.०१ प्रतिशत) आंध्र प्रदेश, करनाटक में स्पष्ट होता है। राज्यों में भीलों की जन-संख्या क्रमाशः मध्य प्रदेश (१६१८७८६) गुजरात (१४५२९८६) राजस्थान (१४३७९३७) महाराष्ट्र (६७८७५०) आंध्र प्रदेश (५६०) देहली (४०४) करनाटक (३५३) तथा त्रिपुरा (१६९) है। १९७१ की भारतीय जनसंख्या (५४८१५९६५२) में भील जनसंख्या (५१८९-

९४७) है जो उपरोक्त आठ प्रदेश एवं संघ शासित राज्यों में पाई जाने वाली भील जनसंख्या उन की २.३३ प्रतिशत तथा भारतीय जनसंख्या का ०.९५ प्रतिशत है। भील भारत की लगभग १०० जिलों में बिखरे हुए हैं। जिले स्तर पर अध्ययन से ज्ञात होता है कि आन्ध्र प्रदेश में करीमनगर (२५७) हैदराबाद (१३१) तथा अदीलाबाद (६६) मुख्य रूप से हैं जब कि मेडाक, महबूब नगर, वारंगल, नलगोडा में इनकी कुल संख्या ५० से भी कम है। गुजरात में एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले जिले पंचमहल (५१८८७८) भड़ौच (३७४५२९) साबरकण्ठा (१७३६०८) बड़ौदा (१२८९७३) सूरत (११५५१२) तथा एक लाख से कम जनसंख्य वाले बनासंकठा (७६०८६) डांगस (२६६७४) के अतिरिक्त १० से १६ हजार जनसंख्या वाले जिलों खेड़ा (१५३०८) अहमदाबाद (११७३४) और छै हजार से कम भील जनसंखसा वाले वालसाद (१६१६) कच्छ (१२२७) महेशाना (५९१४) और गांधी नगर (२२७) जिले हैं।

मध्य प्रदेश में १९७१ की जनगणना के अनुसार लगभग २५ जिलों में भील पाये जाते हैं जिन में सब से अधिक झाबुआ (५६५६९४) खरगांव (५०१६९५) धार (४४९६५९) रतलाम (७८४६०) सिहौर (१४६५८) बेतुल (३०५१) विदिशा (२७२८) रायसेन (२०७३) खण्डवा (५१४) तथा पचास से कम भीलों वाले लगभग १६ जिले हैं।

महाराष्ट्र राज्य में पाये जाने वाले १७ जिलों में से एक लाख से अधिक भील जनसंख्या के जिले धुलिया (३५८०८८) नासिक (१३५७३६) तीस हजार से एक लाख भील संख्या के जिले जलगांव (८७०१५) अहमदनगर (५७४१६) औरंगाबाद (३०८०१) तथा इस राज्य के १२ जिले तीन हजार से कम भील संख्या वाले हैं।

करनाटक प्रदेश में केवल ६ जिलों में भील मिलते हैं जो कहीं भी २०० से अधिक नहीं हैं। सर्वाधिक धारबार (१६३) नार्थकनारा (१५०) तथा बेलगांव, रायूचूर, विदार, बीजापुर में इनकी संख्या ४० से कम है।

राजस्थान के २५ जिनों में भील रहते हैं जिन में एक लाख से अधिक संख्या वाले जिले बांसवारा (४३७२६१) उदयपुर (३१५९११) डूंगरपुर (२४२९१७) और बीस हजार से एक लाख वाले जिले चित्तौरगढ़ (६८१७६) भीलवाड़ा (५९३५५) वारमेड़ (४२१६०) जैलोर (४०९००) झालावर (३९५६७) कोटा (३९०८८) जोधपुर (२३४८०) बूंदी (२२९९१) एक हजार से दस हजार भील संख्या वाले टोंक (९५६९) पाली (९४६३) जैसलमेर (६५७६) सवाई माधोपुर (१४२५) और नौ जिलों में एक हजार से कम तथा कुछ जिले नगण्य भील संख्या वाले हैं।

भारतवर्ष के पूर्वी भाग में नार्थ त्रिपुरा में १०२ तथा दक्षिणी त्रिपुरा में ६७ भील हैं जबकि संघशासित देहली में १९७१ की जनगणना अनुसार ४०४ भील हैं।

भारतवर्ष में भीलों की जिला स्तर पर प्रतिशतांश दस जिलों में १५ से ८५ प्रतिशत,

११ जिलों में ५ से १५ प्रतिशत, सात जिलों में १ से ५ प्रतिशत और अन्य जिलों में जहां भील पाये जाते हैं एक प्रतिशत से कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। भीलों के सघन केन्द्र मध्य प्रदेश में झाबुआ, खरगांव, धार, राजस्थान में बांसवारा, उदयपुर, गुजरात में पंच-महल, भडोंच, साबरकण्ठा, वड़ौदा, सूरत और महाराष्ट्र में धुलिया, नासिक जिलों का क्षेत्र है जहां से क्रमशः अन्य क्षेत्रों में इनकी संख्या कम होती जाती है। इनकी एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले इस क्षेत्र के आगे क्रमशः इनकी कम संख्या वाले क्षेत्र हैं परन्तु देहली के पास अलवर (राजस्थान) में इनका आसपास के जिलों से अधिक होना शौर्य, वीरतापूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत करता है। भील जनजाति भारत के पश्चिमी भाग में अरब सागर तटीय क्षेत्र एवं भारत की पश्चिमी सीमा पर विशेषकर फैली है। इनका सम्पर्क विदेशी व्यापार एवं उद्योगों में अग्रणीय क्षेत्रों के साथ पश्चिमी सीमान्त क्षेत्रों से अधिक है।

भील अधिकतर अपनी भाषा भीली अथवा भिलौड़ी ही बोलते हैं। इस भाषा के बोलने वालों का प्रतिशतांश दादर नगर हवेली में ८३,१० प्रतिशत है। भारतवर्ष में भिलौडी अथवा भीली भाषा बोलने वाले मुख्य जिले झाबुआ (८४.०१) डुंगरपुर (६२.०१ प्रतिशत) बांसवारा (५९.६९) खरगांव (३१.८३ प्रतिशत) धार (२८.०२ प्रतिशत) धुलिया (२४.५३ प्रतिशत) सूरत (२४.२२ प्रतिशत) वालसाद (१७.८० प्रतिशत) रतलाम (११.०५ प्रतिशत) अदीलाबाद (७.०६ प्रतिशत) सिरोही (६.३६ प्रतिशत) भरोंच (५.४८ प्रतिशत) डांगल (४.७५ प्रतिशत) उदयपुर (४.०८ प्रतिशत) खंडवा (१.६२ प्रतिशत) विशेष कर हैं। साथ ही भील पाये जाने वाले प्रदेशों के अनेक जिलों में भीली अथवा भिलौड़ी भाषा बोली जाती है।

भील जनसंख्या वाले भूखण्डों की भौगोलिक संरचना, जलवायु, खनिज, कृषि, मिट्टी और उन पर आधारित उद्योगों का उनके अध्ययन में बड़ा महत्व है जिसे देखने से ज्ञात होता है कि राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, करनाटक, आँध्र प्रदेश, त्रिपुरा में जहाँ भील पाये जाते हैं वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों ने इन के परम्परागत जीवन एवं रीति रिवाज में बड़ी विभिन्नता प्रदान की है। इन सभी प्रदेशों में लगभग २२.५ से० ग्रेड० से २७.५ से० ग्रेड तापक्रम पाया जाता है। राजस्थान की औसत वार्षिक वर्षा ४० से १०० सेन्टी मीटर जब कि मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, करनाटक, आन्ध्र प्रदेश में ४० से ४०० सेन्टी मीटर है। औसत वार्षिक आर्द्रता राजस्थान (६० प्रतिशत) मध्य प्रदेश (५५ से ६५ प्रतिशत) गुजरात (६० से ७५ प्रतिशत) महाराष्ट्र (६० से ८० प्रतिशत) कर्नाटक (६० से ८० प्रतिशत) त्रिपुरा (८५ से ९० प्रतिशत) है। इन भूखण्डों की मुख्य भूसंरचना नवीन ढीला परतदार निक्षेप (प्लाइस्टोसिन) आर्कैन ग्रेनाइट, एवंनीस, विन्धीय दक्कन ट्रैप, काला लावा निक्षेप धारवाड़ीय, कुडप्पा कर्नूल निक्षेप, गोंडवाना वनस्पति अवशेष, युक्तनिक्षेप, पूर्व केम्ब्रियन अथवा आर्किन पुरानी परतदार एवं परिवर्तित चट्टानें मुख्य हैं। आवसादी, काली मिट्टी, अवर्गीकृत लेटराइट मिट्टी, लाल मिट्टी, राजस्थान में मरु भूमि तथा त्रिपुरा में आर्केन ग्रेनाइट्स एवं नीस, आवसादी जंगली पहाड़ी एवं पर्वतीय मिट्टी तथा लाल मिट्टी मुख्य हैं। सिंचाई के साधन

तालाब, कुएं, एवं नहरें, तथा मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूं, गन्ना, तिलहन, कपास, तम्बाकू तथा त्रिपुरा में धान, पटसन विशेष हैं। इन भूखण्डों में मुख्य खनिज बाकसाइट, तांबा, हीरा, चूने का पत्थर, लोहा, कोयला, मैगनीज, अलमोनियम, चीनी मिट्टी, अबरक, जल विद्युत, परमाणुशक्ति, खनिज तेल, पाये जाते हैं। इन के आस पास अच्छे औद्योगिक नगर तथा विकसित उद्योग धन्धे जैसे साइकिल के पुर्जे, अलुमुनियम, मोटर, रेडियो, विद्युत तथा इन्जीनियरिंग के सामान, रेल इंजन तथा डिब्बे निर्माण, सूती, ऊनी तथा रेयान अथवा कृत्रिम रेशे तथा प्लास्टिक उद्योंग कांच, रसायन खाद, शक्कर, सीमेंट, तेल शोधन, चमड़ा उद्योग, फिल्म तथा कागज के कारखाने स्थित हैं एवं विकासोन्मुख हैं। यहाँ ऊष्णकटिबन्धीय वनस्पति तथा वनों की बहुतायत है। कृषि भूमि के अतिरिक्त अच्छे चरागाह उपलब्ध हैं। परन्तु भील परिवार अधिकतर नागरीय वातावरण से दूर नदियों की घाटियों एवं उबड़ बीहण बनों मे परम्परागत रूप से रहना अधिक पसन्द करते हैं। केवल मजदूरी के लिए या कुछ सभ्यता से प्रभावित हो नगरों के कारखानों तथा उद्योगों में कार्य करते हैं, जिनकी प्रवृत्ति अपने स्थानों पर ही लौटने की होती है। इससे स्पष्ट है कि भीलों के आसपास के क्षेत्र प्राकृतिक सम्पदा तथा औद्योगीकरण से ओतप्रोत हैं इनको उनकी ओर आकर्षित कर, अच्छे सदभाव-पूर्ण व्यवहार से इस जनशक्ति का सदुपयोग भली प्रकार कर इनका विकास देश हित में और लाभकारी बन सकता है।

भारतवर्ष में आज कल जनजातियों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। नागालैंड, मेघालय, अरुनाचल प्रदेश, दादरा नगर हवेली, मनीपुर, मिजोरम में जनजातियां वहां की जनसंख्या में सर्वाधिक हैं। अधिकतर श्रमिक श्रम कार्यों में लगे हैं क्योंकि शैक्षिक दृष्टि से कमजोर तथा पिछड़े पाये जाते हैं। ट्राइवल सब प्लान तथा 'इन्ट्रैगरल ट्राइबल डेवलपमेन्ट प्राजेक्ट' जनजातियों के सर्वांगीण विकास हेतु पंच वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत स्थापित किये गये हैं तथा पांचवी पंच वर्षीय योजना में ९७५ करोड़ रुपये जनजातियों के विकास हेतु खर्च किये गये तथा इन्हें सूदखोरों, व्यापारियों, जंगल के ठेकेदारों के शोषण से विशेषकर बचाने की व्यवस्था की गई है। सरकार ने इन्हें सिचाई सुविधा, पशु पालन, घरेलू उद्योग धन्धों, बन सम्पदा, बगीचों के विकास हेतु काफी सहायता प्रदान की है। आज कल शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, पुरानी कृषि व्यवस्था में परिवर्तन पर सरकार विशेष ध्यान दे रही है। सरकारी पदों पर आरक्षण की व्यवस्था तथा आज उच्च पदों पर पर्याप्त जनजातियों के सदस्य दिखाई देते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में आश्रम, स्कूल, निःशुल्क पुस्तकें, पोषक खाद्य, आवास, छात्रवृत्तियों की सुविधायें हैं। बंधुआ मजदूरी से भूमि से बेदखली आदि के बचाव, बहु विवाह, मदिरा सेवन, से बचाने पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इनकी भाषा समझ में न आने वाली होने से यह शिक्षित समाज के सम्पर्क में नहीं आ पाते हैं। अब विद्युतीकरण, कला कौशल, कुटीर उद्योगों का योजनाबद्ध विकास किया जा रहा है। पनघट जैसी योजनाओं से सरकार ने जनजातियों की स्त्रियों की शिक्षा एवं संस्कृति, घरेलू उद्योग धंधों के विकास में विशेष रुचि पैदा कर दी है। अब यह सभ्यता में तीव्रता से आगे बढ़ रहे हैं, और कहीं कहीं पाश्चात्य सभ्यता

से प्रभावित ठाठबाट में देखे जाते हैं। शिक्षा एवं जीवन स्तर में दिन प्रतिदिन सुधार होता जा रहा है। जन सम्पर्क में आने से दूसरे समाज की परम्पराओं का समावेश दिखाई पड़ता है। अब यह शादी विवाह भी अन्य वर्गों में करने लगे हैं तथा विभिन्न धर्मों एवं संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस प्रकार प्रचुर प्रकृति सम्पदा खनिज एवं औद्योगिक केन्द्रों के आस पास इस जनजाति के सर्वांगीण विकास से देश की सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक व सांस्कृतिक समृद्धि में सुदृढ़ता आने की पूर्ण आशा है।

टिप्पणी : १. जनगणना आंकड़े भारत के महापंजीयक के कार्यालय, गृह मन्त्रालय, नई दिल्ली के जनसंख्या प्रकाशनों पर आधारित हैं।

बुन्देलखण्ड की प्रमुख विमुक्त जातियां : संक्षिप्त परिचय

पी० आर० शुक्ल

सेन्ट्रल डिटैक्टिव ट्रेनिंग कालेज कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'ए ब्रीफ डिस्कोर्स आन दि इम्पॉर्टेन्ट एक्स नोटीफाइड (क्रिमिनल) ट्राइब्स आफ इंडिया' के अनुसार भारत में १५८ अपराधी जनजातियां पाई जातीं हैं। इनका एक बहुत बड़ा भाग उत्तर प्रदेश में रहता है।

सन् १९५१ में भारत में उनकी सँख्या २२६८३४८ थी । उत्तर प्रदेश में ३० से ४० के बीच अपराधी जनजातियाँ पाई जाती हैं जिनकी संख्या १९४१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार १६६८८४५ थी। सन् १९५२ में अपराधी जनजातियों का नोटिफिकेशन समाप्त हो जाने के कारण अब उनकी सही जनसंख्या मालूम करना एक कठिन कार्य हो गया है। यहां हम भारत में पाई जाने वाली विमुक्त जातियों, उनकी जनसंख्या, सामाजिक संगठन, आर्थिक संरचना तथा अपराधी कार्यों आदि को न लेकर बुन्देलखण्ड क्षेत्र में पाई जाने वाली चार प्रमुख विमुक्त जातियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं :—

कन्जर

निवास स्थान

कंजर विमुक्त जाति के सदस्य मध्यप्रदेश के ग्वालियर, भोपाल तथा राजगढ़, पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर, महाराष्ट्र तथा उ० प्र० में पाये जाते हैं। उ० प्र० में ये झांसी, हमीरपुर, तथा जालौन जिले में अत्यधिक संख्या में पाये जाते हैं। ये सामान्य बस्तियों से अलग अपनी बस्तियाँ बसाते हैं तथा सभ्य लोगों से स्वयं को अलग रखना पसंद करते हैं।

कंजर की तुलना उ० प्र० में बहुत बड़ी संख्या में पाई जाने वाली नट जनजाति से की जा सकती है। कंजर स्त्रियां नाचती गाती हैं तथा नगरों के समान रास्तों पर चलकर तरह तरह के मनोरंजक कार्यक्रम प्रस्तुत करती हैं। पुरुष सदस्य ढोलक बजाकर भीड़ एकत्रित करते हैं तथा अपनी स्त्रियों तथा बच्चों को खेल दिखाने में सहयोग देते हैं।

दक्षिणी कंजर स्त्रियां तथा पुरुष दोनों ही कान आदि के डाक्टर बनकर, मसाला पीसने के सिलबट्टे टांकने वाले बनकर या जूट अथवा टाट के थैले बनाकर वेचने वाले बनकर सभ्य लोगों के बीच पहुंचते हैं।

पी० आर० शुक्ल, प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, बुन्देलखण्ड कॉलेज, झाँसी, उ० प्र०।

अपराधी कार्य

दोनों ही प्रकार के कंजर डकैती, राहजनी, सेंध लगाना तथा पशुओं की चोरी करते हैं। आजकल कंजर रेलवे के सामान की भी भारी मात्रा में चोरी करने लगे हैं। कंजर डकैती तथा राहजनी के लिये एकान्त में बसे छोटे गांवों के लोगों को भयभीत करते हैं तथा उनकी सम्पत्ति लूट कर ले जाते हैं। अधिकतर ये बाजार से लौटने वाले ग्रामीणों को लूटते हैं व उनकी स्त्रियों तथा बच्चों के जेवर उतरवा लेते हैं। सेंध लगाने का कार्य करने के लिये कंजर खन्ता तथा बगली औजारों का प्रयोग करते हैं। इस कार्य को करने के लिये ये दो टोलियों में बट जाते हैं। एक टोली दोपहर तथा दोपहर बाद ढोलक बजाकर, नाच गाकर तथा रस्सों व बड़े-बड़े बांसों पर नटों के समान खेल दिखाकर सामान्य जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है जबकि दूसरी टोली के सदस्य घरों के भीतर घुसकर ताले तोड़कर नकद तथा आभूषण तथा बहुमूल्य वस्तुओं की चोरी करते हैं। घरों के भीतर घुसने के लिये ये रोशनदानों तथा छोटी छोटी खिड़कियों का प्रयोग करते हैं। ये अन्दर सोती हुई स्त्रियों तथा बच्चों के जेवर भी उतार कर ले जाते हैं।

रेलवे के सामान की चोरी ये रुकी हुई अथवा चलती हुई दोनों ही प्रकार की मालगाड़ी के खुले हुए डिब्बों से करते हैं। दक्षिणी कंजर स्त्रियां चलती हुई रेलगाड़ी से इस प्रकार की चोरी करने की कला में बड़ी निपुण होती हैं।

कंजर रास्ते में चलते हुए पशुओं तथा घरों में बंधे हुए भेड़, बकरी, गाय, बैल, भैंस, आदि पशुओं को बड़ी सफाई से चुरा ले जाते हैं। ये चोरी के पशुओं को अपने पास नहीं रखते बल्कि दूर के बाजारों में ले जाते हैं। वहां बेंच देते हैं। भेड़ बकरी के मांस के शौकीन होने के कारण चुराई हुई बकरियों व भेड़ों को मार कर खा जाते हैं।

दक्षिणी कंजरों का पशुओं की चोरी करने का अपना निराला तरीका है। ये अपने साथ बहुत से पशु लेकर चलते हैं व अपने पशुओं के साथ ही ये आसपास के चरते हुए पशुओं को भी मिला लेते हैं एवं सभी पशुओं को बड़ी तेजी से हांकते हुए चोरी के स्थान से मीलों दूर ले जाते हैं। कभी कभी ये पशुओं की चोरी का दूसरा तरीका भी अपनाते हैं। ये चुराये हुए पशुओं को किसी नाले आदि के पास तक हांक ले जाते हैं तथा उनके हाथ पांव बांध देते हैं, जैसे ही अंधेरा होता है ये पशुओं को लेकर जितनी तेजी से सम्भव होता है दूर चले जाते हैं। ये भेड़, बकरी, गाय, बैल, आदि पशुओं के साथ ही साथ घरों के भीतर से तथा इधर उधर से मुर्गे, मुर्गियों की चोरी भी करते हैं।

कंजर चोरी किये हुए जेवर तथा अन्य सामान सामान्यतः स्वयं नहीं बेचते बल्कि किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से बिकवा देते हैं। चोरी किये हुए कपड़ों को रंगवा कर उनका इस्तेमाल स्वयं करते हैं, कभी कभी ये अच्छे अच्छे कपड़ों के झोले सिलवा कर उनमें अनाज भर लेते हैं। इसी प्रकार चोरी के वर्तनों आदि से नाम मिटाकर बेच देते हैं या स्वयं इस्तेमाल करते हैं।

सामान्यत: कंजर उ० प्र०, म० प्र०, महाराष्ट्र, राजस्थान, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, आन्ध्रप्रदेश, तथा मैसूर आदि प्रान्तों में पाये जाते हैं।

करवाल नट

निवास स्थान

करवाल नट सामान्यत: हिन्दू होते हैं किन्तु मुस्लिम भी होते हैं। हिन्दू नट भोजपुर के आरा जिले के मूल निवासी हैं तथा म०प्र० के सागर तथा जबलपुर व उ०प्र० के कानपुर, झांसी, हमीरपुर, बाँदा तथा पश्चिमी बंगाल के २४ परगना आदि जिलों में पाये जाते हैं।

अपराधी कार्य

करवाल नट सामान्यत: भिखारियों का वेश बनाकर सभ्य बस्तियों में घूमते हैं। कभी कभी ये भेड़, बकरियों का व्यापार भी करते हैं। इनकी स्त्रियां नाचने गाने का काम करती हैं तथा बंदरों का नाच दिखाकर भी जीविकोपार्जन करती हैं। मुसीबत के समय या कठिन धनाभाव की परिस्थितियों में ये स्त्रियां वैश्यावृत्ति भी अपना लेती हैं। मुस्लिम करवाल नट सामान्यत: पशुओं का व्यापार करते हैं। इनका मुख्य कार्य बकरी बकरे तथा बर्तनों की चोरी करना है। ये घरों के अन्दर से बर्तन तथा जानवर उठा ले जाते हैं तथा इन्हें बाहर बेच लेते हैं। कभी कभी ये धोखाधड़ी तथा अन्य अपराधी कार्य भी करते हैं।

करवाल नट हरे भरे खेतों को भारी नुकसान पहुंचाते हैं। खेतों में अपने पशुओं को चरने के लिये छोड़ देते हैं जिससे खेत नष्ट हो जाते हैं। अपने भोजन के लिये तथा पशुओं के लिये ये खड़ी फसल को चोरी से काटने का कार्य करते हैं। ये १० या १२ लोगों की टोली बनाकर अपराध करते हैं। एक टोली के कुछ सदस्य भीख मांगकर या नाच गाकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं जब कि अन्य सदस्य घरों के भीतर घुसकर सामने पड़ा हुआ जेवर, कपड़े या बरतन आदि अपने कपड़ों में छिपाकर ले जाते हैं। मुस्लिम नट कुछ धन एडवान्स में देकर गांव के लोगों से पशुओं की खरीदारी करते हैं व शेष धन बाद में देने का वादा कर लेते हैं। वे अन्यत्र जाकर उन पशुओं को बेच देते हैं व शेष धन उन व्यत्तियों को वापस नहीं करते हैं, जिनसे पशु खरीदा होता है। इसी प्रकार ये लोग इधर-उधर से अनाथ बच्चों को ले आते हैं तथा उन्हें पाल पोस कर कुछ समय अपने पास रखने के बाद अपने बच्चे बताकर कुचवन्दी तथा नटनजोगी के हाथ बेच देते हैं। ये लोग बहुत ही कठोर तथा निर्दयी होते हैं। पुलिस तथा ग्रामीण व्यक्तियों के साथ में हमेशा आक्रामक और क्रूर तरीके से पेश आते हैं। करवाल नट भी चोरी का सामान स्वयं न बेचकर अन्य व्यक्तियों के माध्यम से बिकवाते हैं। ये लोग उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, पश्चिमी बंगाल, तथा उड़ीसा आदि प्रान्तों में अपराध करते हैं।

सनौरिया

निवास स्थान

सनौरिया उ० प्र० के झांसी तथा मध्यप्रदेश के औरछा, दतिया तथा बिलासपुर, आदि क्षेत्रों में पाये जाते हैं।

अपराधी कार्य

ये लोग सामान्यतः मजदूरी का कार्य करते हैं, इनके बच्चे नदियों तथा तालाबों के किनारे बने स्नानघाटों से नहाने वाले व्यक्तियों के कपड़े उठा ले जाते हैं।

सनौरिया २ या ३ की संख्या में मिलकर स्नान घाटों से कपड़े तथा अन्य सामान चोरी करने का कार्य करते हैं। एक व्यक्ति जिसे चावा कहते हैं अपने को उच्च जाति का व्यक्ति बता कर उसी प्रकार का वेश धारण करता है तथा घाट पर आने वाले व्यक्तियों को शुद्ध व पवित्र होने के लिये घाट पर नहाने हेतु प्रेरित करता है। जब वह व्यक्ति नहाने लगता है तो चावा के अन्य साथी घाट के किनारे से उसके कपड़े तथा अन्य सामान लेकर गायब हो जाते हैं। यदि स्नान करने वाले व्यक्ति के सामान की रखवाली कोई स्त्री कर रही होती है तो चावा का एक साथी उस स्त्री के समीप ऐसी मुद्रा में विश्राम के बहाने बैठता है कि स्त्री को मजबूरन अपने सामान की ओर पीठ करके बैठना पड़ता है। इसी बीच चावा के दूसरे साथी सामान तथा कपड़े लेकर भाग जाते हैं। सनौरिया चलती हुई रेलगाड़ी से लोगों का सामान चोरी करते हैं। ये सबसे पहले मोम या ऐसे ही किसी चिपचिपे पदार्थ से सामान को सीट के नीचे चिपका देते हैं। तत्पश्चात जब सामान का मालिक चला जाता है या कोई अवसर मिलता है तो ये सामान लेकर भाग जाते हैं।

सिनोरिया के चोरी करने का ढंग बरवारा (Barwar) तथा भाम्पट (Bhampat) अपराधी जनजाति के समान हैं। सिनोरिया भी चोरी के सामान को अन्य व्यक्तियों के माध्यम से बेचते हैं। ये लोग उ० प्र०, म० प्र०, बिहार, पश्चिमी बंगाल के क्षेत्रों में अपराध करते हैं।

कबूतरा

निवास स्थान

कबूतरा उत्तर भारत में पाई जाने वाली एक ऐसी तथाकथित विमुक्त जनजाति है जिसके बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। इनके विषय में कोई साहित्य भी शायद कठिनाई से उपलब्ध है। झांसी जनपद के गजेटियर में कहीं भी इनका उल्लेख नहीं किया गया। १९६१ की जनगणना रिपोर्ट से भी इनका सही विवरण प्राप्त नहीं होता है। ये बहुत बड़ी संख्या में बुन्देलखण्ड क्षेत्र के झांसी जनपद में पाये जाते हैं। उत्तर भारत में झांसी जनपद के अतिरिक्त बरेली, तथा बदायूं जनपदों में भी इन्हें देखा जा सकता है।

कबूतरा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा इनका मूल निवास कौन सा है इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इनके शारीरिक लक्षण अपने पास के निवासियों से भिन्न है। इनका रंग बहुत गोरा होता है बहुत अधिक श्रम करने तथा धूप में रहने के कारण पुरुषों का रंग सांवला पड़ जाता है। नाक लंबी एवं नोकदार, आँख भूरी तथा कद लम्बा होता है। प्रजातीय लक्षणों को देखते हुए इन्हें जिप्सी मूल की जनजाति कहा जा सकता है। एक अन्य विचारधारा के अनुसार कबूतरा की उत्पत्ति उत्तर भारत की तरह एक बहुर्चाचित जनजाति नट से हुई है परन्तु इनसे व्यक्तिगत रूप से सम्बन्ध स्थापित करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नटों से इनका सम्बन्ध कभी नहीं रहा। कबूतरा की उत्पत्ति की एक तीसरी विचारधारा प्रस्तुत की जा सकती है। ये अपने नाम के साथ सिंह का प्रयोग करते हैं तथा अपने को क्षत्रिय राजपूत कहते हैं। इससे ऐसा लगता है कि इनका सम्बन्ध राजस्थान की किसी राजपूत क्षत्रिय जाति से है क्योंकि अनेक जनजातियों की उत्पत्ति इस प्रकार से हुई है। ये वह राजपूत भी हो सकते हैं जिन्होंने इस्लाम के भय से भ्रमणकारी जीवन आरम्भ किया हो तथा बाद में अपराध करना शुरू कर दिया हो। इनमें से कोई भी विचारधारा ठीक हो सकती है इस विषय में कोई भी निर्णय गम्भीर अध्ययन के बाद ही लिया जा सकता है।

कबूतरा कहीं भी स्थाई रूप से नहीं रहते इसलिये इनके निवास स्थान को डेरा कहते हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में झांसी जनपद के अतिरिक्त ये ललितपुर जनपद में भी पाये जाते हैं जो पहले झांसी जनपद के अन्तर्गत ही आता था।

अपराधी कार्य

कबूतरा एक विमुक्त जनजाति है। अपराध इनका प्रमुख पेशा है जिसे छोड़ना इनके लिये आसान नहीं है। इनके समुदाय में अपराध को केवल सामाजिक मान्यता ही नहीं अपितु धार्मिक मान्यता भी प्राप्त है। जो कबूतरा अपराध नहीं करता उसे अच्छा नहीं समझा जाता। ये सामान्यत: निम्न प्रकार के अपराध करते हैं।

१—कच्ची शराब बनाना व बेचना

लगभग प्रत्येक कबूतरा परिवार में देशी कच्ची शराव बनाने व बेचने का कार्य होता है, इस कार्य को स्त्रियां करती हैं स्त्रियां ही कच्ची शराब बनाती हैं (कभी-कभी इस कार्य में पुरुष उनकी सहायता करते हैं) और उसे शहर में आकर बेचती हैं। कभी किसी पुरुष को शराब बेचते नहीं देखा गया।

२—राहजनी

पैदल, साईकिल या स्कूटर पर सड़क के रास्ते जाते हुए व्यक्ति का धन तथा सामान छीन लेना इनका दूसरा प्रमुख व्यवसाय है। यहां पर सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि ये राहजनी के साथ साथ फौजदारी (मारपीट) भी करते हैं। यदि कोई व्यक्ति इनसे घबरा

कर अपने आप ही अपना सामान इन्हें देना चाहे तो ये नहीं लेते व "हम हराम का नहीं खाते मेहनत का खाते हैं" ऐसा कहते हुए ये पहले राहगीर को पीटते हैं फिर सामान छीन लेते हैं। ये राहजनी का कार्य अपने गांव से काफी दूर जाकर करते हैं।

३—सेंध लगाना तथा चोरी करना

ये घरों में सेंध लगाकर चोरी करने का कार्य समान्यतः बरसात के दिनों में करते हैं। बरसात में घरों की दीवारें पानी के कारण कमजोर पड़ जाती हैं। अतः सेंध लगाने में आसानी होती हैं। भारी वर्षा के समय आवाज भी कम होती है। इस कार्य में स्त्रियां भी कभी-२ इन्हें सहयोग देती हैं। इनकी चाल इतनी सधी होती है कि सोते हुए व्यक्ति के पास से सौ कबूतरे गुजर जायेंगे और उस घर वाले को किसी तरह की आहट नहीं होगी।

४—बाल कतरनी (बाल कटी करना)

जब खेतों में फसलें तैयार खड़ी होती हैं तब से खेतों में चोरी का कार्य करते हैं व खेत से पूरा पौधा कभी नहीं उखाड़ते बल्कि ऊपर का वह भाग जिसमें बालें होती हैं उसे हाथों से ही बड़ी सफाई से तोड़ लेते हैं। इस कार्य में ये इतने तेज होते हैं कि एक रात में ही दो बीघे खेत की बालें उतार लेते हैं। इस अपराध में स्त्रियां भी साथ होती हैं।

एक सहभागी अवलोकन के द्वारा अपराधी सम्बन्धी अन्य सूचनायें भी इनके विषय में प्राप्त हुई हैं।

अपराध के लिये ये वर्षाऋतु को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं। इस मौसम में ये अपने डेरों पर नहीं मिलते। गर्मियों के दिन इनके लिये बड़े दुखदाई होते हैं। क्योंकि लोग बाहर सोते हैं व जरा सी आवाज होने पर इनके पकड़े जाने का डर होता है।

बूढ़ा कबूतरा भी अपराधी कार्य ही करता है, शरीर के अशक्त होने के कारण वह चोरी, राहजनी, बाल कतरनी या अन्य अपराध करने के योग्य नहीं रह जाता तथा वह अपने गांव के पास ही मुर्गी, मुर्गे, बकरी, बकरे, की चोरी करता है। ये चोरी किये सामान को अन्य लोगों के माध्यम से बेचते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ

१ मेमोरिया, सी० बी० सोशल प्राबलम्स एण्ड सोशल डिसआर्गनाइजेशन, किताब महल, इलाहाबाद, १९६९।

२ मजूमदार, डी० एन० — रेसेस एण्ड कल्चर्स आफ इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९७३ ।

३ राव, एस० वी० — फैक्ट्स आफ क्राइम इन इंडिया, एलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, १९६७ ।

४ रघुवैया, वी० — ट्राइब्स आफ इंडिया, भारतीय आदिमजाति सेवक संघ, नई दिल्ली, १९७२ ।

५ फुक्र०, स्टीफेन — दि एबोरीजनल ट्राइब्स आफ इंडिया, मैकमिलन इंडिया, नई दिल्ली, १९७६ ।

६ मिश्र, यू० एस० तथा पी० के० तिवारी — भारतीय आदिवासी, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, १९७५ ।

७ शुक्ल, पी० आर० — अपराधी जनजाति कबूतरा नट, वेतवा वाणी, अंक प्रथम, बुन्देली परिषद्, झांसी, १९७८ ।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र की प्रमुख जनजातियां, अप्रकाशित शोध पत्र ।

विद्यार्थी स्तम्भ

ऐक्शन-सेट में प्रकार्य एवं अकार्य तत्व

विजय कुमार

इस शोध पत्र में ए० सी० मेयर (१९६६:१०२) द्वारा प्रतिपादित ऐक्शन-सेट की अवधारणा का आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। ऐसा माना गया है कि ऐक्शन-सेट के सभी सदस्य एक अस्थायी ध्येय जैसे किसी चुनाव को जीतने आदि को पूरा करने के लिए कार्य करते हैं। यह एक परिकल्पना की जा सकती है कि उन सदस्यों में से कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो ध्येय को पूरा करने के लिए 'अकार्य' होते हैं। 'अकार्य' का अर्थ है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उम्मीदवार के विरुद्ध कार्य करना। अतः ऐक्शन-सेट की अवधारणा से कुछ तथ्य प्रकाश में नहीं आ पाते हैं। इसलिए यह सभी सामाजिक वास्तविकताओं को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। मेयर का कथन है कि ऐक्शन-सेट एक एकत्र करने की शक्ति (कलेक्टिविटी) है जो एक मनुष्य या कभी-कभी एक छोटी "कोर" के द्वारा एक अस्थायी ध्येय जैसे चुनाव को जीतना आदि को पूरा करने के लिए शुरू की जाती है।

मेयर के अनुसार ऐक्शन-सेट की एक मान्यता यह है कि प्रत्याशी (ईगो) से जोड़ने (लिंकेज) के आधार बहुत हैं जैसे, खानदान, राजनैतिक दल, धार्मिक समूह आदि। दूसरी यह कि सामाजिक ताने-बाने का फैलाव कभी-कभी समूह के सदस्यों पर भी आधारित होता है परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता है। तीसरी मान्यता यह है (जैसा कि बार्नस ने प्रदर्शित किया है) कि ऐक्शन-सेट सामाजिक ताने-बाने के सदस्यों का जाल है, जो सदस्य 'ईगो' से सीधे सम्बन्धित हैं वे ही अपने सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा अन्य व्यक्तियों को ईगो में जोड़ने का कार्य करते हैं। चौथी मान्यता यह है कि ऐक्शन-सेट में सीमाओं से घिरा हुआ अस्तित्व नहीं पाया जाता है। जैसे भी हो यह एक समूह नहीं है। क्योंकि प्रत्येक जोड़ (लिंकेज) की सदस्यता के लिए विशेष आधार हैं, इसलिए सदस्यों के आपस के अधिकार एवं आभार इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। यहाँ तक कि अपने प्रत्याशी (ईगो) को मत देना भी सदस्यों को एक दूसरे से नहीं जोड़ता।

विजय कुमार, शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, उच्च शिक्षा संस्थान, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ।

अन्त में, ऐक्शन-सेट की एक पांचवीं मान्यता यह है कि समूह की तरह यह एक अस्थायी अस्तित्व नहीं रखता है। इसमें जोड़ने के विभिन्न आधारों के द्वारा सामाजिक सम्बन्धों के जाल को फैलाया जाता है (मेयर, १५६६:१०८-११०)।

मेरा सुझाव है कि ऐक्शन-सेट की चौथी मान्यता ग्राम पंचायत के चुनाव में सही नहीं उतरती है। यह चुनाव की स्थिति पर निर्भर करता है, क्योंकि गाँव में प्राथमिक सम्बन्ध ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं। अतः ऐक्शन सेटों के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध व आभार विभिन्न सदस्यताओं को प्रभावित कर सकते हैं।

शोध कर्त्ता की परिभाषा में 'अस्थायी' शब्द से भी आपत्ति है। मेरा सुझाव है कि 'अस्थायी' शब्द के स्थान पर 'विशेष' को रखा जाये। क्योंकि जो ऐक्शन सेट देवास नगर पालिका के चुनाव में बने उनमें स्पष्ट था कि जो सदस्य ऐक्शन सेट में भर्ती किये जा रहे हैं वे सब एक विशेष ध्येय के लिए हैं (वहीं पर : १०९)।

जब ऐक्शन सेट एक छोटे कोर (यहाँ कोर का अर्थ है एक से ज्यादा आदमी) के द्वारा शुरू किया जाता है तो ऐक्शन सेट की ईगो सेन्ट्रीक विशेषता में ह्रास होगा। मेरा ऐसा विचार है कि यह एक बिल्कुल प्रयोग सिद्ध प्रश्न है, परन्तु फिर भी ऐक्शन सेट में ईगो सैन्ट्रीसिज्म अवश्य पायी जायेगी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि ऐक्शन सेट में ऐसे व्यक्तियों के होने की भी सम्भावना है जो ईगो के अहित में कार्य करते हैं। ऐसी सामाजिक स्थिति को उजागर करने के लिए लेखक इस अध्ययन में सब–ऐक्शन–सेट की अवधारणा का प्रयोग करना चाहता है।

सब-ऐक्शन-सेट की अवधारणा

मेरी परिकल्पना यह है कि ऐक्शन सेट के सभी सदस्य एक विशेष ध्येय को प्राप्त करने में या एक चुनाव को जीतने में प्रकार्य नहीं करते बल्कि उनमें से कुछ सदस्य ऐसे भी हो सकते हैं जो प्रत्याशी (ईगो) के लिए अकार्य करते हैं, जिसे वह असफलता की ओर ले जाते हैं। ईगो इन अकार्यों के प्रति जागरूक भी हो सकता है और नहीं भी। अतः ऐक्शन-सेट कुछ सामाजिक वास्तविकताओं को प्रदर्शित करने में असमर्थ हो जाता है अर्थात् ऐक्शन-सेट में ही कुछ सदस्य ऐसे आ जाते हैं जो ईगो के ध्येय के विरुद्ध कार्य करते हैं। अतः यह प्रश्न उठता है कि ऐक्शन-सेट के ऐसे सदस्यों को कहाँ रखा जाये ? शोध कर्त्ता का यह सुझाव है कि ऐसे सदस्य या सदस्यों का समूह ऐक्शन सेट के अन्दर ही अलग से सब-ऐक्शन-सेट के रूप में देखा जा सकता है। अर्थात ऐक्शन-सेट में ही सब-ऐक्शन-सेट का निर्माण होगा। अतः यह एक शोध का विषय है कि प्रयोग सिद्ध स्थिति में देखा जाये कि सब-ऐक्शन-सेट की रचना होगी या नहीं। अतः यह आशा की जाती है कि ऐक्शन सेट की अवधारणा को समझने में सब-ऐक्शन-सेट काफी यथार्थ और प्रभावशाली सिद्ध होगा। सब-ऐक्शन-सेट की अवधारणा को विभिन्न प्रकार के चुनावों जैसे पंचायत, विकास खण्ड प्रमुख, नगरपालिका, विधान सभा व लोक सभा आदि में

देखा जा सकता है। यहाँ पर इस परिकल्पना की सिद्धता के लिए धरोटा (काल्पनिक नाम) ग्राम पंचायत के १९८२ के चुनाव में देखने का प्रयास किया जाएगा कि सब-ऐक्शन-सेट की रचना होती है या नहीं।

ग्राम धरोटा उत्तर प्रदेश के जनपद गाजियाबाद के रजापुर ब्लॉक में है। यह राष्ट्रीय राज्य मार्ग गाजियाबाद-मेरठ पर स्थित है। १९ मार्च १९८२ को नामांकन का दिन था। प्रत्याशी अपने-अपने समर्थकों के साथ विकास-खण्ड कार्यालय में नामांकन-पत्र भरने गये। आंकड़े एकत्रित करने का कार्य नामांकन दिन से लेकर चुनाव के दिन (१०-४-८२) तक किया गया। इस प्रकार मैं २३ दिन तक गांव में रहा। इस अध्ययन के लिए साक्षात्कार और अवलोकन तकनीकियों का प्रयोग किया गया। साक्षात्कार में उत्तरदाता को तब तक बोलने दिया गया जब तक वह पूर्णरूप से अवगत न करा दें। साक्षात्कार के द्वारा ही अधिक सूचनायें एकत्रित की गयीं। सभी जातियों से १५० पुरुष उत्तरदाताओं को, जो परिवारों के मुखिया भी थे, साक्षात्कार के लिए चुना गया।

गाँव की संरचना

गाँव की कुल मत संख्या २८०४ है। धरोटा एक बहुजातीय गाँव है। इसमें १९ जातियां रहती हैं जिन्हें संस्कार श्रेणी बद्धता के आधार पर तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है। कोष्ठ में जाति के कुल मतों को प्रदर्शित किया गया है।

१— उच्च जातियाँ : ब्राह्मण (१७९), त्यागी (१०७८), बनिया (६५), गूजर (१९८)।

२— मध्यम जातियाँ : सुनार (१२), खाती बढ़ई (११), नाई (६१), धींवर (३३), लुहार (६), धुना (४३), जुलाहा (२७), कुम्हार (४८), बढ़ई (३६), दर्जी (२०), तेली (५७), धोबी (८३), फकीर (४६)।

३— निम्न जातियाँ : चमार (७१२) तथा भंगी (८९)।

गांव में दो धार्मिक समूह हिन्दू और मुसलमान रहते हैं। पाँच जातियाँ बढ़ई, दर्जी, तेली, धोबी, फ़क़ीर मुसलमान हैं तथा शेष हिन्दू जातियाँ हैं।

गाँव का मुख्य आर्थिक स्रोत जमीन है। गाँव की पूरी खेती की जमीन पांच जातियों (ब्राह्मण, त्यागी, गूजर, चमार तथा धोबी) में विभाजित है। जमीन का ज्यादातर भाग अर्थात १४२७.६ (८५.३१%) एकड़ त्यागी जाति के पास है, गूजर ९८ (५.८६%) एकड़, ब्राह्मण ९०.२ एकड़, मुस्लिम १९.२ एकड़ तथा चमार ३८.४ एकड़ के भागीदार हैं।

चुनाव की रूपरेखा

छ: प्रत्याशी चुनाव में खड़े हुए जिनके नाम, जाति, ऐक्शन-सेट व सब-ऐक्शन-सेट के सदस्यों की संख्या निम्न तालिका में प्रर्दशित की गई है।

तालिका नं० १

ऐक्शन-सेट व सब-एक्शन-सेट के सदस्यों की संख्या

क्र०सं०	प्रत्याशी का नाम	जाति	ऐक्शन-सेट के सदस्य	सब-ऐक्शन-सेट के सदस्य
१—	केदार	त्यागी	२५	५
२—	ओम दत्त	त्यागी	१४	४
३—	भगवान	त्यागी	७	२
४—	शंकर	त्यागी	५	०
५—	सुरेन्द्र	बनिया	६	०
६—	बहादुर	चमार	१७	०

तालिका नं० २

ऐक्शन-सेट के सदस्यों को जोड़ने (लिंकेज) के आधार

क्र०सं०	जोड़ने (लिंकेज) के आधार	ऐक्शन सेटों के सदस्यों की आवृत्ति
१—	खानदान	२७
२—	आकस्मिक सहायता	२३
३—	मित्रता	१७
४—	राजनैतिक लेन-देन	२
५—	दुश्मन को हराने की इच्छा	५

इस अध्ययन में ऐक्शन-सेटों के सदस्य बनने के ५ आधार पाये गये। सदस्यता का मुख्य आधार खानदान था तथा राजनैतिक लेन-देन का आधार सबसे कम पाया गया।

उन घटनाओं का वर्णन जो चुनाव के समय घटीं तथा जिन्होंने सब-ऐक्शन-सेट की अवधारणा की पुष्टि की, निम्नलिखित हैं

मार्च २६, १९८२

भगवान ने सुबह के समय अपने घर पर अपने सभी खानदानियों को नाश्ते पर आमंत्रित किया। २५ व्यक्तियों ने इस खानदानी सभा में भाग लिया। एक सदस्य ने खड़े होकर कहा कि

भाइयों हम सबको मिलकर रहना चाहिये तथा अब समय आ गया है कि हम सबको भगवान के लिये मत देने चाहिये तथा इसके लिये कार्य करना चाहिये । इस सभा को विसर्जित करने के लिए उसके ही ऐक्शन-सेट के एक अन्य सदस्य ने यह अफवाह फ़ैलाई कि हमारे खानदान के एक जवान लड़के की दुर्घटना से मृत्यु हो गई है । यह सुनकर सबको दुःख हुआ तथा सभा एकदम विसर्जित हो गयी । लोग घटना स्थल को भागने लगे । यह सब-ऐक्शन-सेट का एक ज्वलन्त उदाहरण है ।

अप्रैल ३, १९८२

केदार के ऐक्शन-सेट का एक सदस्य भगवान के सदस्य (जयराम) के पास अपने उम्मीदवार के लिए मत मांगने गया । उसने मत देने के लिये वायदा किया क्योंकि वह जयराम के किसी मुकदमे में गवाही दे चुका था । अतः यह आपसी आभार का उदाहरण है तथा इस समय वह इस आभार से उऋण होना चाहता था । इस तरह परस्पर आभार जो विभिन्न ऐक्शन-सेटों के सदस्यों के बीच पाया जाता है, सब–ऐक्शन–सेट बनाने में काफी सहायक सिद्ध हुआ ।

केदार के ऐक्शन-सेट का एक सदस्य प्रत्येक गुप्त बात का पता राजेन्द्र, भूतपूर्व उपप्रधान को बताता था क्योंकि उसने ग्राम पंचायत की दो एकड़ जमीन का पट्टा अपने नाम करा रखा था जिसका सिवाय राजेन्द्र के किसी को भी पता नहीं था तथा इस परिणाम को वह जानता था कि अगर केदार प्रधान चुना गया तो तेरा पट्टा रद्द करा देगा । अतः यह प्रधान नहीं चुना जाना चाहिये । यह भी सब-ऐक्शन-सेट का एक उदाहरण है ।

अप्रैल ५, १९८२

ओमदत्त के ऐक्शन-सेट के चार सदस्यों ने यह निर्णय लिया कि हमको बहादुर का समर्थन करना चाहिये क्योंकि केदार के सामने ओमदत्त की स्थिति अच्छी नहीं है । हमारा ध्येय केदार को हराना है, अतः यह ठीक समय है कि हमें बहादुर का समर्थन करना चाहिये । उस दिन से उन्होंने बहादुर के लिये छुप कर कार्य किया तथा ओमदत्त को इस बात का पता तक भी नहीं चला कि मेरे सदस्य किसी और के लिये छुपकर कार्य कर रहे हैं । यह घटना सब-ऐक्शन-सेट अवधारणा का साक्षी है कि चार सदस्य अपने ही प्रत्याशी के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं, जबकि प्रत्याशी स्वयं उनके बारे में जागरूक नहीं है ।

अप्रैल ८, १९८२

गजराज, भूतपूर्व प्रधान, ने केदार के ऐक्शन-सेट के एक सदस्य के पैरों में टोपी रखकर इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह केदार के विरुद्ध काम करेगा तथा उसको मालूम भी नहीं होना चाहिये । इस सदस्य ने केदार के अन्य तीन सदस्यों को भी अपने साथ मिला लिया तथा उनके विरुद्ध कार्य किया । इस तरह चार सदस्यों ने अपने उम्मीदवार को धोखा दिया जिससे सिद्ध होता है कि ऐक्शन-सेट में ही सब-ऐक्शन-सेट कार्य करता है ।

निर्णय

घटनाओं से विदित होता है कि ऐक्शन-सेट में ही सब-ऐक्शन-सेट का निर्माण होता है। इस अध्ययन में ६ प्रत्याशियों के ऐक्शन-सेटों में से तीन में ही सब-ऐक्शन-सेट पाये गये। गाँव में प्राथमिक सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण ऐक्शन-सेटों की सदस्यता पर काफी प्रभाव पड़ता है।

नोट—शोध पत्र में गांव व प्रत्याशियों के नाम काल्पनिक हैं।

सन्दर्भ

१– मेयर, ए० सी० १९६६ 'दी सिगनिफिकेन्स ऑफ क्वासाई ग्रुप्स इन दी स्टडी ऑफ कामप्लैक्स सोसाईटीज' माइकल बेन्टन द्वारा सम्पादित, **दी सोशल एन्थ्रोपोलोजी ऑफ काम्पलेक्स सोसाईटीज** लन्दन, टॉविस्टोक पब्लिकेशन्स, पृष्ठ ९७–१२२।

२- होमस्ट्रोम, मार्क १९६९ "ऐक्शन-सेट्स एण्ड आईडिओलोजी : ए म्यूनिस्पिल इलैक्शन इन साउथ इण्डिया", **कन्ट्रीब्यूशन्स टु इण्डियन सोशियोलोजी** (न्यू सिरीज), नं० ३ (दिसम्बर), पृष्ठ ७६–९३।

पुस्तक समीक्षा

आदिवासी जीवन, लेखक डा० अर्जुनदास केसरी, प्रकाशक, लोक-रुचि प्रकाशन, राबर्ट्सगंज, मिर्जापुर, पृष्ठ १२८, मूल्य रु० ३५.

समीक्षक : **रघुराज गुप्त**

भारत की जनसंख्या का ७ प्रतिशत भाग आदिवासी जनजातियों के सदस्यों से मिलकर बना है। वैसे तो संख्यात्मक दृष्टि से आदिवासियों की आबादी बहुत कम लगती है, पर सांस्कृतिक दृष्टि से इसका असाधारण महत्व है। वास्तविकता में वन-अरण्य में रहने वाले ये लोग भी भारतीय संस्कृति के मूल संस्थापक हैं और बहुसंख्यक तथाकथित हिन्दू संस्कृति और सभ्यता में धर्म, कला, शिल्प जो कुछ भी है, उसमें इनका बहुत बड़ा योगदान है। इन सांस्कृतिक पुरखाओं का अध्ययन अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक और प्रेरणादायक है। विशेषकर इसलिये भी कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होते हुए भी इनका सामाजिक और नैतिक जीवन सभ्य कहलाने वाले समृद्ध और सबल लोगों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। इनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में तनाव, घृणा और शोषण का सर्वथा अभाव है। इनके जीवन में आलस्य और निठल्लेपन को स्थान नहीं है। सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध जी-तोड़ मेहनत करते हैं और फिर रूखा-सूखा खाकर भी संतुष्ट रहते हैं। यही नहीं, इनका क्रीड़ा और सौन्दर्य प्रेम भी अद्वितीय है। शाम को थके मांदे ये लोग गाकर, नाचकर अपने सब दुखों को भुला देते हैं और मौज़-मस्ती से अपना जीवन बिताते हैं। आधुनिक सभ्यता के प्रसार, जंगलों की कटान और उद्योगों के विस्तार ने इन सीधे, सरल लोगों को विस्थापित कर उन्हें पारम्परिक जीविका-उपार्जन के साधनों से वंचित कर दिया है। लोभी व्यापारियों, जमींदारों और ठेकेदारों ने उनमें से बहुतों को बंधुआ मजदूर बना दिया है, और इस प्रकार उनकी सुख-शांति में व्यवधान उत्पन्न किया है। किंतु कोई भी सहृदय भारतवासी, विशेषकर मानवशास्त्री आदिवासियों के महत्व और गौरव को अस्वीकार नहीं कर सकता।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डा० केसरी प्रशिक्षित मानवशास्त्री न होते हुए भी आदिवासी जीवन और संस्कृति के सहृदय अध्येता हैं। उत्तर प्रदेश का जिला मिर्जापुर जहाँ अनेक आदिवासी जनजातियों का अच्छा जमाव है, उनकी कार्य-स्थली है। इसलिये यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उन्हें अपने क्षेत्र के आदिवासियों के जीवन और संस्कृति का प्रत्यक्ष परिचय पाने की सुविधा है। इनके मन में आदिवासी संस्कृति के लिए अत्यंत प्रेम है, जो उनकी इस पुस्तक में सर्वत्र छलकता है।

इस पुस्तक में आदिवासियों के आर्थिक कार्यकलाप, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, मेलों, टोना-टोटका, नृत्य-संगीत, शिकार की संक्षिप्त झलकियां दी गई हैं। ये विवरण मुख्यतः मिर्जापुर और तराई क्षेत्र की प्रमुख जातियों तक सीमित हैं।

इसमें शक नहीं कि लेखक को आदिवासियों से आंतरिक अनुराग है और वह उन्हें आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न देखना चाहते हैं, सुखी और शिक्षित। एक विद्यालय के प्रधानाचार्य होने के नाते उन्हें स्कूली शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण लगती है और वे कदाचित समझते हैं कि आदिवासियों की मुक्ति का यह मुख्य मार्ग है। मुझे इस आशावादिता पर संदेह होता है कि कहां तक प्रचलित शिक्षा प्रणाली आदिवासी बच्चों के लिए कल्याणकारी होगी। बहुत सम्भव है कि प्रचलित शिक्षा उन्हें आदिवासी जीवन की सामाजिकता और सौंदर्य बोध से ही काट दे।

लेखक की सदाशयता असंदिग्ध है, किंतु ऐसा लगता है कि उसमें विभिन्न कबीलों पर हुए अनेकानेक उत्तम, पुराने और नये शोध ग्रंथों और विवरणों का इस्तेमाल नहीं किया है। उनका मुख्य आधार मिर्जापुर गजेटियर और आदिवासियों से छिटपुट साक्षात्कार है। आदिवासी जीवन के गम्भीरता से अध्ययन और विश्लेषण के लिये यह पर्याप्त नहीं है। फिर भी डा० केसरी की पुस्तक आदिवासी जीवन और संस्कृति के प्रति किसी भी सामान्य पाठक को आकृष्ट करेगी। उनका यह प्रयास सराहनीय है।

डा० केसरी ने कई जगह कुछ विचित्र, व्यक्तिगत सी पूर्वाग्रह पूर्ण उपदेशात्मक टिप्पणियां की हैं। जैसे पृष्ठ २, 'धन से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है।' उन्होंने संस्कार-गीत छह प्रकार के बताए हैं: उनमें से एक यज्ञोपवीत भी है। मैं नहीं जानता कि ऐसी कौन सी जनजाति है, जिनमें जनेऊ धारण की पुरानी परम्परा हो। हो सकता है उनमें से हाल में कोई आर्यसमाजी बनकर जनेऊ धारण कर रहा हो। हां उनमें यौवन में दीक्षा (इनीशियेसन) प्रचुर है। इसी तरह पृष्ठ ४८ पर उनका यह वक्तव्य "धर्म में संशोधन की प्रक्रिया आदिवासी धर्म पर कभी लागू नहीं हुई", सही नहीं लगता। यह बात दीगर है कि उसमें संशोधन की प्रक्रिया की दर और दिशायें भिन्न हैं।

समग्र रूप से 'आदिवासी जीवन' हिंदी की एक अच्छी कृति है, जिसे पुस्तकालयों में स्थान मिलना चाहिये। इस छोटी सी किताब, जिसकी छपाई व जिल्द काफी हल्की है, का रु० ३५/– दाम ज्यादा ही है, जिसके कारण इसे सामान्य पाठक न खरीद सकेगा। इस प्रकार की पुस्तकों का आकर्षक उत्पादन भी अपेक्षित है।